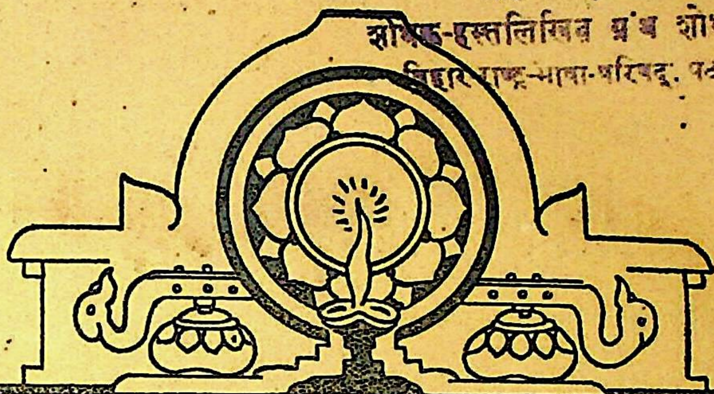




साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का

वार्षिक ७)] सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र [एक प्रति २)

वर्ष ३	आषाढ़, संवत् २००९ : जुलाई, १९५२ ई०	अंक २

सं०—शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सम्मेलन के सभापतियों के भाषणों की आवश्यकता

पाँच सभापतियों के भाषण छप रहे हैं—

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शुरू से आज तक जितने अधिवेशन हुए हैं, उनके सभापतियों के भाषणों का संग्रह प्रकाशित करने के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से तीन हजार रुपये मिले हैं। शुरू के पाँच भाषण पुस्तक के रूप में छप चुके थे। उन भाषणों के नवीन संस्करण इस समय छपवाये जा रहे हैं।

भाषणों की प्रतियाँ शीघ्र भेजिए—

छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण नहीं मिल रहे हैं। यदि हिन्दी-प्रेमी सज्जनों के पास किसी भाषण की मुद्रित प्रतिलिपि या कतरन हो तो वे निःसंकोच भेजने की कृपा करें। उनका नाम भाषण-संग्रह में सादर प्रकाशित कर दिया जायगा।

छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण

	नाम	वर्ष	स्थान
६	राजाबहादुर कीर्त्यानन्द सिंह :	१९२४	मुजफ्फ़रपुर
७	देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद :	१९२५	लहेरियासराय
८	आचार्य बदरीनाथ वर्मा :	१९२७	गया
९	रायबहादुर रामरणविजय सिंह :	१९२९	मुंगेर
१०	स्वामी भवानीदयाल संन्यासी :	१९३१	वैद्यनाथ धाम
११	डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल :	१९३३	भागलपुर
१२	पं० जनार्द्दन प्रसाद झा 'द्विज' :	१९३५	छपरा
१३	श्री यशोदानन्दन अखौरी :	१९३६	पूर्णिया
१४	श्री व्रजनन्दन सहाय :	१८३६	बेगूसराय
१५	श्री पीर मुहम्मद मूनिस :	१९३७	आरा
१६	महापंडित राहुल सांकृत्यायन :	१८३८	राँची
१७	अचार्य शिवपूजन सहाय :	१९४१	पटना
१८	श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह :	१९४२	मोतीहारी
१९	श्री रामधारी प्रसाद :	१९४५	मन्दार (बाँसी)
२०	प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र :	१९४८	मुजफ्फरपुर

व्रजशंकर वर्मा
मंत्री,
सम्मेलन-भवन, पटना—३

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष ३	आषाढ़, संवत् २००९ : जुलाई, १९५२ ई०	अंक २

सम्पादकीय

"क्या साहित्य में गत्यवरोध है ?"

इन्दौर (मध्यभारत) से श्री रामेश्वर शर्मा ने उपर्युक्त शीर्षक का एक लेख हमारे पास 'साहित्य' में प्रकाशनार्थ भेजा है। उनका पता है—५१, कृष्णपुरा, मेन रोड। उस लेख को हम अपनी इस संक्षिप्त टिप्पणी के नीचे अविकल रूप में उद्धृत कर रहे हैं। उनका अनुरोध है कि हम उनके निम्नोद्धृत लेख पर अपनी सम्मति प्रकाशित करें। यद्यपि उनके लेख की सभी बातों से हमारा सहमत होना संभव नहीं है तथापि उनके अनुरोध का पालन करना, साहित्य की हितकामना से, हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

साहित्य में गत्यवरोध का प्रश्न बहुत विवादास्पद है। उसके सम्बन्ध में मतभेद होना स्वाभाविक है। अपने-अपने दृष्टिकोण से सबको साहित्य का मूल्यांकन करने का अधिकार है। वर्त्तमान समय में साहित्य की गति वस्तुतः अवरुद्ध हो गई है अथवा वह प्रगतिशील है, इस पर सहसा कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर हमारे विद्वान् समालोचक जो कुछ भी अभिमत प्रकाशित करते हैं उस पर चौंकने की भी जरूरत नहीं है। नये लेखकों की साहित्य-सेवा पर यदि कोई अधिकारी समीक्षक अपना मत प्रकाशित करता है तो उससे नये लेखकों को यह कदापि न समझना चाहिए कि समीक्षक ने द्वेष की प्रेरणा से अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। न तो प्रतिष्ठित साहित्यकारों की सभी रचनाएँ हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाली होती हैं और न सभी होनहार लेखकों की रचनाएँ सदोष अथवा प्रोत्साहन के योग्य। अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रतिभाशक्ति के अनुसार सबको मातृभाषा के साहित्य की सेवा करने का अधिकार है।

व्यक्तिगत रूप से हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि हमारे हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम रुका हुआ है। और, न हम यही मानना पसन्द करते हैं कि राष्ट्र-भाषा के साहित्य का विकास जिस गति से होना चाहिए उस गति से संतोषप्रद विकास हो रहा है। साहित्य का विकास देश और समाज की परिस्थितियों पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। हम समझते हैं कि राष्ट्रभाषा के साहित्य की गति तब तक तीव्रतर नहीं हो सकती जब तक परिस्थितियाँ अनुकूल न होंगी। जिसमें साहित्य-सेवा करने का अनुराग है और जिसमें वास्तविक साहित्य-निर्माण की सच्ची लगन है वह अपनी आन्तरिक निष्ठा के साथ अपना काम करता चला जाता है; वह सपने में भी यह नहीं सोचता-समझता कि दुनिया क्या कह रही है? आत्मनिरीक्षण किये विना लोकमत के पीछे परेशान होना विशुद्ध साहित्य-सेवी का लक्षण नहीं है। यदि कोई यह समझता है कि हम अपनी रचनाओं से सचमुच हिन्दी-साहित्य को अलंकृत और गौरवान्वित-कर रहे हैं तो उसको सुधी समीक्षकों की आलोचना से अधीर न होना चाहिए। साथ ही, जिन प्रतिकूल परिस्थिति में हमारे उदीयमान साहित्यकार उत्साह के साथ साहित्यक्षेत्र में काम कर रहे हैं, उन परिस्थितियों का पर्यवेक्षण किये विना नये साहित्यिकों को कोसना समीक्षकों के लिए भी सुशोभन नहीं है। किंतु, यहाँ यह कठोर सत्य भी कह देना आवश्यक है कि हमारे साहित्य में जो स्वेच्छाचार का प्रसार देखने में आता है उसको रोकने के लिए साहित्य-हितैषी आलोचकों को अपना उचित विचार प्रकट करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। अगर कोई यश और द्रव्य के लोभ से अथवा नये मार्ग का प्रवर्त्तक बनने की आकांक्षा से अनिष्टकर अथवा अरुचिकर साहित्य की सृष्टि करता है तो साहित्य को पथ-भ्रष्ट अथवा दिशा-भ्रष्ट होने से बचाने वाले समर्थ आलोचकों का कर्त्तव्य है कि वे सद्भाव के साथ विपथ लोगों को सुपथ पर लाने की चेष्टा करें। अब इससे अधिक यहाँ कुछ लिखना अभीष्ट नहीं है।

श्री रामेश्वर शर्मा जी का लेख इस प्रकार है—

"हिन्दी में साहित्य-संकट का नारा बहुत जोरों से लगाया जा रहा है। कुछ दिन पूर्व पं० उदयशंकर भट्ट ने 'नया समाज' पत्र में 'साहित्य में गत्यवरोध' शीर्षक एक लेख लिखा था; उन्हीं दिनों 'साहित्य-संदेश' के यशस्वी सम्पादक तथा आलोचक बाबू गुलाब राय जी ने 'साहित्य-संदेश' में इसी बातको दुहराया था। वात्सायन 'अज्ञेय' की निराशा का उल्लेख करना तो इसलिए व्यर्थ है कि वे आधुनिक साहित्य के बड़े-से-बड़े लेखक में द्वैहार्द की भावना खोजकर उसे जीनियस से कम सिद्ध कर सकते हैं। उन्हें सिवा अपने कोई जीनियस दिख सकता है, इसका विश्वास कम है। हिन्दी कविता के संक्रमण का यह जिक्र 'भारतज्योति' (अँगरेजी साप्ताहिक) में भी किया गया। जिसमें नये निराला की माँग की गई।

सभी लेखकों का आशय यह है कि वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य की गति अवरुद्ध हो गई है, उसका विकास रुक गया है। लेखकों ने इसी तथ्य को भिन्न-भिन्न ढंग से कहा है। पं० भट्ट कहते हैं कि साहित्य में कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ ही जाया करती

है। वात्सायन 'अज्ञेय' कहते हैं कि नई पीढ़ी-प्रतिभाहीन है। बाबूजी को आश्चर्य है कि १५ अगस्त १९४७ के बाद जो महाक्रान्ति हुई उसकी चमक साहित्य में क्यों दिखाई नहीं पड़ी। एक साथी को रसातल में जाती हुई हिन्दी कविता के लिए निराला की जरूरत है।

फिर, क्या सचमुच साहित्य में ऐसे अवसर आ ही जाया करते हैं? क्या नई पीढ़ी प्रतिभाहीन है? क्या हिन्दी कविता रसातल की ओर जा रही है? और, क्या १५ अगस्त की महाक्रान्ति का हिन्दी कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा?

इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए हमें आधुनिक साहित्य का गुरुत्व के साथ अध्ययन, मनन और चिन्तन करना होगा। उसकी समग्र चेतना के मूल्यांकन के लिए उसके अन्तर्विरोधी और प्रवृत्तिगत वैचित्र्य को समझना होगा। पर इसके लिए आलोचकों और विचारकों को अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होना आवश्यक है, तभी सत्य के निकट पहुँचा जा सकेगा।

साहित्य की गति अवरुद्ध होने से क्या आशय है? गत्यवरोध का क्या अर्थ हैं? क्या साहित्य का लिखा जाना कम हो गया? पर यह प्रश्न संगति नहीं रखता। यही कहा जा सकता है कि साहित्य में गत्यवरोध से इन लेखकों का आशय यही है कि साहित्य का स्तर घट गया है, साहित्य की कला का विकास नहीं हो रहा है।

अस्तु, हमें इसी प्रश्न पर विचार करना है कि वर्तमान काल में साहित्य की कला में विकास हो रहा है या नहीं? इस प्रश्न को हम किसी बड़े साहित्यिक व्यक्तित्व के साथ बाँधकर नहीं देख सकते क्योंकि यह अत्यन्त निम्न कोटि की सामन्ती या कहिए मध्ययुगीन मनोवृत्ति है कि कोई साहित्य महान् इसलिए है कि उसका कोई एक लेखक अपेक्षाकृत बहुत बड़ा व्यक्तित्व लिये हो। विराट् व्यक्तित्व साहित्य के लिए गरिमा और महत्ता की वस्तु है पर उसके अभाव में कला या साहित्य विकसित नहीं हो रहा है। काव्य की शब्दावली में कहूँ तो कहना होगा कि 'वटपूजा' का युग गया। जब हमारा सारा साहित्य बरगद की तरह फैले किसी एक ही लेखक के व्यक्तित्व के आसपास घूमा करता था। और, जिस की छाया के नीचे दूसरे पौधे पनप नहीं पाते थे। आज हमारे साहित्य में बड़े वटवृक्ष नहीं हैं, यह सही है। और, इसीलए वे आलोचक जो बरगद के अँधेरे में उसकी लटकती हुई जटाओं पर पैर उलटे कर लटक जाते थे—अब निस्सहाय और आश्रय-हीन अवस्था में भटक रहे हैं और चिल्ल-पों मचा रहे हैं। यह व्यक्तिपरक दृष्टिकोण पूर्णतया अवैज्ञानिक है। इस प्रकार के लोग कहते हैं कि वर्त्तमान उपन्यास-साहित्य इसीलिए अनुन्नत है कि उसमें प्रेमचन्द की तुलना का कोई लेखक नहीं है। आलोचना का स्तर इसीलिए नीचा है कि उसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसी प्रतिभाएँ नहीं हैं। इस प्रकार का चिन्तन अपनी यान्त्रिकता के कारण सत्य से बहुत दूर है। साहित्य के उन्नत और अनुन्नत होने का प्रश्न किसी एक व्यक्ति के साथ बाँध कर नहीं आँका जा सकता।

आज साहित्य खण्ड रूप में आगे बढ़ रहा है। संश्लेषण की चेतना अभी उसमें प्रस्तुत नहीं हुई है—क्योंकि वह संश्लेषण की पुरानी थीसिस का विरोध करके ही आगे आया है। श्रम-विभाजन की क्रिया उसमें लागू हो गई है और लेखक विशेषीकरण की ओर उन्मुख हो रहे हैं। उपन्यास के स्वरूप को ही लीजिए। वृन्दावनलाल वर्मा उसके एक स्वरूप को लेकर आगे बढ़े हैं। आज की स्थिति में उन्हें उपन्यास के क्षेत्र में महान् क्रान्ति-द्रष्टा नहीं कहा जा सकता। पर, उसके साथ ही एक महत्वपूर्ण तथ्य है। प्रेमचन्द का साहित्य परिभाषात्मक रूप से विकसित होकर गुणात्मक रूप में परिवर्तित होने वाली राष्ट्रीय चेतना की उद्भूति था। वही जनता का संघर्ष अभी हमारे समाज में परिमाणात्मक परिवर्तनों की दौड़ से ही गुजर रहा है, अतः सामाजिक चेतना के गुणातमक रूप की साहित्य में आशा करना व्यर्थ है।

रहा साहित्य की कला का प्रश्न। क्या प्रसाद, आ० शुक्ल और प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-साहित्य का कलागत विकास नहीं हुआ? मेरा ख्याल है कोई भी समझदार व्यक्ति इससे सहमत नहीं होगा।

साहित्य का कलेवर तेजी से बदल रहा है। उपन्यासों की कला प्रेमचन्द से आगे बढ़ी है। न केवल पात्रों के चरित्र के अन्तर्बाह्य गठन में, उसकी नाटकीय व्यंजना में, मनोवैज्ञानिक सफाई में, यथार्थ के गत्यात्मक चित्रण में, राजनैतिक तथा सामाजिक चेतना के विकास में, टेकनिक के नूतनतम प्रयोगों में, वरन् सर्वांगीण रूप से उसका विकास हुआ है। और, इसी प्रकार साहित्य के अन्य अंगों का भी। आलोचना जैसे शुष्क विषय में भी टेकनिक के नये सफल प्रयोग हुए हैं। वार्तालाप के ढंग पर आलोचनाएँ लिखकर डॉ० हजारी प्रसाद जी तथा नगेन्द्र जी ने उसकी कला को आगे बढ़ाया है, भाषा का चलतापन तथा व्यंग्य की कला देकर डॉ० रामविलास ने उसकी अभिवृद्धि की है।

जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है—छायावाद के बाद हिन्दी कविता टेकनिक की दृष्टि से अनेकों विभागों में बँट गई है। छायावाद अनेक बारीक शैलियों से बुना हुआ एक सूत था। ये महीन और बारीक शैलियाँ अब पृथक् रूप से विकसित हो रही हैं। प्रगतिवाद इन टेकनिकों को लेकर आगे बढ़ा है। अतः प्रगतिवाद की आलोचना करते समय उसकी किसी एक टेकनिक को देखकर कुछ तो भी फतवा देना कोई तात्विक अर्थ नहीं रखता। प्रगतिवाद की व्यापक भूमि पर ही नागार्जुन, केदार, अंचल, नरेश मेहता, गिरिजा कुमार, भवानी मिश्र, शमशेर तथा त्रिलोचन की शैलीगत भिन्नता इसकी साक्षी है।

अब रहा साहित्य की गति का प्रश्न। उस गति का, जो इन छोटे-मोटे परिवर्तनों के बावजूद भी एक नया रास्ता बना लेती है। साहित्य में नये अंगों को जन्म देती है और कला को, व्यापक माननीय संवेदना को वाणी देने में अधिक सक्षम बनाती है। हिन्दी साहित्य इस गति से आगे बढ़ा है। उसमें अनेक नये अंगों की सृष्टि हुई है। स्केच, रिपोर्टाज तथा विविध प्रकार के रूपकों की कला उसे इसी युग में प्राप्त हुई है, जिनसे साहित्य की अत्यन्त श्रीवृद्धि हुई है।

साहित्य की कला अभी भी पथ में है। उसमें नये अंगों का विकास हो रहा है। जो अंग विकसित हो चुके हैं वे मँज रहे हैं। और, साहित्य की चेतना कला तथा वस्तु का सामंजस्य करती हुई आगे बढ़ रही है।

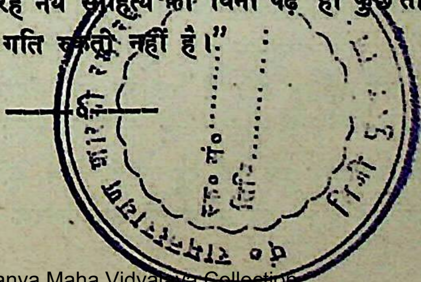
फिर, यह संकट का नारा क्यों?

इसका कारण यही है कि साहित्य के क्षेत्र में आज दो धाराएँ स्पष्ट हो गई हैं। एक धारा वह है जिसमें हिन्दी के अधिकांश नये-पुराने साहित्यकार लिख रहे हैं और जो साहित्य में 'शोषित वर्ग' की भूमिका अदा कर रही है। वह युग की गंगा है—जो पाषाणों को तोड़ती हुई मरणोन्मुख संस्कृति के कूलों को ढाहती हुई जन-सागर को भेंट रही है। साहित्य की दूसरी धारा आभिजात्य वर्ग की भावनाओं का प्रतिफलन कर रही है। जिसमें अन्धकार, घुटन, निराशा और आत्महत्या की भावनाएँ मँड़रा रही हैं। जिसका विकास-पथ रुद्ध हो गया है। साहित्य के बुजुर्ग आलोचकगण इसी दूसरी धारा को देखकर साहित्य में गत्यवरोध की बात करते हैं। तुलसीदास जी ने कहा है—

"नौकारूढ़ चलत जग देखा।
अचल मोहवश आपहिं लेखा॥"

हमारे बुजुर्ग आलोचक नये साहित्य को पढ़े विना ही कुछ तो भी फतवा देने लगते हैं—और फलस्वरूप अपने पाठक की श्रद्धा को चुनौती देते हैं। आखिर, श्रद्धा के नाम पर ही कोई असत्य कब स्वीकार किया जा सकता है। आज पुराने खेवे के आलोचक अपने उत्तरदायित्व से दूर हट गये हैं। उनमें शुक्ल जी के समान उत्तरदायित्व की भावना नहीं है। शुक्ल जी ने पिछले खेवे के आलोचक होते हुए भी अपने से कम उम्र वाले समसामयिक कवियों की विस्तृत समीक्षा करके अपने ऐतिहासिक उत्तर-दायित्व का परिचय दिया था। कई जगह वे गलत कह गये पर उनमें अपने उत्तर-दायित्व की जो भावना थी उसे तो श्रद्धानत होकर स्वीकार करना ही होगा। पुराने खेवे के जो आलोचक आज भी हमारे बीच मौजूद हैं; उन्होंने कभी भी गुरुत्व के साथ अपने उत्तरदायित्व को महसूस नहीं किया। उन्होंने आजतक नवीन साहित्य का कोई मूल्यांकन नहीं किया। किसी भी साहित्यिक धारा से मतभेद रखना दूसरी चीज है। शुक्ल जी छायावाद से कभी सन्तुष्ट नहीं थे पर वे उसके मूल्यांकन से कतराये नहीं। पुराने खेवे के आलोचक जिन्होंने किसी नये कवि का मूल्यांकन नहीं किया या वे करने में असमर्थ थे, आज साहित्य में गत्यवरोध का नारा दे रहे हैं। अपनी पुरानी प्रतिष्ठा के बल पर पेशेवर आलोचक की तरह नये साहित्य को विना पढ़े ही कुछ तो भी फतवा दे रहे हैं। पर इससे साहित्य की गति रुकती नहीं है।"

—शिव०



कला का साधारणीकरण

अब तक यह एक सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या थी। यह मान लिया जाता रहा है कि विभिन्न कलाएँ दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों तक पहुँच जाती हैं। समस्या तो इसके बाद उठती है—एक कविता, या चित्र या मूर्त्ति लोगों के हृदय में आनन्द संचार कैसे कर पाती है? प्राचीन और नवीन विचारकों ने इस पर खूब बहस की है कि नाटक देखने के बाद रस का साधारणीकरण किस प्रकार होता है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने साधारणीकरण के इस पक्ष पर विशद और सूक्ष्म विवेचन किया है जिससे साहित्य के साधारण विद्यार्थी भी परिचित रहते हैं। पश्चिम में भी इस विषय को लेकर पर्याप्त विचार-वितर्क हुआ है। किन्तु, इस समस्या का दूसरा पहलू आज अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। आज तो समस्या यह है कि कला लोगों तक पहुँचे कैसे? साधारणीकरण का यह रूढ़ अर्थ नहीं है, वल्कि शाब्दिक अर्थ है। आज साधारणीकरण, इस अर्थ में एक पेचीदा प्रश्न वन कर समाधान की प्रतीक्षा करता है।

हम पहले इतना जानते थे कि लंदन के दीन-हीन चित्रकार फुटपाथ पर चित्र बनाकर अप्रत्यक्ष भिक्षा-वृत्ति करते थे। इधर हमने यह भी समाचार पढ़ा कि पेरिस के कुछ युवक कवियों ने अपनी कविताएँ, अलग-अलग पृष्ठों पर छपवा कर और खुद चौराहे पर खड़े हो कर, आवाज लगा-लगाकर बेचीं। हाल में कलकत्ते के कुछ उत्साही कवियों ने, अपनी कला का ऐसा ही साधारणीकरण किया था। ऐसे प्रयासों ने थोड़ी सनसनी फैलाई और तत्काल कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। मैं इनमें एक महत्वपूर्ण समस्या और उसका समाधान दोनों एक साथ ही पाता हूँ।

समस्या तो यह है कि एक कलाकार के विचार, अनुभव, मनोराग, रंगों, शब्दों या पत्थर के माध्यम से अभिव्यक्ति पाकर दूसरे के लिए इतने महत्वपूर्ण कैसे बन सकते हैं कि वे उनमें दिलचस्पी महसूस कर, उन्हें जीवन की आवश्यकताओं के साधनों की तरह पैसे खर्च कर खरीदें और उनसे उस आनन्द, रस, तृप्ति की उपलब्धि करें जिनके विना मनुष्य का जीवन अपूर्ण और रिक्त रह जाता है।

यह एक सर्वथा विभिन्न तथ्य है कि जहाँ एक ओर जीवन के ही आवश्यक साधनों का आज सही माने में साधारणीकरण हो रहा है वहाँ कलाओं का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है। इस वस्तुस्थिति से हताश होकर कुछ लोग तो यहाँ तक कह डालते हैं कि सभ्यता की भौतिक गति ने कलाओं का संहार कर दिया है, अब उनके दिन गए, आज उनकी कोई जरूरत रह ही नहीं गई। यह ठीक भी है कि कलाओं में मूर्धन्य काव्य की आज पूछ नहीं रह गई है, चित्र, मूर्त्ति या संगीत भी साधारण बन कर तो जीते जा रहे हैं। पर उनका साधारणीकरण नहीं हो पाता।

इसका कारण अक्सर ही यह बताया जाता है कि आधुनिक सभ्यता में भौतिक दृष्टिकोण, यंत्र, उद्योग आदि की प्रधानता है और यही कारण है कि कलाओं की लोकप्रियता घटती जा रही है, वे बहुत कम लोगों तक पहुँच पाती हैं, यह स्थिति रही तो कलाएँ शीघ्र नामशेष हो जायँगी। जैसे कलाएँ कभी लाखों-करोड़ों लोगों की चीज रही भी हों! कलाओं को लाखों-करोड़ों तक हम अवश्य पहुँची देखना चाहते हैं। यह हमारी समस्या है। यह अतीत की उपलब्धि थी, ऐसा कहना भ्रामक है। यह भ्रम इसलिए उत्पन्न हो जाता है कि पहले कुछ लोगों तक पहुँच कर भी कलाएँ जीवित रह सकती थीं, क्योंकि कलाकारों को यथेष्ट प्रतिपालन मिल जाता था। अब अधिक से अधिक लोगों तक कविता या चित्र या मूर्त्तियाँ नहीं पहुँचती तो वे जीवित नहीं रहेंगी क्योंकि आज एक राजा या कुछ सम्पन्न लोग कलाकारों का प्रतिपालन नहीं कर सकते। आज प्रायः सभी देशों में जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है। आज जनता के हाथों में प्रभुत्व चला गया है। इसलिए यह अनिवार्य है कि इस नये प्रभु का प्रतिपालन कलाओं को प्राप्त हो। ऐसा क्यों हो नहीं रहा है? ऐसा किस प्रकार हो सकता है? प्रश्न ये ही हैं।

ऐसा पहले भी नहीं था कि सभी राजा-रईस गुणग्राहक हों ही। उस बेचारे पुराने कवि को भी खीझ कर कहना पड़ा था—"अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।" भवभूति जैसे नाटककार को क्षुब्ध होकर घोषणा करनी पड़ी थी—"कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी"। और एक दूसरे भुक्तभोगी कलाकार ने तो यहाँ तक कह डाला था—"हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः"। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पहले कुछ साधन-सम्पन्न लोग कला की बारीकियों से परिचय कराने वाली शिक्षा पाते थे और उनकी परिष्कृत रुचि और विलासप्रियता कला-प्रेम में प्रकट होती थी। यह कला-प्रेम सुन्दर मन्दिरों, उद्यानों और उत्सवों के रूप में भी प्रकट होता था और तब कला साधारण से साधारण मनुष्य तक पहुँच जाती थी। आज यह जरूरी हो गया है कि साधारण से साधारण आदमी स्वयं कला तक पहुँचने की उत्सुकता अनुभव करे, उसमें अभिरुचि रखे, उसके रचयिता को प्रश्रय दे। इसके लिए आवश्यक यह है कि हर आदमी केवल जीवन-यापन के लिए आवश्यक शिक्षा तो पाए ही, साथ ही साथ जीवन को सुन्दर, परिपूर्ण और जीने लायक बनाने की शिक्षा भी पाए। सरकार की ओर से कलाओं को चाहे जितनी भी सहायता क्यों न मिले, वह अपर्याप्त सिद्ध होगी। यदि साधारण जनता ने कलाओं के प्रति अभिरुचि न दिखाई तो अवश्य ही मान लेना होगा कि उनके दिन गिने हुए हैं।

लेकिन समस्या इतनी सरल नहीं है। यदि जनता कला तक पहुँचने के लिए लालायित नहीं दीख पड़ती तो कला भी जैसे उससे अधिकाधिक दूर होती जा रही है। आज सभी उन्नत देशों की कलाओं में—क्या कविता, क्या चित्र-कला, क्या मूर्त्ति-कला, और क्या संगीत—यह विचित्रता समान रूप से पाई जाती है कि उनकी 'भाषा'

सर्वथा व्यक्तिगत होती जा रही है। कलात्मक बारीकियों से अपरिचित साधारण लोगों की बात दूर, कभी-कभी कलाविशेषज्ञ भी आधुनिक कलाओं के प्रयोगों को देखकर ठगे रह जाते हैं—तारीफ करें तो अपने को धोखा देते हैं, न करें तो दूसरों की दृष्टि में अज्ञ सिद्ध होने की आशंका रहती है! कहानी आपकी सुनी हो सकती है। हाल-हाल में इंगलैंड में एक चित्र-प्रदर्शनी में एक चित्र सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया। निर्णायकों में चित्रकला के प्रसिद्ध पारखी आलोचक शामिल थे। पीछे पता चला कि उस चित्र को एक चित्रकार के आठ-दस साल के सुपुत्र ने खींचा था और वह उनके पिता जी के चित्रों के साथ संयोग से प्रदर्शिनी में चला गया था, टँग गया था और सर्वश्रेष्ठ चित्र भी घोषित हो गया था। कोणवादी, अतियथार्थवादी चित्रों को, विषय-संकेत के वावजूद, कितने लोग समझ पाते हैं और आधुनिक काव्य का कितने लोग रसास्वादन कर पाते हैं, यह विचारणीय प्रश्न अवश्य ही है।

यदि चित्रों का कम मूल्य चित्रकार लेने लगें, यदि शिक्षा की व्यवस्था ऐसी हो कि ज्यादा लोग काव्य में अनुराग रखने लगें, तो यह निश्चित है कि आज की सभ्यता में पलने वाला मनुष्य भी चित्र खरीदेगा और कविताएँ पढ़ेगा। लेकिन इस प्रश्न का उत्तर तो फिर भी रह जाता है वह ऐसे चित्र खरीद कर और ऐसी कविताएँ पढ़ कर अपने समय और अर्थ के व्यय को सफल कैसे मानेगा जिन्हें खाक-पत्थर वह कुछ समझ नहीं पाता, जो उसके पल्ले नहीं पड़तीं!

कला को सार्वभौमिक प्रभावोत्पादकता से युक्त बनाना कलाकार की प्रतिभा का कर्त्तव्य माना जाता था। एक कवि अपने गहन, विस्तृत और उदात्त अनुभवों को सर्व-सुलभ बनाने के लिए अपनी कृति का कुशल संघटन करता था और उसमें कल्पना के सौंन्दर्य का समावेश करता था। येही कवि और पाठक के बीच के सम्पर्क स्थल होते थे। इनके अतिरिक्त दृश्यों और पात्रों के समय और स्थान-सम्बन्धी दूरत्व, पात्रों के उच्च पद, और अलौकिक एवं असाधारण व्यक्तित्व, असंभव का संभव बनना, अति प्राकृतिक घटनाएँ, पद्य का प्रयोग, साधारण से भिन्न शब्दावली का व्यवहार—ये ऐसी चीजें होती थीं जिनके सहारे काव्य का साधारणीकरण संभव हो पाता था।

आज का कवि, और कवि ही क्यों, कलाकार मात्र, साधारणीकरण को अपना दायित्व नहीं मानता। कला की प्रेषणीयता को कुछ दिनों तक आधुनिक आलोचकों ने बहुत महत्व दिया था। किन्तु कलाकार प्रेषणीयता को ही अपना प्रधान लक्ष्य मानने से इनकार करता है और उसे दोष भी नहीं दिया जा सकता अगर वह ऐसा करता है।

अवश्य, यदि कलाकार कुछ ऐसी मनोवृत्ति रखता है कि कला कोई अजीबो-गरीब चीज है, दिव्य या अलौकिक उपलब्धि है और इसलिए साधारण मनुष्यों की पहुँच के बाहर है, तो किसी को कुछ कहना नहीं रह जायगा। किन्तु यदि कलाकार मानता है कि कला माननीय उपलब्धि है और उसकी सार्थकता यह है कि वह मनुष्य तक पहुँच सके, उसे पूर्ण बना सके, सही मानी में मनुष्य बना सके, तो यह आवश्यक है कि आज की

(अवशेष ८९ पृष्ठ पर)

मधुरा का नायक राजवंश

श्री व्रजरत्न दास

दक्षिण के राज्यों का विशेष विवरण भारत के इतिहासों में बहुतकम दिया गया है या दिया जाता है। यद्यपि दक्षिण के राज्यों का उल्लेख महाभारत, महावंश आदि ग्रंथों तथा अशोक के लेखों, मेगैस्थनीज के यात्रा-विवरण आदि में मिलता है, तथापि वे पर्याप्त रूप से विशद वर्णन नहीं कहे जा सकते। प्राचीन काल में दक्षिण के मालाबार तट से मिस्र तथा रोम तक पश्चिम की ओर, और बर्मा तथा चीन तक पूर्व की ओर व्यापार होता था, पर वहाँ के तत्कालीन राजाओं के नाम आदि का विवरण नहीं मिलता।

इन राजवंशों में मधुरा का पांडव-वंश बहुत प्राचीन है और उक्त ग्रंथों तथा विवरणों के सिवा वराहमिहिर की बृहत्संहिता तथा अन्य पुराणों में भी इसका उल्लेख है। मधुरा के पास की ताम्रपर्णी नदी तथा उसमें से नहर निकाले जाने आदि का भी वर्णन है। यही नगर पांडव-वंश की राजधानी थी। मधुरा-स्थल-पुराण में इस राजवंश का वर्णन तथा राजाओं की सूची दी गई है, पर सिक्कों तथा लेखों से इनका अभी तक समर्थन नहीं हो पाया है।

सन् १५५८–९ ई० में पांडव-वंश का एक राजा चन्द्रशेखर मधुरा में राज्य करता था, पर तंजौर के चौल-वंशीय राजा वीरशेखर ने इस पर चढ़ाई कर इसके राज्य पर अधिकार कर लिया। राज्य छिन जाने पर चन्द्रशेखर विजयनगर पहुँचा। वहाँ के राजा ने इसकी सहायता के लिए कोटीय नागम्मा नामक अपने सेनापति को ससैन्य भेजा। इसने तंजौर नरेश को परास्त कर मधुरा पर अधिकार तो कर लिया पर अपने स्वामी के आदेशानुसार पांडचराज को गद्दी न दे कर स्वयं स्वतन्त्र रूप में राज्य का प्रबंध करने लगा। यह समाचार पा कर विजयनगर-नरेश ने क्रुद्ध हो कर सेनापति नागम्मा के पुत्र विश्वनाथ को सेना-सहित पिता के विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा। विश्वनाथ ने पिता को परास्त कर कैद कर लिया और चन्द्रशेखर को नाम-मात्र के लिए राज-गद्दी पर बिठा दिया। विश्वनाथ ने आर्य नायक मुदालियर या आर्यनाथ को प्रधान सेनापति तथा मंत्री नियत किया। वह एक योग्य प्रबंधक था। उसने मधुरा में सहस्र स्तंभों का मंडप बनवाया तथा दुर्ग, मंदिर, नहर आदि का जीर्णोद्धार कराया। कृषि की उन्नति के लिए भी उसने बहुत प्रयत्न किये। इसी काल में तंजौर नरेश से विश्वनाथ ने त्रिचिनापल्ली प्राप्त कर मधुरा राज्य में मिला लिया और इसकी पहाड़ी पर दुर्ग बनवाया तथा नगर की बहुत उन्नति की।

तिन्नेवली प्रांत में विद्रोह मच गया था, जिसका दमन करने के लिए आर्यनाथ गया, पर वहाँ के पाँच सर्दारों ने, जो पंच-पांडव कहलाते थे, इसका सफलतापूर्वक सामना किया। इस पर विश्वनाथ भी अपने सेनापति की सहायता के लिए दक्षिण गया, पर शत्रु-पक्ष को प्रबल देख कर इसने विद्रोही सर्दारों को द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारा। इसने पंच-पांडव से एक साथ द्वंद्व-युद्ध

करने को कहलाया था, पर उन्होंने भी वीरोचित धर्म के अनुसार अपने में से एक को प्रतिनिधि बना कर युद्ध के लिए भेजा। यह निश्चय हुआ था कि जो पक्ष हारेगा वह युद्धक्षेत्र से हट जायगा। विश्वनाथ द्वारा युद्ध में उस प्रतिनिधि के मारे जाने पर वे अपने वचनानुसार हट गए। इस प्रकार सफल होने पर विश्वनाथ राज्य का अधिपति बन कर शासन-प्रबंध करने लगा। सन् १५६३ ई० में इसकी मृत्यु होने पर इसका पुत्र कुमार कृष्णप्पा सिंहासनारूढ़ हुआ।

कृष्णप्पा के राज्यकाल में पौलिगार दंविच्छी नायक ने उस समय विद्रोह आरंभ किया जब सेनापति आर्यनाथ उत्तर में विद्रोही मुसलमानों का दमन करने गया था; परंतु नायक युद्ध में मारा गया और विद्रोह शांत हो गया। कहा जाता है कि कृष्णप्पा ने लंका पर चढ़ाई कर अधिकार कर लिया था और अपने एक संबंधी को वहाँ का प्रांताध्यक्ष नियत किया था, पर यह बात अभी तक प्रमाणित नहीं हो सकी है। सन् १५७३ ई० में कृष्णप्पा की मृत्यु हुई और आर्यनाथ ने इसके दोनों पुत्रों, पेरिया वीरप्पा कृष्णप्पा तथा विश्वनाथ द्वितीय को, मधुरा का संयुक्त नरेश बनाया। आर्यनाथ ही राज्य का वास्तविक संचालक था और उसके प्रवन्ध में राज्य की बराबर उन्नति होती रही। इन्हीं दिनों महाविलिवान राजा ने, जो संभवत: पांड्यवंशीय था, विद्रोह किया। उसका भी शीघ्र दमन कर दिया गया और त्रिचिनापल्ली तथा चिदंबरम् के दुर्गों की विशेष उन्नति की गई। सन् १५९५ ई० में वीरप्पा की मृत्यु होने पर इसी के दो पुत्र संयुक्त नरेश हुए, जिससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ द्वितीय पहले ही मर चुका था।

वीरप्पा के दोनों पुत्रों का नाम लिंगैय्या कुमार कृष्णप्पा तथा विश्वप्पा विश्वनाथ तृतीय था। इन दोनों के समय में भी राज्य की उन्नति होती रही। सन् १६०० ई० में आर्यनाथ की मृत्यु हुई। इसके अनंतर ही विश्वनाथ तृतीय की मृत्यु हो गई और सन् १६०२ ई० में लिंगैय्या भी मर गया। इसके पितृव्य कस्तूरी रंगैय्या ने राज्य-शासन पर अधिकार कर लिया, पर एक सप्ताह के बाद ही वह मारा गया और लिंगैय्या का पुत्र मुत्तू कृष्णप्पा गद्दी पर बैठा। रामेश्वर के मार्ग में डाकुओं का बड़ा उपद्रव रहता था, जिससे यात्रियों के प्राण तथा संपत्ति अरक्षित हो गई थी। इसलिए इसने सन् १६०४ ई० में प्राचीन मड़व वंश के सडवक तेवन उदयन सेतुपति को रामनद का राज्य दिया, जिसने उस मार्ग में शांति स्थापित की। इसके समय में इसके राज्य में ईसाई धर्म का विशेष प्रचार हुआ। सन् १६०९ ई० में इसकी मृत्यु हो गई। इसके तीन पुत्र—मुत्तू वीरप्पा, तिरुमल नायक तथा कुमार मुत्तू थे। प्रथम मुत्तू वीरप्पा ने सन् १६०९ ई० से सन् १६२३ ई० तक तथा द्वितीय तिरुमल ने सन् १६५९ ई० तक राज्य किया। प्रथम के राज्यकाल में तंजौर के राजा से साधारण युद्ध हुआ था और मैसूर राज्य की ओर से भी उपद्रवियों ने कई बार आक्रमण किए थे, पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके समय ईसाई धर्म का प्रचार रुक गया। यह विशेष कर त्रिचिनापल्ली में ही रहता था।

तिरुमल नायक ने महाराजमान्य राजश्री तिरुमल शोवरि नायणी अप्पलु गारू की पदवी धारण की और यह त्रिचिनापल्ली त्याग कर मधुरा में ही रहने लगा। इसने यहाँ कई मंदिर तथा प्रासाद बनवाए। इसने विजयनगर की नाम-मात्र की अधीनता भी अस्वीकार कर दी तथा

स्वतंत्र वन बैठा। इसके सेनापति दलवई रामप्पैय्या ने मैसूर की सेना को दिंदिगल में रोक कर परास्त कर दिया और मैसूर की सेना का पीछा करते हुए उस राज्य में पहुँच कर वहाँ के एक दुर्ग को घेर लिया। इसके अनंतर रामनद के सेतुपति से युद्ध हुआ, जिसमें विशेष सफलता नहीं मिली। तिरुमल विजयनगर के राजा को कभी-कभी भेंट भेज दिया करता था, जिससे इसकी स्वतन्त्रता का आभास मिलने लगा था। इस कारण सन् १६५७ ई० में तत्कालीन राय की मृत्यु होने पर उसके पुत्र ने चढ़ाई कर दी। तिरुमल की सहायता को तंजौर तथा जिंजी के नायक-गण भी आ मिले थे। इससे राय ने पहले जिंजी पर आक्रमण कर दिया। परंतु इसी समय तिरुमल के संकेत पर मुसलमानों ने विजयनगर पर चढ़ाई कर दी और उसके वहुत से भाग पर अधिकार कर लिया। इसके अनन्तर मुसलमान आक्रमणकारी दक्षिण की ओर झुके, जिससे तिरुमल मधुरा भागा, पर इनके पहुँचते ही वह विना युद्ध किए मधुरा भी छोड़ कर भागा। तब यह गोलकुंडा के मुसलमानों से मिल गया, जिन्होंने मैसूर तथा विजयनगर राज्यों में लूटपाट की थी। इसका वदला लेने के लिए मैसूर के उडैयार ने तिरुमल पर चढ़ाई की और घोर युद्ध हुआ। सन् १६५९ ई० में मधुरा विजयी हुआ पर इसी वर्ष तिरुमल मर गया। इसके औरस पुत्र कुमार मुत्तू के किसी कारणवश अस्वीकार करने पर इसका वर्णसंकर पुत्र मुत्तू अर्कांद्रि गद्दी पर बैठा।

इसने दो ही वर्ष राज्य किया, पर मुसलमानों से रक्षा पाने तथा उन्हें अपने राज्य से निकालने के लिये इसने त्रिचिनापल्ली दुर्ग को अत्यन्त दृढ़ किया। मुसलमानों ने तंजौर तथा अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया, पर त्रिचिनापल्ली नहीं ले सके और लौट गए। सन् १६६० ई० में इसकी मृत्यु हो जाने पर इसका पुत्र चोक्कानाथ या चोक्कलिंग या चोक्कप्पा, सोलह वर्ष की अवस्था में, गद्दी पर बैठा। पहले यह कुछ ऐसे दुष्ट मंत्रियों के हाथ में पड़ गया, जो वास्तव में इसे गद्दी से उतारना चाहते थे, पर इसने अंत में उन्हें कौशल से परास्त कर दिया और शासन-भार तथा सैन्य-संचालन अपने हाथ में ले लिया, जिससे वे भाग कर तंजौर चले गए। इस पर इसने तंजौर घेर लिया और उन्हें दंड दिया। तंजौर के नायक ने भी अधीनता स्वीकार कर ली। सन् १६६३-४ ई० में मुसलमानों ने इसके राज्य पर चढ़ाई और लूटपाट की पर त्रिचिनापल्ली न ले सकने पर वे लौट गए। तंजौर के नायक विजयराघव ने मुसलमानों की सहायता की थी इसलिए इसने उस पर चढ़ाई की और उसे परास्त कर अधीन बनाया। रामनद के सेतुपति ने भी विद्रोह किया था, इसलिये उस पर भी चढ़ाई कर उसे परास्त किया। सन् १६७४ ई० में इसने पुनः तंजौर पर आक्रमण कर विजयराघव को सपरिवार मार डाला और अलागिरी को वहाँ का अध्यक्ष नियत किया।

सन् १६७५ ई० में चोक्कानाथ का मंगम्मल से विवाह हुआ और यह कुल राजकार्य अपने भाई मुत्तू अर्कांद्रि को सौंप कर त्रिचिनापल्ली में विषय-भोग में रत हो गया। दुष्टों ने अर्कांद्रि से मिल कर षड्यंत्र किया, जिससे अंत में उसने मधुरा में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इसी समय तंजौर के एक राजकुमार ने सन् १६७६ ई० में एकोजी मराठा तथा मुसलमानों से मिल कर तंजौर पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। इसके अनन्तर मधुरा के अन्य भागों पर भी जब शत्रु का अधिकार हो गया, तब चोक्कानाथ जगा और युद्ध की तैयारी की। मैसूर

के राजा ने भी मधुरा पर चढ़ाई की,पर इसी समय, सन् १६७७ ई० में,शिवाजी ने कर्णाटक पर भारी सेना के साथ आक्रमण किया। इसी अवसर पर कोलरून नदी में बाढ़ आ गई जिससे शिवाजी को लौट जाना पड़ा। तंजौर के मुसलमानों ने शिवाजी की सेना पर, जो जिंजी के पास थी, आक्रमण किया पर परास्त हो कर भाग गए। मराठा सेना ने उसी वर्ष जिंजी तथा वेलोर पर अधिकार कर लिया और जिंजी दुर्ग को दृढ़ कर उसे दुर्भद्य वना दिया।

चोक्कानाथ कुछ भी सफलता न प्राप्त कर सका और त्रिचिनापल्ली लौट गया। सन् १६७७ ई० में मैसूर के राजा ने मधुरा पर चढ़ाई की और इस अवसर पर मंत्रियों ने चोक्कानाथ को गद्दी से उतार कर उसके भाई मुत्तू लिंगप्पा को उस पर बिठा दिया। चोक्कानाथ ने कुछ ही महीनों के वाद षड्यंत्र कर पुनः राज्य पर अधिकार कर लिया। सन् १६८० ई० में मैसूर नरेश ने त्रिचिनापल्ली को घेर लिया, पर इसी समय मराठों, तंजौर के मुसलमानों तथा रामनद के माड़वों ने भी इसके राज्य पर चढ़ाई कर दी। मराठों ने मैसूर-नरेश को परास्त कर भजा दिया और त्रिचिनापल्ली के भूमि-भाग पर अधिकार कर लिया। इससे दुखी हो कर चोक्कानाथ सन् १६८२ ई० में मर गया और इसका पुत्र रंगा कृष्ण मुत्तू वीरप्पा गद्दी पर वैठा।

इसके राज्यारंभ के समय मधुरा राज्य के पाँच टुकड़े हो चुके थे, जिनमें एक इसके अधीन था। अन्य दो पर मैसूर-नरेश तथा रामनद सेतुपति का, और तंजौर पर एकोजी, तथा जिंजी पर शंभुजी का अधिकार हो गया था। वीरप्पा ने क्रमशः मैसूर तथा सेतुपति द्वारा अधिकृत भागों पर पुनः अधिकार कर लिया। यद्यपि सेतुपति ने तंजौर से मिल कर वीरप्पा को परास्त कर दिया, पर विशेष कुछ न कर सके। सन् १६८९ ई० में वीरप्पा की चेचक से मृत्यु हो गई और इसकी पत्नी ने भी एक बालक को जन्म देने के वाद आत्महत्या कर ली। यही बालक राजा हुआ और इसकी दादी मंगम्मल इसकी अभिभाविका हुई। यह स्वभावतः उदार थी और धार्मिक द्वेष से दूर रह कर सभी धर्मवालों की रक्षा करती थी। सन् १६९८ ई० में कर उगाहने के लिये इसने ट्रावंकोर सेना भेजी पर वह परास्त हो कर लौट आई। तब इसने भारी सेना भेजी, जिसे सफलता मिली। सन् १७०० ई० में इसने डच जाति को तूतीकोरन में मोती निकालने का एकाधिकार दिया। पादरी बुशे का इसके दरबार में आदर था। तंजौर की उपद्रवी सेना को इसके सेनापति नरसप्पैया ने परास्त किया और राज्य को लूटने लगा। तब वहाँ के मंत्री ने धन दे कर इसे लौटा दिया। इसके अनन्तर इसने तंजौर के साथ मैसूर के विरुद्ध, संधि की, पर कोई फल नहीं निकला। सन् १७०२ ई० में रामनद के सेतुपति से युद्ध करते हुए नरसप्पैया मारा गया और इसकी सेना परास्त हो गई।

सन् १७०४ ई० में वालक-नरेश विजयरंग चोक्कानाथ ने युवा होते ही दुष्ट मंत्रियों के षड्यंत्र में पड़ कर राज्य-शासन अपने हाथ में ले लिया और अपनी दादी मंगम्मल को कारागार में भूखों मार डाला। इसीके अनन्तर इसके राज्य में भयानक अकाल पड़ा और सन् १७०९ ई० में भयंकर बाढ़ आई। सन् १७१० ई० में फिर अकाल पड़ा जो प्रायः दस वर्षों तक रहा। सन् १७२० ई० में रामनद राज्य में विद्रोह मच गया और सन् १७२३ ई० में तत्कालीन सेतुपति की मृत्यु हो जाने पर उत्तराधिकार के लिये झगड़ा मचा। इसमें टौंडर तेवर को मार कर भवानीशंकर राजा

हुआ। सन् १७२९ ई० में यह युद्ध में परास्त हो कर तंजौर दुर्ग में कैद किया गया और इसके राज्य के कुछ भाग पर तंजौर का अधिकार हो गया। बचे हुए अंश के दो भाग किए गए और शिवगंगा तथा रामनद दो राज्य बनाए गए।

सन् १७३१ ई० में विजयरंग की मृत्यु हो गई। इसके तीन रानियाँ थीं, जिनमें बड़ी दो इसके साथ सती हो गईं। तीसरी छोटी रानी मीनाक्षी को दत्तक ले कर राज्य प्रबन्ध करने का आदेश दिया गया था, जिससे वह सती न हो सकी। श्री रंगपत्तन मंदिर के प्राकार में लगे हुए शीशे में विजयरंग अपनी रानियों के साथ उपासना करता हुआ चित्रित किया गया है। रानी मीनाक्षी ने राज्य-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया और आदेशानुसार बँगारु तिरुमल के पुत्र को दत्तक लिया। बँगारु तिरुमल ने मृत राजा के सगोत्र पितृव्य होने के संबंध से राज्य पर अपना स्वत्व प्रकट किया तथा विद्रोही हो गया। यद्यपि तिरुमल के पक्षवालों ने त्रिचिनापल्ली में रानी मीनाक्षी को मार डालने का प्रयत्न किया पर वे परास्त और असफल हुए। राज्य के पुराने सेनापति वेंकटराय आचारियर ने भी षड़यंत्र में भाग लिया और तंजौर नरेश ने तिरुमल का पक्ष लिया। तब रानी मीनाक्षी ने शत्रु को प्रबल देख कर कर्णाटक के नवाब दोस्त अली को सहायता के के लिए लिखा और स्वयं त्रिचिनापल्ली दुर्ग को दृढ़ बना कर उसमें जा बैठी। दोस्त अली ने अपने राज्य के विस्तार का इसे सुअवसर समझ कर एक सेना अपने पुत्र सफदर अली के अधीन भेजी, जिसका वास्तविक संचालक उसका दामाद चाँदा साहिब था। इस सेना ने राज्य में पहुँच कर लूटपाट आरम्भ कर दी। बँगारु तिरुमल भी इस सेना में आ मिला और उसने सफदर अली को समझा कर राज्य में अपने नाम की घोषणा करा दी। चाँदा साहिब इस कार्य को पूरा करने के लिये भेजा गया। रानी मीनाक्षी ने विवश हो कुछ धन दे कर चाँदा साहिब को लौटा दिया और बँगारु भी मधुरा चला गया।

सन् १७३६ ई० में चाँदा साहिब पुनः त्रिचिनापल्ली आया। वह जानता था कि इस दुर्ग की सेना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। रानी मीनाक्षी भी अपने राज्य के उस अंश पर, जो उसके अधिकार से निकल गया था फिर अधिकार पाना चाहती थी, अतः उसने इस कार्य में चाँदा साहिब से सहायता माँगी। दोनों पक्षों में बात चलने पर चाँदा साहिब ने कहा कि जब तक उसे त्रिचिनापल्ली दुर्ग में स्थान नहीं मिलेगा तब तक वह पूरा राज्य प्राप्त करने में असमर्थ है। अंत में इस बात पर संधि हुई कि चाँदा साहिब सहायता करने की, और पूर्ण राज्य पर अधिकार हो जाने पर एक करोड़ रुपया पुरस्कार ले कर लौट जाने की, शपथ ले। चाँदा साहिब ने यह बात स्वीकार की,और कावेरी नदी के तट पर चिंतामणि के मंडप में जब उसने कुरान पर शपथ खाई तब रानी ने विश्वास कर,२६ अप्रैल,सन् १७३६ ई० को,उसे दुर्ग में स्थान दिया। चाँदा साहिब ने साथ ही यह भी कल्पना कर ली कि रानी उसपर रीझ गई है,अतः वह उस पर अपना प्रेम प्रकट करने लगा। ओर्म ने अपनी पुस्तक में ऐसी ही जनश्रुति लिखी है। चाँदा साहिब ने सेनाएँ भेज कर दिंदिगल तथा मधुरा पर अधिकार कर लिया, जिससे तिरुमल भाग कर शिवगंगा चला गया। इस प्रकार कुल मधुरा राज्य पर अधिकार हो जाने से चाँदा साहिब की नीयत बिगड़ गई और वह स्वयं पूरे राज्य का नवाब बन बैठा। रानी मीनाक्षी के शपथ की याद दिलाने पर उसने उत्तर में कहलाया

कि उसने कुरान पर शपथ नहीं खाई थी प्रत्युत वह एक ईंट थी जो वेठन में लपेटी हुई थी। अंत में रानी मीनाक्षी कारागार में रखी गई जहाँ उसे विष दे दिया गया, या संभव है कि उसने स्वयं आत्महत्या कर ली हो।

इस प्रकार मधुरा के इस प्राचीन राजवंश का इस रानी के साथ अंत हो गया। पर ऐसे कपटाचरण तथा कपटाचारियों का कैसा अंत हुआ, यह जानना भी उपदेशप्रद है। तंजौर में छत्रपति शिवाजी के सौतेले भाई व्यंकोजी ने अपना राज्य स्थापित किया था, जिनकी सन् १६८७ ई० में मृत्यु हुई। इनके तीन पुत्रों ने क्रमशः सन् १७३५ ई० तक राज्य किया। अंतिम के दो औरस पुत्र बावाजी तथा साहूजी थे, जिनमें प्रथम राजगद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद मर गए और दूसरे राजा हुए। इनके वर्णसंकर भाई प्रतापसिंह ने इन्हें हटा कर स्वयं गद्दी पर अधिकार कर लिया। दुर्भाग्य से तंजौर दुर्ग का अध्यक्ष सईद खाँ था, जो अनेक उपद्रवों का मूल था। इसी समय दोस्त अली की आज्ञा से चाँदा साहिब ने तंजौर पर चढ़ाई की। अब प्रतापसिंह ने सितारा से सहायता माँगी। साहूजी ने रघुजी भोंसला को भारी सेना के साथ कर्णाटक भेजा, जिसने १९ मई, सन् १७४० ई० को दामलचेरी दर्रे में दोस्त अली को सेना सहित घेर लिया। कुछ ही घंटों के युद्ध में दोस्त अली मारा गया और उसकी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई। यह समाचार पाते ही सफदर अली अर्काट में तथा चाँदा साहिब त्रिचिनापल्ली में जा बैठे। रघुजी के अर्काट पहुँचते ही सफदर अली वेलोर चला गया और वहीं से उसने मराठों से संधि कर ली। शर्तें यह थीं कि सफदर अली कर्णाटक का नवाब मान लिया जाय और चाँदा साहिब त्रिचिनापल्ली से निकाल दिया जाय। इसके पुरस्कार में सफदर अली रघु जी को एक करोड़ रुपया देगा और उस प्रांत के उन हिन्दू राज्यों को, जिन्हें दोस्त अली या इसने सन् १७३६ ई० के बाद छीन लिए थे, फिर से स्थापित कर देगा।

इस संधि के अनंतर रघुजी ने त्रिचिनापल्ली की ओर कूच किया, पर उस दृढ़ दुर्ग में घेरा उठाने की पूरी तैयारी देख कर उसने एक चाल चली। उसने घोषणा कर दी कि कर्णाटक की चढ़ाई में उसे केवल आर्थिक हानि ही हुई है अतः वह अब यहाँ से चला जायगा। इस प्रकार की घोषणा करने के अनंतर रघुजी त्रिचिनापल्ली से चालीस कोस दक्षिण शिवजय चला गया। षड्यंत्र-कुशल चाँदा साहिब दुर्भाग्य से इस चाल से धोखा खा गया और उसने अपने भाई बड़ा साहिब को दस सहस्र सेना के साथ मधुरा भेज दिया। साथ ही उसने दुर्ग में जो सामान, रसद आदि इकट्ठा किया था उसे भी बेच दिया। रघुजी यही अवसर देख रहे थे और इसे पाते ही शीघ्रता से त्रिचिनापल्ली पहुँच कर उसे घेर लिया। इसने बीस सहस्र सेना बड़ा साहिब के विरुद्ध भेजी, जिससे युद्ध करते हुए वह मारा गया और उसकी सेना अस्तव्यस्त हो गई। २१ मार्च, सन् १७४१ ई० को त्रिचिनापल्ली पर अधिकार हो गया और चाँदा साहिब कैद कर सितारा भेजा गया।

दोस्त अली के दूसरे दामाद मुर्तजा अली ने २ सितंबर, सन् १७४२ ई० को सफदर अली को धोखे से मार डाला और इसके अनंतर इसके अल्पवयस्क पुत्र सैद मुहम्मद को मार कर इस वंश को समाप्त कर दिया। चाँदा साहिब आठ वर्ष सितारा दुर्ग के कारागार में रहा और सात

लाख रुपये दंड देने पर छूटा। वह फ्रांसीसियों की सहायता से मुजफ्फरजंग को दक्षिण का निजाम बनाने के षड्यंत्र में लगा पर सन् १७५१ ई० में उसके मारे जाने पर चाँदा साहिब स्वयं फ्रांसीसियों की सहायता से कर्णाटक तथा त्रिचिनापल्ली पर अधिकार करने का प्रयत्न करता रहा। अंत में जब फ्रेंच सेना ने अँग्रेजों के आगे शस्त्र रख दिए तब यह तंजौर के सेनापति मानिकजी को ११ जून सन् १७५२ ई० को दे दिया गया, जिसने इसे उसी दिन मरवा डाला।

———o———

भौतिकवाद की माया

यदि हम भौतिकवादी नतीजे को बहुत दूर खींच कर ले जाते हैं, तो व्यक्ति और मानव-जीवन में व्यर्थता और नगण्यता आ जाती है। फिर व्यक्ति के लिए दो ही रास्ते रह जाते हैं, या तो वह संसार से जो कुछ भी छीन-झपट सके, उसे ले कर अपने को सुखी बनावे अथवा निरर्थक अनासक्ति के साथ समाज या व्यक्ति की सेवा करे, क्योंकि इसके अनुसार व्यक्ति केवल स्नायविक भौतिक मनस्तत्त्व का क्षणिक समुच्चय है और ऐसा ही है समुदाय या समाज। भौतिक शक्तियों के कार्य-कलाप एक अल्पकालिक जीवन का भ्रम, और उससे ज्यादा नैतिक आदर्शों का मोह, पैदा करता है, जिससे हमें तृप्ति का भान होता है और हम कार्य में प्रवृत्त होते हैं। भौतिकवाद भी एक तरह की माया की सृष्टि करता है, जो है भी और नहीं भी है। वह है, क्योंकि वह हमें क्रिया में प्रवृत्त करती है; नहीं है, इसलिए कि वह क्षणस्थायी और बदलने वाली चीज है। दूसरी ओर यदि हम दृश्य-मान विश्व के मिथ्यापन को ज्यादा खींचते हैं, तो दूसरे रास्ते से वैसे, ही बल्कि उससे भी ज्यादा, तीव्र मायावाद पर पहुँच जाते हैं। व्यक्ति काल्पनिक बन जाता है और मानव-जीवन निरर्थक। अरूप, संबन्धहीन, अशरीरी तत्त्व में लौट जाना ही ऐसे निरर्थक जीवन की गुत्थियों से छुटकारे का तर्क-संगत मार्ग बच रहता है।

—योगिराज श्री अरविन्द

धर्म की चरम सार्थकता

धर्म में मनुष्य के सबसे सुन्दर, सबसे उदात्त सपने छुपे होते हैं, इसीलिए वह उसके जीवन का सर्वोपरि सत्य माना जाता है। किन्तु धर्म को अपनी चरम सार्थकता उसी समय प्राप्त होती है, जब उसमें एक ओर प्रकृति और पुरुष का पूर्णतम गठबंधन संपन्न होता है और दूसरी ओर मनुष्य तथा मनुष्य की भावनाएँ दोनों एक दूसरे के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाती हैं। अतएव जहाँ-जहाँ भगवान् की मानवीयता और मनुष्य की भगवती शोभा व्यक्त होती है वहीं हमें धर्म का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। मनुष्य वहाँ सीमाहीन, व्यापक, पूर्ण और सार्वभौम मनुष्य होता है। यही कबीर का 'बेहदी' मैदान है। धर्म का अर्थ इसी अर्थ में सार्थक है कि वह पूर्णता तक पहुँचाने वाले सेतु का निर्माण करता है, मनुष्य के अन्दर सोए हुए पूर्ण 'पुरुष' को जगता है।

'कवि का शान्ति-पथ'—आचार्य गुरुदयाल मल्लिक :
("नई धारा", पटना, नवम्बर, १९५१)।

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धांत

प्रो० जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

(विगतांक से आगे

आजकल आर्थिक विषमता का प्रश्न इतना विषाक्त और सर्वग्रासी हो गया है कि साम्यवादी दर्शन, सभ्यता और राजनीतिक व्यवस्था की माँग होने लगी है—एक जलती, लपटें फेंकती संघर्ष की भावना, जिसमें रोष, घृणा, हिंसा, विध्वंस आदि मनोविकार का आवाँ सुलगता रहता है और मनुष्य-मनुष्य का सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से, पुरुष-स्त्री का सम्बन्ध आर्थिक और यौन दृष्टि से तथा विचारों, भावों और आस्था का साम्य संगीनों के तीक्ष्ण तर्क से प्रतिष्ठित किया जाता है। साम्यवादी पात्र एक बार भी साध्य के सामने साधन की भावना से विचलित न होगा—वह दलव्यापी धर्मान्धिता का एक माध्यममात्र होता है ; अन्धकार में षड्यंत्र करने में उसकी आत्मा उसे तनिक भी न कोसेगी ; अवसर के अनुसार नीति की भंगुरता से वह तनिक भी लज्जित न होगा; उसकी साधारण बातचीत में गरीबों और झोपड़ियों का अतिशयोक्ति से भरा दुर्दशा-वर्णन और सामन्तों, पूँजीपतियों आदि के लिए कण्ठस्थ अपशब्द रहेंगे ; वह पूँजीविहीनों, श्रमिकों को साथी कहता चलेगा, चाहे भ्रातृत्व की भावना उसके हृदय को उस क्षण छू तक न गई हो; और वह कला, साहित्य आदि में रस का पोषक न होकर क्रान्ति-संदेश, आर्थिक व्यवस्था की आलोचना और वर्ग-संघर्ष के विमाता-पुत्र की भावना का प्रचार चाहेगा। ऐसा शील सामान्य-लक्षण होता है। यह समूह-व्यक्तित्व है। मन की दशाओं, भावों की अभिव्यक्ति में सामान्य लक्षण और स्वलक्षण के भेद देखे जाते हैं। क्रोध की अभिव्यक्ति हम हानि के कारण को हानि पहुँचाने में करते हैं, या विवश हो कर अपनी निर्बलता की असहायता में हम अपने ही सर को पत्थर पर पटकने लगते हैं। कभी-कभी इस विवशता की अनुभूति में लज्जा से जो ग्लानि होती है उससे मुक्ति के लिए लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं। पर एक सबल के क्रोध का उदाहरण देखिये—डॉन नामक एक कुँआरा अब वृद्ध हो चला है। कहानी बताती है कि माँ के सिवा उसने किसी नारी से प्रेम नहीं किया। वह चट्टानों के करीब अपनी ही शराब बनाता, अपनी चाय बनाता, अपने ही बर्तन साफ करता, एकान्त का जीवन बिताता है। उस अतीत के युगों की रागरंजित सजीवता अब देखने को नहीं मिलती। पहले की जड़ी-बूटियाँ ताजी खुशबू से भरी और सप्राण होती थीं, अबके डाक्टरों की गोलियाँ मशीन की बनी और स्वाद-विहीन होती हैं। पहले लोग पाकशाला के कलाकार होते थे। पहले सुरा में सोमरस का स्वाद और अमृत रहता था। अब की सुरा में केवल पानी ही पानी है। इतने में सर्जेंट उससे कहता है कि उस पर न्यायालय ने जो जुर्माना किया है उसे पड़ोसी चुका देंगे पर वह जेल न जाय। डॉन को एक आदमी ने, तरुण युवक ने छेड़ा था। डॉन ने उसे बनाकर पीटा और उसे यह सजा मिली। डॉन चट्टानों का बना, पहाड़ के कद का आदमी, जिसमें बर्बरता के साथ औदार्य भी है। वह कहता है—'मैं जुर्माना चुका या चुकवा देता हूँ तो उस अशिष्ट नराधम को संतोष होगा कि आसानी से बदला फिर गया और वह

फिर किसी सज्जन को छेड़ेगा। मैं वन्दी जीवन व्यतीत करूँगा, खाली तख्त पर नंगी पीठ सोऊँगा ; यातनायें सहूँगा, कष्ट झेलूँगा, जिससे शत्रु क्या शत्रु की आनेवाली संतान भी लज्जा से कभी सर न उठा सके। मेरा क्रोध यों शान्त न होगा'। यह पूर्णतः स्वलक्षण-शील की अभिव्यक्ति है।

क्रोध में अपने को हानि पहुँचाना, जिससे शत्रु दण्डित होगा—इस तरह की मौलिक भावना और कल्पना की उड़ान शील के ऐसे उल्लास और उत्साह का उदाहरण है जो समष्टिगत नहीं, समूहगत नहीं, वर्गगत नहीं, सामान्य लक्षण नहीं, वल्कि व्यक्तिगत है। कानून की निर्वैयक्तिक निष्ठुरता और निष्पक्षता के सामने यह धीरोदात्त आत्मा झुकती है पर अपनी शान और मर्यादा के लिए। साधारण आदमी जिस कायरता से जेल जाता है, उससे भिन्न वीर की भाँति अपनी हार्दिक न्याय-भावना से प्रेरित होकर वह भीष्म-भीम गधे पर चढ़ कर गाना गाते वन्दीगृह जाता है। न्याय उसके लिए एक सामाजिक व्यवस्था नहीं, एक आन्तरिक भोग है, परवशानुभूति नहीं, रसानुभूति है।

स्वलक्षण-शील की अभिव्यक्ति में एक उमंग होती है—ऐसा शील शास्त्र और स्वांग दोनों से मुक्त होता है। स्वलक्षण-शील व्यक्तित्व का जातिगत सामान्यता से पूर्णतः विच्छेद-सा नहीं दीखता, पर भेद-विन्दु इतना स्पष्ट होता है कि शील एक अपवाद-सा लगता है। इस अपवाद में जाति-धर्म का, वृत्ति-धर्म का उल्लंघन नहीं वल्कि यात्रा-भेद से एक नई स्वतंत्रता का आलोक देखने को मिलता है। स्वलक्षण-शील परम्परा, परिस्थिति, सामाजिक नीति-धर्म आदि के नियंत्रणों और प्रतिवन्धों के प्रति एक सरल, अध्ययन-सिद्ध नहीं, अपेक्षा का भाव रखता है। 'महाजनो येन गतः' वाला बहुसंख्यक मार्ग उसके प्रतिभा-प्रकाश से मेल नहीं खाता। उसका शील, रीति, और नीति पाणिनियों की दृष्टि से निषिद्ध या अशुद्ध भले ही हो, प्रेरणा और व्यापार, वाह्य और आभ्यन्तर की साधु-मैत्री उसकी विशेषता है। स्वलक्षण-शील निंदा (Censure) या स्वीकृति, (Approval) विधि और निषेध की परवाह नहीं करता। इसलिए स्वलक्षण-शील में साहस अधिक प्रतीत होता है। लोक-लज्जा से उद्भूत भीरुता का वह बहुत दूर तक विजेता मालूम होता है। इसीसे स्वलक्षण-शील में (Caprice) हठ और क्षिप्रता अधिक होती है। वह गणितांकित नहीं हो सकता। वह मूल्यांकन नहीं है। वह अन्दर के वितान (Tension) से मुक्ति चाहता है। स्वलक्षण-शील की मौलिकता इतर-संभावना—जो विपरीत नहीं, भिन्न दिशा है, में अपना मोक्ष पाना है। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं के अतिरिक्त ईशान, वायव्य, नैऋत्य और अग्निकोणों की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। जिस तरह ऊँट के पश्चिम भागने की कपोल-कथा से हम हँस पड़ते हैं उसी तरह प्रत्याशित संभावनाओं को चुनौती देने वाला शील स्वलक्षण कहलायगा। स्वलक्षण-शील में प्रतीक्षा कम, इच्छा अधिक, प्रयास कम, आकस्मिकता अधिक होती है।

प्रत्याशा की इस पराजय का कारण होने के नाते स्वलक्षण-शील बहुधा हास्य का स्रोत भी होता है। Goldsmith का Tony Lumpkin अपने ही बहनोई को गुमराह करता है और अपने ही वाप के घर को सार्वजनिक भोजनालय बताता है। फिर अपने ही आर्थिक हितों के विरुद्ध षड्यन्त्र कर माँ के विरोधी के रूप में भी अपने ही घर चोरी कराता है, क्योंकि

एक ग्रामवाला, जो औरों की निगाह में फूहड़ और बेतरह मोटी है, उसको जँच गयी है। पाठक, श्रोता या द्रष्टा को ऐसा लगता है कि स्वलक्षण-शील पात्र उससे बाजी मार ले गया—समाज को, परम्परा को, रीति-रस्म को, शिष्टाचार के प्रतिबंधों को, सभ्यता की नाकेबंदी को चुनौती दे कर, आत्माभिव्यक्ति में सफल हो कर। जहाँ पुत्र माता के पति हो जाते हैं, वहाँ स्वलक्षण नहीं, क्योंकि यहाँ कोई समाज का प्रतिवन्ध नहीं है। ऐसे शील का निर्माण जीवन से नहीं, निसर्ग से नहीं, बल्कि ग्रन्थों से प्रेरणा लेता है और मानवीयता के सामान्य लक्षण से पूर्ण और तात्त्विक विच्छेद कर बैठता है। इनका विचार रुग्ण-शीलों के अन्दर आयगा, नहीं तो हर पागल आदमी स्वलक्षण-मौलिकता का कुंकुम-विन्दु अपने भाल पर लगाना चाहेगा।

दूसरा दोष यह है कि ऐसे आदमी का शील संयुक्त अन्विति न हो कर असंपृक्त अंश हो जाता है। पारिवारिक जीवन में, साहचर्य से, भाई-बहन, माता-पुत्र, सखा-सखी, (भाभी-देवर सम्बन्ध का एक रूप) आदि के सम्बन्ध की पवित्रता भी व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है। मल और दूध, मूत्र और मक्खन के प्रति स्वस्थास्वस्थ विवेक की सत्ता उड़ा नहीं दी जा सकती। यदि यह कहा जाय कि हमारे शैशव, उन्माद और मादकता के आवेश में ऐसे विचार नहीं रहते, तो विशुद्ध शैशव, उन्माद और मादकता का विचार भी शील-निरूपण के लिए विषयान्तर ही है।

दो-एक उदाहरण देख लें। डायोजनिज नामक सन्त और अनुशासन-सबल दार्शनिक एक टब में जीवन-यापन करता था। जाड़े के एक दिन भोर के समय जब सूरज उग रहा था, सिकन्दर आता है और कहता है— 'प्रवुद्ध, मैं कौन-सी सेवा आपके लिए करूँ? आज्ञा दें।' एक विश्व-विजेता का प्रश्न था यह। यदि डायोजनिज फल-फूल तक माँगता या कहता—'मुझे कुछ नहीं चाहिए' या कहता—'तुम रक्तपात करना या स्वतंत्रता का अपहरण करना छोड़ दो', तो उसका शील साधुओं के परम्परायुक्त शील की आवृत्तिमात्र होता। किन्तु विना सोचे-विचारे, प्रत्याशित संभावनाओं के रहते भी, डायोजनिज ने कहा—'तुम सूरज की धूप और मेरे बीच खड़े हो, हट जाओ।' डायोजनिज ने माँगा, पर यह संभावना हम लोगों की कल्पना में न आई थी। पर ऐसा भी नहीं लगता कि मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता था। शान्ति ही आनन्द है और शान्ति की स्वतंत्रता की यह माँग हमारे हृदय की, मानवीय स्थल की माँग मालूम होती है। डायोजनिज बाजी मार ले गया। उसके ऊपर सिकन्दर की अलौकिक आभा का आतंक (halo-effect) न छा सका। वह डायोजनिज रहा—आत्मस्थ, अन्त तक। इस अप्रत्याशित या इतर-संभावना के सर्जन से ऐसे स्वलक्षण-शील में विदग्धता (Wit) का गुण पाया जाता है। पर विडम्बना जहाँ मस्तिष्क की जागरूकता का परिणाम है वहाँ वह स्वलक्षण-शील हृदय का प्रत्युत्पन्नमतित्व भी है।

शेक्सपियर के Measure for Measure में एक अपराधी को फाँसी की सजा दी गई है। वह तृणशय्या पर लेटा है—सुखद आलस्य की गोद में आत्म-विभोर हो कर। कर्मचारी आते हैं, कहते है—चलो टँगने का वक्त हो गया। अब यदि वह कहता—'एक बार माँ से मिल लेने दो, या, भाई, रिश्वत ले लो, छोड़ दो', आदि-आदि, तो शील सहज तो होता, साथ ही साथ रूढ़िसम्मत (Stereoo typed) भी, यानी मुद्रालय में ढला जैसा। उसकी प्राण-मुद्रा मुद्रित-

सी दीखती, आत्म-मुद्रित नहीं। वह कहता है—'अजी, जाओ भी, आज मरने को जी नहीं चाहता। इस मौसम में—(कल्पना से जोड़ लें, सिहरन की वासन्ती सर्दी होगी)—भी कोई शरीफ मरेगा ?' इतनी भयानक और विषम परिस्थिति के भय-पुलक, हर्ष-पुलक में बदल जाते हैं। इस स्वयं-पर्याप्त, परिस्थिति-विभोर उदात्त आलस्य शील के अनुपम सौन्दर्य के सामने मूक ही होना पड़ता है। व्यावहारिक बुद्धि इस प्रमादग्रस्त मूर्खता पर हँसती है। पर कौन कह सकता है ऐसा साहस सौ में एक आदमी में भी होगा ? अनेक के बीच एक की ऐसी शीर्ष-भंगिमा मनोहर चीज है, जो बरबस ही अपनी विचित्रता से हमारा प्रसादन करती है। घोर तामसिकता से अवसादन ही नहीं, प्रसादन भी होता है। शुक्ल जी का निष्कर्ष ऐसे शीलों को भूला-सा दीखता है। कौन ऐसी मस्ती से पेश आना नहीं चाहेगा ? स्पष्ट है यह पात्र मरने से भागता नहीं—कायर नहीं है। केवल एक काल-विशेष में मरने की क्रिया करना चाहता है। वह कालसहधर्मी है, कुछ कोरा रूढ़िबद्ध नहीं। उसका अहं, उसकी आसक्ति, उसके अभ्यन्तर की यह सरल ग्रन्थि उसे हृदय के निकट बिठाती है। ऐसे 'हृदय लपेटे अटपटे' सबके ही तो सगे हैं—ऐसों पर तो 'करुणाअयन' भी विहँसते हैं ! हृदय के प्रत्युत्पन्नमतित्व का भी यह एक निराला उदाहरण है। शेक्सपियर के हास्य-प्रधान नाटकों में सर्वप्रिय पात्र फाल्सटाफ रणभूमि में बारूद के स्थान पर ब्राण्डी की बोतल ले जाता है। बर्नार्डशॉ का "Arms and the Man" वाला ब्लन्टश्ली (Bluntsehli) चॉकलेट और क्रीम ले जाता है। पर फाल्सटाफ मादकता की अतृप्त तृषा की तुष्टि के लिए ले जाता है और दूसरा व्यावहारिक बुद्धि से प्रेरित होकर, युद्ध के काल्पनिक सौंदर्य और धर्मान्धता की निस्सारता सिद्ध करने के लिए। शॉ का पात्र यह प्रचार करने के लिए है कि युद्ध में वीर-गति प्राप्त करने वाले, देशभक्ति से प्रेरित होकर आत्मोत्सर्ग करने वाले त्यागियों की अग्नि-परीक्षा नहीं, यह तो नरमेध से पूँजी बनाने वालों का निष्ठुर कुचक्र है, जिसमें दरिद्रता के शिकार, मृत्यु से जीविका उपार्जित करने को विवश युवक फँस जाते हैं। फाल्सटाफ का शील स्वलक्षण है, ब्लन्टश्ली शैली का आरोपित या दायित्व-वाहक शील है, जो शॉ के विचारों का बोझ सँभाले है। यह निर्विवाद है कि स्वलक्षण-शील का गुण गीत्यात्मक (Lyrical) होता है, वह प्राण का मुक्तक गीत है। वह दूसरों के छिद्रान्वेषण और आलोचना करने के बदले दूसरों को ही आत्मस्थ करना चाहेगा। ऐसे शील की अतिवादिता भी नैसर्गिक होती है। ब्राउनिंग की एक कविता में एक प्रेमी अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा विरहोत्कंठित मन से करता है। मन की लालसा इतनी तन गई है कि धैर्य का चरम बिन्दु भी निकट आ पहुँचा है। उधर बड़े घर की लाड़ली पिता, समाज, कुल, बन्धु-बान्धव आदि की दीवारों को फाँद कर आज कटिबद्ध हो अपने प्रेमी की होने आई है और कहती है इस क्षण में तेरी हूँ, सर्वात्मना। प्रेमी निर्निमेष देखता है और फिर प्रेयसी की ही कुन्तल-राशि से उसके गले का—पाश बना उसे वहीं घोंट देता है। वह ढेर-सी पड़ जाती है और प्रेमी अपने कपोलों पर उसके कपोलों को रख, फिर उसे अपने कन्धे पर रख, बैठे-बैठे रात गुजार देता है। भोर होता है, पर ईश्वर भी मूक है। उसने भी एक शब्द नहीं कहा। अद्वैत और प्रेम की पूर्णाभिव्यक्ति, परत्व को स्वत्व बनाने की यह शैली यदि मौलिक नहीं और फिर भी हार्दिक नहीं तो न मौलिकता ही कोई चीज है, न हार्दिकता ही। उसी तरह दवा की शीशियों की कतार देखते-देखते

ब्राउनिंग की एक दूसरी कविता में, मृत्यु-शय्या पर पड़े प्रेमी की स्मृति उसकी प्रेयसी की छवि जगा देती है। बगल में पादरी उससे प्रायश्चित्त या कृत-स्वीकृति की आशा में बैठा है। वह सब कुछ कहता चलता है ,फिर एक आकस्मिक प्रत्यावर्तन के आवेश में, एक वैयक्तिक उमंग में, कहता है—'यह भी कैसा पागलपन था, कितना दुःखद, पर बुरा न था'। पादरी रूढ़िगत ढंग से उसका कलुषरेचन कराना चाहता है और उसने अपनी भोक्तृत्व-पद्धति से अपनी आसक्ति और अपने अहं को जीवित रखा और अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को ही प्रश्रय दिया। यह है (Personal ethics) व्यक्ति का निजी धर्माचरण, जिसका सत्य भावों के बाल-सरल उद्घाटन में है। ऐसे लोगों में बेहयाई की भी झलक एक विशेष चश्मे से देखने पर मिलेगी।

प्रेक्षक या पाठक में मूलबन्धुत्व जागरित करने की क्षमता शील-वैचित्र्य का प्रथम और अन्तिम अंकुश है और शील के आश्रय में हमारी श्रद्धा और आस्था का आधार है। मूलबन्धुत्व कर्त्तृत्व के मूल में भोक्तृत्व के स्थायी उपकरणों से ही लिप्त रहने की माँग है, कर्मों को प्रेरित करने वाले शाश्वत सुखात्मक या दुःखात्मक भावों की प्राकृतिक भोग-पद्धति की माँग है। यह व्यष्टि में समष्टि-निवेदन का व्याप्ति-नियम है। कोई मानवीय व्यापार नितान्त उद्भिज्ज या खनिज, विजातीय या सूक्ष्मयोनि-संभवी-सा न दीख पड़े , यह आवश्यक है। अशोक का कलिंग-विजय में द्रवित हो जाना, ह्यूगो के जीन वाल्जीन का धर्मगुरु के सद्व्यवहार से पर-दुःख-कातर हो जाना, उन्हें नितान्त खनिज होने से बचाता है, नहीं तो वे हृदय की शिला बने रहते और उनके शील का अहल्योद्धार न हो पाता। काम से क्रोध उत्पन्न होता है— गीता की यह चेतावनी हम जानते हैं, पर ऐसा काम बाधित या अतुष्ट काम होगा। शंकर का कामदेव पर प्रलयंकर क्रोध परिस्थिति-सापेक्ष नहीं मालूम पड़ता है। यदि शंकर कामोत्तेजित हो किसी अप्सरा से उलझ पड़ते, फिर पीछे सारे षड्यन्त्र का और अपनी आकस्मिक दुर्बलता का ज्ञान होता, तो कामदेव पर उनका क्रोध माननीय-सा दीखता। ऐसा न होकर समाधि टूटी, इधर-उधर देखा और छिपे कामदेव पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें क्रोध हो आया। काम और क्रोध कारण-कार्य न हो कर एक पत्र के दो तात्कालिक पृष्ठ हो जाते हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि समाधि-सुख सहवास-सुख की अपेक्षा सहस्रगुण अधिक आनन्दमय होता है। यह भी सिद्ध होता है कि वास्तव में काम-सुख की प्राप्ति ने शंकर को वंचित किया, अपहृत किया, कुछ आनन्द की वृद्धि नहीं की। इस हानि पर वे हानि के कारण के लिए त्रिलोकनाशी रुद्र हो गये। पर समाधि-सुख की अनिवर्चनीयता, कैलाश का तुरीयस्राव हमारे अनुभव की बात नहीं। इसलिए शंकर का रोष हमारे लिए मूल-बन्धुत्व का रोष नहीं, अन्तरिक्ष के विद्युत् का है। यह सूक्ष्मयोनि-संभवी है और विशुद्ध देवता का है। नारद-मोह और फिर नारद-ज्ञान, तत्पश्चात् नारद का शाप, समझ में आने की बातें हैं। उसकी प्राणशक्ति की गति और क्रियायें मानव का समष्टि-निवेदन है। शेक्सपियर के टाइमन की अतिदान-शीलता को जब कपटशूल मित्रों की कृतघ्नता से आघात पहुँचता है तो वह मनुष्य जाति का द्रोही बन जाता है—कुसुम से भी मृदुल, वज्र से भी कठोर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य और स्वर्ण का एक-एक कण उसके लिए उस मूल प्रकृति के प्रतीक बन जाते ह, जिसका परिणाम कृतघ्नता है। राग का घृणा में यह परिवर्त्तन कालसहधर्मी होने के अतिरिक्त हमारे नैसर्गिक

सत्तातत्त्वों में किसी नूतन तत्त्व के आविष्कार-सा नहीं दीखता वल्कि उन्हीं के घनत्व या विप्लव-सा प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे शील को हम हृदयंगम कर सकते हैं।

काव्य के अवतार-विधान में मूल वन्धुत्व के आग्रह से विशेष घनिष्ठता और प्रासंगिकता है। अवतार शील-निर्माण का वड़ा ही अनाशुतोष परीक्षण है। अव्यक्त और अमल चेतना का अवतरण तीन प्रकार से हो सकता है --(१) विल्ली की भाँति--विल्ली ऊँचाई से गिरती है और पंजों के वल ज्यों को त्यों खड़ी हो जाती है। Bunyan के Pilgrims Progress या Spencer के Fairy queen के पात्रों का शील इसी कोटि में आता है। संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास से परिचित पाठक जानते हैं कि कृष्णमिश्र के 'प्रवोध-चन्द्रोदय' के पात्र विवेक और मोह, प्रवोध और विद्या, मति और दम्भ, श्रद्धा और मिथ्यादृष्टि, न्याय और सांख्य आदि में अवतरण को ज्यों का त्यों रख दिया गया है। यह विकार-मुक्त अवतरण है। इनकी सत्ता अर्थसांकेतिक है। यही अर्थसांकेतिक अवतरण(१)मार्जारावतरण है। पात्र ऐसे लगते हैं मानों घुटी खोपड़ी पर हिंगोट का तेल लगा कर कोई कहे-'देखो, मैं मुनि हूँ।' (२) घड़े की भाँति या घटावतरण--घड़ा पृथ्वी पर गिरता है और चूर-चूर हो जाता है; चाहे तो मिट्टी मिट्टी में मिल जाय-यदि वह घड़ा भी कच्चा है। इसमें अलौकिक की अलौकिकता लुप्त हो जाती है और इतनी घोर तामसिकता आ जाती है कि सात्विक ज्योति का नाम ही नहीं रह जाता। दुर्गासप्तशती की चण्डी को इस कोटि में रख सकते हैं। शेक्सपियर के A Midsummer Night's Dream में परियों के, राजा और रानी के अलौकिक गुणों का केवल वर्णनमात्र हुआ है। जहाँ उनके शील की कर्मों में अभिव्यक्ति हुई है,वहाँ तो वे साधारण मनुष्यों से भी गये वीते हैं। (३)वादलों-सा अवतरण या मेघावतरण-वादल उतरते ही जल वन जाते हैं,जगत् की सीमाओं के अनुरूप अपनी आकृति बनाते हैं, फिर भी उनका तात्त्विक सातत्य वना रहता है। कूपाकार, सरिताकार, घटाकार, जल हो जाता है। राम सीता के विरह में 'खग मृग मधुकर श्रेनी' से विह्वल और कातर हो सीता का पता लगाते हैं और सोने के मृग के पीछे दौड़ मातामृगी के व्यंग्य के शिकार होते हैं। एक ओर वे विभीषण-सुग्रीव के साथ पक्षपात करते हैं, तो दूसरी ओर परशुराम, रावण आदि के सामने, ऋषियों के लिए वन को निरापद करने, अहल्योद्धार करने, शान्ति,आनन्द और करुणा विखेरने में अलौकिक आभा से युक्त दीखते हैं। केवट और शवरी के राम नितान्त कफ, पित्त और वात वाले मनुष्य ही नहीं हैं। फिर भी राम अपनी करुणा में केवट पर हँसने, शरणागत विभीषण को अभय-वैभव दान देने, समुद्र पर कुपित होने, जयन्त को सवक सिखाने, शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजने आदि में सहोदर-से मालूम पड़ते हैं। यदि किसी पात्र में लम्ब स्थैर्य (Vertical Rigidity) इतना अधिक हो कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से वह पूर्णतः मुक्त दीख पड़े तो वह केवल आश्चर्य और आतंकपूर्ण आदर का पात्र भले ही हो, भ्रातृभावना अर्जित नहीं कर सकता।

यहाँ एक प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक दीखता है। वह यह कि यदि अत्यन्त विनीत प्रजा-जन किसी राजा के निकट जायँ, और उनके गिड़गिड़ाने पर कुपित हो यदि राजा उन्हें

कोड़े लगवाये तो ऐसे राजा का शील मूलबन्धुत्व जागरित करने की क्षमता रखता है या नहीं? हूण सम्राट् मिहिरकुल मनुष्यों के तड़पने-चिल्लाने पर आह्लाद की व्यंजना करता है। शुक्ल जी का निष्कर्ष यह है कि हृदय ऐसी विलक्षणता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा, उस आह्लाद में दर्शक या श्रोता का हृदय योग न देगा। हाल में जब एबिसिनिया पर बम गिराये जाने लगे तो आकाश-मार्ग से विमान-विहार करते मुसोलिनी की आत्मा आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठी थी। Marlow का टेम्बरलेन भी नृशंसता और क्रूरता का दानव-सा दीख पड़ता है। जर्मनी में नाजियों के एक विशेष जीवन-दर्शन से विक्षिप्त होने के परिणामस्वरूप, रक्त की अन्धी साम्प्रदायिकता के आत्म-गौरव के फलस्वरूप, आह्लादमयी क्रूरता और परपीड़न-विलास की जो सामूहिक लहर चल पड़ी थी, हिटलर युग के जर्मनी का प्रत्येक यहूदी इसका साक्षी है। ईर्ष्याजनित परपीड़न या आत्मरतिजन्य स्वपीड़न मनोविज्ञान की प्रतिष्ठित मान्यताएँ हैं। ऐसी अवस्था में पात्र में ऐसे रक्षक गुण न भी हों जिनसे वे हमारे प्रियबंधु जान पड़ें तो ऐसे गुण तो अवश्य होंगे जिनसे उनके आलंबन के प्रति हमारा बंधुत्व जान पड़ता है। अशोकवाटिका का रावण, सीता की करुण परिस्थिति का निर्माण करता है; वह आश्रय नहीं, उसके शब्द अनुभाव नहीं, उद्दीपन हैं। आश्रय हैं गोस्वामी जी या तरु-पल्लव में छिपे हनुमान्। परन्तु ऐसे शीलों की सत्ता उभयात्मक होती है। एक ओर तो दीन अबला के प्रति क्रूरता से पेश आ कर ऐसे पात्र उद्दीपन-विभाव का काम करते हैं, (उनका वही योगदान होता है, जो रति में कोयल की कूक का; सीता राम के वियोग में दीन बनी ही हैं कि रावण के वज्र वचन उनकी करुणा को और भी मर्मस्पर्शी बना देते हैं। और, दूसरी ओर ऐसे पात्र स्वयं आलंबन भी बने रहते हैं। इनकी क्रूरता के प्रति हम (पाठक, प्रेक्षक या श्रोता) घृणा तथा रोष से भर जाते हैं। घृणा और रोष का हमारे जीवन-तत्वों की भोक्तृत्व-पद्धति से संबंध है। ऐसे पात्र निसर्ग-सापेक्ष तथा प्रकृति-परिमित हो कर हमारे बन्धुत्व को जागरित करते हैं, बन्धुत्व को समरतत्पर, विरोधाकुल वीरता से भर देते हैं। वे राघव-बन्धु न होकर कौरव-बन्धु हो जाते हैं। फिर शूर्पणखा के अपमान तथा मुनि-शत्रुओं के मित्र राम की पत्नी सीता है, इसे क्यों भूल जायँ? उन्मत्त विजेता का अट्टहास शक्ति की मौलिक वासना का अतिशयोक्तिस्वरूप ही है। कुछ हद तक अत्याचार का कारण जितना ही दुर्बल होगा, अत्याचारी का शील उतना ही अनायास होगा और उसके प्रति हमारी घृणा और क्रोध का घनत्व उतना ही अधिक होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मात्रा-भेद से गुण-भेद आ जाय। शील संस्कृति-कृतघ्न हो यह तो सहा भी जा सकता है परन्तु निसर्ग-स्वतंत्र हो यह मन नहीं स्वीकार कर सकता। कोई मूर्ख की प्रशंसा करता है तो यह रति का व्यभिचार हो कर, संकर-व्यापार द्वारा एक स्वतन्त्र रस (हास्य रस) बन जाता है। ऐसा आदमी व्यंग्य-कुशल होकर 'विदग्ध' कहलायगा। उसे शील-वैचित्र्य के नाम पर फाँसी पर लटका नहीं दिया जायगा। बुद्धि द्वारा निर्मित और बुद्धि को विद्युत्-आघात पहुँचाने वाले प्रसूत, व्याख्यात्मक, विकल्पात्मक, उन्मेषनिःशक्त, प्रज्ञासाध्य चरित्र मूलबंधुत्व नहीं जागरित करते, शील का शल्यपांडित्य दिखाते हैं। उनसे केवल क्रीड़ा या विनोद संभव है, परिणय नहीं। साधारणीकरण की क्रिया में असाधारणीकरण भी रहता है। धीरोदात्त, असाधारण साहसी, असाधारण रति के भाववाले शील के प्रेक्षण में हम पात्र

की अतिशयता से अपनी सामान्य साधारणता घटाते हैं। इस ऋण की क्रिया के अनन्तर जो शेष बचता है वही शील की स्थिति की आवश्यक माँग है। विशेषता इसी अतिरिक्तता का कार्य है। यही कारण है कि दाम्पत्य जीवन का सामान्य निर्वाह करने वाले पति-पत्नी का कोई शील नहीं होता, क्योंकि इसमें नवोन्मेष नहीं दीखता। जब किसी दम्पति में पत्नीपरायणता या पातिव्रत्य का असाधारण आग्रह हम देखते हैं तो सावित्री,पार्वती, या गांधारी की संभावना चरितार्थ होती है। आरुणि की गुरुभक्ति के कारण बाँध पर सो जाने में मूर्खता का सुस्वादु ह्रास भी हाथ लगता है। हम इनकी प्रवृत्ति में लीन होते हैं, इसलिए कि अपनी न्यूनता या अविकसित सामान्यता का विसर्जन कर दें। अभाव-पूर्ति की कामना से अनुप्राणित हो कर हम ऐसे शीलों के साक्षात्कार से एक तरह के सम्प्रदान-संतोष या निमित्त-लाभ का भोग करते हैं। जो हम न हो पाये, हमारे लिये वे पात्र कर दिखाते हैं। उस वक्त हम 'जायाजीव' हो जाते हैं। संस्कृत में मंच के अभिनेताओं को कभी-कभी 'रूपाजीव' या 'जायाजीव' कहा गया ह, क्योंकि वे अपनी पत्नियों की वेश्यावृत्ति पर जीते थे। ऐसे ही जायाजीव सुख का लोभ और लाभ हमको उनमें लीन करता है। जब ऐसा असाधारणीकरण अप्रिय,और अशिव वृत्तियों का होता है तो मूलबंधुत्व का गत्यात्मक स्वरूप प्रतिकूल बंधुत्व में देखने को मिलता है। राघव और कौरव बंधुत्व की दो शाश्वत दिशायें हैं सहोदर और अन्योदर। स्नेह और ईर्ष्या की भावनाएँ व्यापक और शाश्वत हैं। इसलिए जहाँ हम शील-रमण न कर शील-द्रष्टा हो जाते हैं वहाँ राघव-बन्धुत्व का साक्षात्कार न कर हम कौरव-बंधुत्व का करते हैं और इस प्रत्यक्ष के प्रति हमारी प्रतिक्रिया पाण्डव-प्रतिक्रिया होती है, जिसमें हम कटिबद्ध हो, भावोद्वेलित हो हृदय से क्षुब्ध होते हैं। इसलिए ऐसे शील भी मूलबन्धुत्व के भीतर आयेंगे। और, साधारणीकरण की संकीर्ण व्याख्या से शील-व्यंजना को श्रृंखलाबद्ध नहीं किया जा सकता।

जहाँ कलाकार किसी शील का निर्माण जीवन की पद्धति पर न कर, शील को जीवन का सहोदर न बना कर,जीवन को मतिकल्पित व्यवस्था का अनुचर बना देता है वहाँ शील की अपादान स्थिति हो जाती है, जो पार्थक्य-बोधक है। ऐसे शील रस-शील न हो कर कौतुक-शील हो जाते हैं। बुद्धि द्वारा निश्चित जीवन-दर्शन या सामाजिक व्यवस्था को उदाहृत करने वाले ये शील होते हैं,जिनसे आपके ज्ञान की वृद्धि हो सकती है,रस का उद्रेक नहीं। Man and Superman में स्त्री-पुरुष के मकड़ी-माखी, बाज-लवा, अजगर-आदम सम्बन्ध पर आधारित जो शील-विधान किया गया है वह नूतन नर-नारी का मालूम पड़ता है और मूल-बन्धुत्व की क्षमता नहीं रखता। रति का यह विपरीत मृगया-विधान, जिसमें शिकारी भागता है और मृगी पीछा करती है, अभूतपूर्व-सा दीखता है। स्त्री, प्राणशक्ति के प्रयोजन का अवतार है, पुरुष एक आवश्यक निमित्त कारण है। पात्रत्व प्राणशक्ति का प्रयोजन है, मिट्टी कुदाल के दण्ड के पीछे दौड़ती है जिसमें प्रयोजन चक्र चलता रहे और जाति की सत्ता बनी रहे। व्यक्ति का आचरण एक निष्ठुर नियति की राग-बधिर अनिवार्यता की वैज्ञानिक व्यवस्था हो जाता है। शॉ के संसार में लैला-मजनू, पद्मावती-रत्नसेन, रोमियो-जूलियट, एन्टनी-क्लियोपेट्रा, दुष्यन्त-शकुन्तला, कृष्ण-राधा के प्रेम की विशेषता के लिए स्थान नहीं! ऐसा प्रेम सिर्फ एक भारी गप्प है। ऐसा प्रेम, भावना-विलास

का व्यक्तिगत मोह है, अतएव शॉ के प्रबुद्ध संसार में वह स्थान नहीं पा सकता। शॉ इसे व्याहारिकता में बाधा पहुँचाने वाली रुग्ण भावुकता मानते हैं और प्रेम में प्रयुक्त होने वाले 'मेरे हृदय की रानी' और 'मेरे हृदय के राजा' आदि संबोधनों को स्वप्न-संगीत या सारहीन मानते हैं। उनके दूसरे नाटक में एक पात्र, एक दृश्य में, एक सुन्दरी पर अपने प्रेमोद्गारों का पीयूष-वर्षण करता है और फिर सुन्दरी के हटते ही गृह-अनुचारिका से भी प्रणय प्रारंभ कर देता है। प्राण-शक्ति की भूख तृप्त होती है। बात यह है कि शॉ के पात्र आत्महनन और रस-निर्वासन के पात्र हैं। उनकी सत्ता मतिदम्भपुरस्सर है। उनकी प्रतिभा आदमकद नहीं। शॉ द्वारा निर्मित पात्रों में शील का केन्द्र सर ही है। शॉ गले से ऊपर के शील के विशेषज्ञ हैं। हार्डी का क्रिस्टफर कोनी मुर्दों के साथ कब्र में दफनाये पैसों को निकाल कर शराब पी लेता है। 'मस्तों की, गप्पियों की यह टोली जीवन की चार्वाक्-शैली अपनाये फिरती है। क्रिस्टफर का कहना है कि मौत को जिन्दगी के साथ चार पैसे भी क्यों चुराने दिया जाय? शील के द्वारा, चोर के मुख पर, यह एक तमाचा है। बाद में इस पर पंचायत बैठती है। क्रिस्टफर की इस अधार्मिकता की निन्दा भी होती है; पर, प्रधान न्यायाधीश का फैसला यह है कि—'भई, यह क्रिस्टफर की बदमाशी है। महज चार पैसे के लिए कब्र खोदना ठीक नहीं, छै पैसे हों तो बात कुछ और है। यह है जिन्दादिलों की पूँजी-सापेक्ष साधुता। उपभोग की इस खैयामी बेखुदी से वे हमारे अंतस्तल में पड़ी वासना का मर्म छू देते हैं, और मूल-बंधुत्व अर्जित कर लेते हैं। यही बात यदि शॉ को दिखानी हो तो उनका पात्र आँकड़ों की दशमलव-साधुता से यह सिद्ध कर देता कि कब्र में गड़े मुर्दों के साथ दफनाई पूँजी वंध्या-सी पड़ी रहती है और व्यवसाय में उसके उपयोग से समाज का कितना हित होगा। और, वह किसी तुषार गणित की बुद्धि के द्वारा निश्चित योजना से कब्र की खुदाई करता, मुर्दों को फेंकवा देता और श्मशान को उपजाऊ खेत बनाता। इतिहास को, या एक विशेष योनि के जितने संस्कारों को हृदय अमिट रूप से ग्रहण करता है उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। शिक्षित सभ्यता अपनी बुद्धि की छुरी चलाती और मानसिक आलस्य का कद्दू कट जाता। शॉ के 'शैतान का चेला' नामक नाटक के नायक की ऐसी ही विशुद्ध बौद्धिक प्रगल्भ सत्ता है। शॉ के पात्र बड़े ही वाचाल और तर्कप्रवीण होते हैं। विचारों का, दृष्टिकोणों का, विरोधाभासों का, मल्लयुद्ध देखते ही बनता है। 'शैतान के चेले' के पिता की मौत होती है और वह कबाब की माँग करता है। वह पादरी की बीबी को यह कह कर चौंका देता है—'घृणा के स्वांग के पीछे तुम मुझ से प्रेम करती हो'। वह पातिव्रत्य को कोरी भावना या समाज की जर्जरित रूढ़ि सिद्ध करता है। पीछे शत्रुओं से पादरी को बचाने के लिए उसका ओवरकोट ले शूली तक चूमने को चल पड़ता है। फाँसी देने वाले शत्रुओं से वैसे ही तन कर बोलता है, और अपने प्रति प्रकट किये गये कृतज्ञता के उद्गारों को निरी मूर्खता समझता है, मानता है। ऐसा शील विशुद्ध विवाद-शील है और हमें परास्त करके छोड़ देता है, हृदय पर राज्य नहीं करता।

Huxley के **The Brave New World** के वैज्ञानिक शील, जो श्वानों की राल-व्यायाम पद्धति पर बनाये गये हैं, मौत के नाम पर आह्लादित और 'माता' शब्द की हास्यास्पदता पर चकित होते हैं। यन्त्र-मानवों का यह समुदाय-शील मस्तिष्क के सामान्यीकरण,

सरलीकरण के दृष्टान्त हैं, साधारणीकरण के नहीं। यह कार्य के लोक-व्यवहार की ऐसी नूतन सृष्टि है जिसमें व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव में भेद नहीं। मनुष्य रासायनिक ग्रन्थियों का एक यन्त्र है और उसका शील हमें ऐसा लगता है जैसे वालि के लड़कों को रावण की आकृति लगी—जब वे उसे एक विचित्र जन्तु समझ क्रीड़ा के लिए अस्तवल में ले गये। ऐसे पात्र मूल-वन्धुत्व अर्जित नहीं करेंगे। वे रज-वीर्य के बने नहीं मालूम होते, वल्कि रज-विद्युत् के।

पिठरपाक दर्शन का शब्द है। उसका व्यवहार निदर्शन कीं सुविधा से किया गया है, प्रदर्शन के लोभ से नहीं। पीलुपाक और पिठरपाक क्रमशः वैशेषिक और न्याय के परिवर्तन-सिद्धान्त हैं। पीलुपाकवालों का कहना है कि ताप से कच्चा घड़ा (अवयवी) अपने परमाणुओं (अवयवों) में विशीर्ण हो जाता है। फिर इन लाल परमाणुओं से एक दूसरा घड़ा तैयार होता है। इसके विपरीत लोक-सम्मत-सिद्धान्त, जो न्याय-सिद्धान्त से मेल खाता है, पिठरपाक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार घट और उसके परमाणुओं में रंग का परिवर्तन एक साथ होता है, कोई दूसरा घड़ा उत्पन्न नहीं होता। पात्रों के सम्बन्ध में दोनों पद्धतियाँ देखी जाती हैं और पात्रों में पिठरपाक परिवर्त्तन ही निसर्ग-सम्मत है।

वनवास के ताप में राम के चरित्र का कच्चा घड़ा रख दिया जाता है। राम वन जाने के पहले भावना से अधिक कर्त्तव्य-पालन में उत्साह पाने वाले जीवनभोक्ता हैं। वनवास में राम, सीता के विरह में विलखने, लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर रोने, वन का कष्ट झेलने और रावण से भयंकर युद्ध करने को वाध्य होते हैं। अव यदि सीता-वनवास के समय राम अपने कर्त्तव्य से मुकर जाते तो मर्यादा की दृष्टि से तो अलग, शील की दृष्टि से भी वे अन्य राम दीख पड़ते—ऐसा लगता कि राम ने आज्ञा-पालन कर, दूसरों के प्रति करुणा कर, लोक-रक्षा और लोक-रंजन कर यह ज्ञान प्राप्त कर लिया कि यह मार्ग वड़ा ही कष्टकर है, इस झमेले में कौन पड़ने जाय! उनके शील के ज्ञान-पक्ष के अणु का पकना, लोक-सम्मति, संकोच और लोक-संग्रह से हट कर उपभोग के रंग में होता; कर्म के अणु- युद्ध, स्वावलंवन, समुद्र-सेतु-वन्धन आदि से अव राज-सुख, दाम्पत्य-सुख, सन्तति-सुख आदि के रंग में पकते। भाव-पक्ष के अणु, करुणा और पर-हित में निहित शान्ति के रंग से वदल कर भय, कायरता आदि के रंग में रँग जाते। इसी तरह इन तीनों परिवर्त्तित अणुओं और उनके रंगों से एक दूसरे राम होते, जो एक धोवी क्या, वशिष्ठ के कहने पर भी वधिर वने रहते। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का आविर्भाव शील का लक्षण हो सकता है पर एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्नप्रतिक्रियाएँ शीलका नैरात्म्यवाद है, क्षणिकवाद है, जिससे किसी अन्विति की संभावना नहीं। यदि राम जटायु का श्राद्ध नहीं करते, विभीषण को संकोच से संपदा नहीं देते, शवरी के घर नहीं जाते, जयन्त को दण्डित नहीं करते, तो परिस्थिति की नाट्यशाला में टँगे चित्र की भाँति वे विकार-मुक्त होते। इसलिए उनकी भिन्न-भिन्न परि-स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ ठीक हैं; पर साथ ही वैयक्तिक सुख और लोक का आदर्श, प्रेम-भावना और कर्त्तव्य के द्वन्द्व में कर्त्तव्य में ही अपने को सुखी जानना, राम के समस्त व्यक्तित्व की वीज-कौमुदी है। (इसलिए 'भावना वनाम कर्त्तव्य'—ऐसी परिस्थिति की आवृत्ति में कर्त्तव्य-पालन की आवृत्ति ही उनके शील की अनिवार्यता होगी)। इसलिए राम के वनवास की अग्नि के

बाद जब उनके चरित्र का घड़ा पक कर तैयार हुआ तो घड़ा वही था, भले ही रंग बदल गया हो। नीति-निपुणता, धैर्य, पिता के मरण और भरत के वियोग; तप को ले कर कुछ उन्मन अवसाद की भावना; हनुमान्, सुग्रीव, अंगद आदि साथियों के प्रति स्नेह के साथ कृतज्ञता की भावना; और दुष्टों के दमन से सन्तोष और हृदय का हल्कापन आदि इस वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण होंगे। ऐसा चित्रण, ऐसा शील-विधान पिठरपाक शील-विधान है, जिसमें व्यक्तित्व के तीनों सत्ता-तत्त्व संपृक्त रहते हैं और एक साथ बदलते हैं।

इसी प्रकार यदि किसी ऐसे शील का विकास दिखाया जाय जिसके आरंभ की अभिव्यक्ति एक सन्त के इन्द्रिय-दमन और आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में हो और कथा में प्रलोभनों का कुछ ऐसा आकर्षण और सशक्त सान्निध्य हो कि यह सन्त-प्रकृति व्यक्ति घोर कामुकता में ग्रस्त हो जाय तो शील की सत्यता के लिए हमारी माँग क्या होगी? हम यही चाहेंगे कि प्रारंभिक अभिव्यक्ति में ही इस विस्फोट की सम्भावना की बीजावस्था की ओर संकेत कर दिया जाय, जिससे हम धवल आध्यात्मिकता के साथ संपृक्त इस वासना को ऐसे व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग मानते चलें। यही नहीं, यदि पूर्वावस्था की स्मृति जीवित रहे और स्मृतिजन्य द्वन्द्व या आत्म-ग्लानि बनी रहे तो हमारी सहानुभूति अपेक्षाकृत तीव्रतर होगी। परिवर्त्तन समूची मानवता का एक साथ होगा—आध्यात्मिकता में कामुकता का मिश्रण होगा और कामुकता में आध्यात्मिकता-का। यदि ऐसा न होता तो इश्कमजाजी का इश्कहकीकी का जीना नहीं कहा जाता और सूर-तुलसी का, कामियों से सन्तों में, परिवर्त्तन हमारे लिए कुतूहलमात्र होता, एक अद्भुत चमत्कार होता। तुलसी राम को भी कहते हैं —

"कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम॥"

तुलसी का परिवर्त्तन हुआ है, रंग बदल गया है, पर मायके तक दौड़ जाने वाले, सर्प को रस्सी समझ लेने वाले तुलसी ही बदल गये हैं, नये तुलसी नहीं आ टपके हैं।

जहाँ साधना से योगी पूर्णतः वीतराग हो जाते हैं, वहाँ एक निरपेक्ष शील का आविर्भाव होता है। ऐसे शील काव्य के विषय नहीं। हैमलेट का अपने पिता के भूत से साक्षात्कार होता है और माता की जघन्य अपवित्रता का ज्ञान होता है, तो एक साथ हैमलेट के ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों में संशय का घुन समा जाता है। माता अपवित्र तो रक्त का स्रोत अपवित्र, पुत्र के शरीर का कण-कण अपवित्र! और वह चाहता है कि उसकी ठोस मांस-अस्थियाँ ओसकणों में पिघल कर विलीन हो जायँ! नास्तित्व की इच्छा, जो इतनी शाश्वत है जितनी अस्तित्व की वासना, उसे पंगु बना देती है! उसकी अपनी प्रेयसी Ophelia भी आखिर औरत ही तो है! और सती भी तो कलंकित हो जाती है! कर्म में विलम्ब और फिर कर्म में विस्फोट, इसी अनिश्चय की अवस्था और विक्षिप्त तथा अव्यवस्थित चित्त के द्योतक हैं। Hugo के जीन वाल्जीन में, पादरी के सम्पर्क के बाद, जो मौलिक क्रान्ति होती है उसके बीज पहले से ही उसके शील में थे। उसधे बड़ी कठिनाई,

द्वन्द्व-यातना के बाद चोरी करने की कोशिश की। जेल के नारकीय जीवन ने उसके ज्ञान के अणुओं को नर-द्वेष के रंग में रँग कर, भावाणुओं को प्रतिशोध में रँग कर, कर्माणुओं को अपहरण, हत्या आदि में रँग दिया होता और इन नये रंगों के अणुओं से एक क्रूर हत्यारे और नर-द्वेषी के शील का निर्माण किया होता तो हम अपरितुष्ट रहते, क्योंकि हिंसा, अपहरण आदि से संकोच करने वाले पारिवारिक जीन वाल्जीन का शील खण्ड-खण्ड हो जाता और यह दूसरा वाल्जीन होता। इसलिए जब विप्लव की भयानकता लिये सहानुभूति, भ्रातृत्व और करुणा की बाढ़ उसके हृदय को एक बार डुबो देती है तो यह आकस्मिक परिवर्त्तन, दलित शील-धर्म का पुनर्जागरण और पुनरुद्घाटन है। हार्डी के हेञ्चार्ड के जीवन में ऐसा परिवर्तन होता है कि ऐसी परिस्थिति में शील की सजीवता के साथ निजधर्मिता का निर्वाह बड़े ही कुशल कलाकार का काम था। हेञ्चार्ड एक अकिंचन से कैस्टरब्रिज का मेयर हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पुराने दायित्वों, छोटी बातों, राह के कीड़े-मकोड़े से लगने वाले सम्बन्धियों आदि के प्रति वह उपेक्षा दिखा सकता था। आवेश में आ कर उसने स्त्री को बेचा तो आवेश की अवांछनीयता का पाठ उसे भुलाना चाहिए था। पर हेञ्चार्ड का शील, उसी आवेश, उसी त्याग, उसी प्रायश्चित्त, स्पष्टवादिता और अहंकार की घोर अतिवादिता के तत्त्व का सातत्य लिये हुए है, किसी बिल्कुल ही नये शील का आविर्भाव नहीं हो गया है जिसे हम पहचान न सकें।

—(क्रमशः)

काम और क्रोध

वास्तव में काम और क्रोध हमारे मन के सदा परिवर्त्तनशील प्रारूप हैं। युवावस्था में जिस पदार्थ को हम ललक से चाहते हैं और ललचते हैं, वही पदार्थ हमारी वृद्धावस्था में हमारी अरुचि और घृणा का पात्र बन जाता है। इस प्रकार, काम और क्रोध, माया-मोह या अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और वे अन्तरात्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के हमारे अविरल और अविचल प्रयास से ही दूर हो सकते हैं—वह अन्तरात्मा जो हमारी सदा चंचल मनोदशाओं की अचंचल साक्षिणी है। काम और क्रोध के दुर्गुणों पर सदा चिन्तन और आत्म-त्याग, सहिष्णुता, नम्रता एवं प्रेम आदि सद्गुणों के आचरण से भी काम-क्रोध बहुत कुछ वश में किये जा सकते ह।

"काम-क्रोध का विश्लेषण"— ले० श्री हरनाथ सहाय।
"बिहार", पटना, जनवरी, १९५१।

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

सम्पादक—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

(गतांक से आगे)

(ज) दुर्गास्तव—पृ० २७ से २८ तक—इसमें 'कमल-बन्ध' है।
(झ) शिवपंचाक्षर स्तोत्र—पृ० २८ से २९ तक।
(ञ) रामषडक्षर स्तोत्र—पृ० २९ से २९ तक।
(ट) द्वादशाक्षर स्तोत्र—पृ० ३० से ३१ तक।
(ठ) दुर्गा स्तोत्र (कष्टहरणं नाम)—पृ० ३१ से ३३ तक।
(उपर्युक्त सभी पुस्तिकायें संस्कृत में हैं।)

(ड) दुर्गानामार्थ दोहावली—पृ० ३४ से ३५ तक—इसके अन्त में लिखा है "दुर्गा को नामार्थ नग किंचित कियो प्रकाश। भैरव वेदहि ग्रह ससी सम्वत माघहि मास ॥२८॥" अर्थात् ये उपर्युक्त सभी रचनायें (पोथियाँ) सं० १९४८ में या इसके पूर्व लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त इनकी निम्न-लिखित अन्य रचनायें भी हैं:—

(ढ) छप्पै मध्याक्षरी—यह रचना अच्छी है। उदाहरण—'तरुन प्रमुष केहि कहत रंग कैसो पन्ना को। वैदेही पितु कवन भूमि-सुत कहिअत काको॥ दाडिम को का कहत कवन वाहन विधि सोहै॥ को गिरिजा को मातु-धातु पति कहिअत को है॥ आदि अन्त दुई परिहरो मध्यवरन में नाम है। कायस्थ वंश में है निपुन वसत पटेही ग्राम है॥१॥" उपर्युक्त पदों में रेखांकित शब्दों का क्रमशः अर्थ या भाव है—'जवान', 'सवुज', 'जनक', 'मराल', 'अनार', 'मंगल', 'मयना' और 'कनक'। इन शब्दों के मध्य वर्ण को मिलाने से वाबू नगनारायण जी का नाम हो जाता है। यह पोथी के पृष्ठ ४४ में है।

(ण) दोहावली—(१) इसमें दोहा, कवित्त, चित्र-काव्य के उदाहरण हैं। बीच में एक अध्याय ऐसी रचनाओं का है, जिसका शीर्षक है—(व्यवस्था-पत्र) लेक्चर। उसमें कायस्थ वंश का इतिहास भी है।

(२) यह पोथी ३० पृष्ठों में समाप्त है। दोहावली प्रारंभ होने के पूर्व विषय-सूची, और कविताओं की सूची भी दे दी गई है। प्रारंभ में लिखा है—

"सारन में छपरा जिला बरइ परगन जान ।
ग्राम पटेही बंसतु हौं गंगसमीप प्रधान ।।४।।
चित्रगुप्त के वंश में श्रीवास्तव्य सुकाम ।
है कायस्थ सुवंश में 'नग नारायण' नाम ।।५।।
छन्द भंग अनमिल बरन व्यर्थ उपमा होय ।
कवि-कोविद तेहि क्रिपा करि शुद्ध बनावहु सोय ।।६।।
सम्वत ससि ग्रह वेद दिन दिनकर मिथुना जान ।
कृपा देवगण से भयो·············।"

(३) कवि की यह कृति सं० १९४७ की है। इस ग्रंथ में—मुख, केश, भृकुटी, नयन, नासावुलाक, अधर, दशन, हास्य, वाणी, भुजा, कटि, जंघ, चरन, पद-नख-शोभा, गति, तन, तन-सुगन्ध, भूषण, षोड़श श्रृंगार, नख-सिख आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न छन्दों में वर्णनात्मक रचना की गई है।

(४) पुस्तिका की पृष्ठ सं० २३, २४ और २५ में चौपड़बन्ध, डमरुबन्ध, और वृक्षबन्ध की कविताएँ हैं। ग्रन्थ में किये गए निर्देश से प्रतीत होता है कि इस प्रकार के चित्रात्मक बन्ध-परक रचनाओं की कुल संख्या ५८ है।

(५) पृष्ठ सं० २६ से व्यवस्थापत्र (लेक्चर) प्रारंभ होता है। इसमें कायस्थ जाति और उसके विवाह, तिलक तथा अन्य सामाजिक कृत्यों के सम्बन्ध में व्यवस्था दी गई है। जैसे—

'श्लोक :—अशुद्धः शुद्धतां याति शुद्धो भवति किल्विषी ।
न च गंगा गया काशी जातिगंगा गरीयसी ।।

उल्था दोहा (उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद) —
होत अपावन पावनो पावन पापी जान ।
नहि गंगा काशी गया गंगा जाति प्रधान ।।

दोहावली—यथा—व्यवस्था —

प्रथम सुमिरि गणपति चरन गिरिजा पद धरि ध्यान ।
समाचार मंगल कहों कायथ जाति प्रमान ।।
भये पितामह काय ते चित्रगुप्त गुणषान ।
द्वादश सुत तिन्हके भये जग मंह विदित प्रधान ।।
श्रीवास्तव्य वसिष्ट पुनि माथुर अरु सकसेन ।
कर्ण सूर्यध्वज गौड़ कहि अवर निगम सुख देन ।।
अरिष्यन अम्बष्ठ अरु भटनागर कुलश्रेष्ठ ।
ऐ द्वादस कायस्थ हैं दुर्गापद तेहि इष्ट ।।

चतुर विचक्षण शास्त्रविद धर्मशील जयशील ।
प्रगटेव श्रीवास्तव्यकुल 'मुंशी प्यारेलाल ।'
देषि दशा स्थान की मन में कियो विचार ।
व्याह हौसिला के जलधि बुड़े सब संसार ।।
खान्दान स्थान के केते बहुत कुलीन ।
ब्याह समय अति खर्च ते भये सकल धनहीन ।।

इसी प्रकार इस व्यवस्था-पत्र में विवाह-समस्या-सम्बन्धी उपयोगी व्यवस्था दी गई है, जो पठनीय है ।

इसके अन्त में 'सम्वत् कार्त्तिक कृष्ण एकादशी, गुरुवार १९३०' लिखा है ।

(च) 'दुर्गा प्रेम तरंगिनी' के प्रारंभ होने के पूर्व 'प्रेम तरंगिनी' की व्याख्या के रूप में कुछ दोहे लिखे गये हैं, जो पृष्ठ सं० १०१ में हैं । उक्त व्याख्या-भाग के अन्त में निम्नलिखित दोहा है, जिसके विषय में कहा जाता है कि इसे बाबू साहब ने मृत्यु के दो दिन पूर्व बनाया था—
"सम्वत शशि ग्रह वेद दधि दिन कर मिथुना जान ।।
कृपा देव गुरुते भयो शुभ समाप्त अनुमान ।।२५।।"

इससे सिद्ध होता है कि इनका देहान्त १९४७ में मिथुन राशि के उपस्थित होने पर हुआ था। यह इनकी सबसे अन्तिम कृति प्रतीत होती है ।

(३) इसमें कोई सन्देह नहीं कि विहार के इस गौरवशाली कवि की प्रतिभा विचित्र थी। इन्होंने न केवल संस्कृत और हिन्दी में ही पद्य-रचना की है, अपितु इनकी फारसी की भी रचनाएँ इस पोथी में हैं। कई स्थानों पर तो एक विषय को ही तीनों भाषाओं में, बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है। यह ग्रन्थ पठनीय और प्रकाशनीय है । ग्रन्थकार के 'वन्धों' के आधार पर की गई रचनाएँ अधिक द्रष्टव्य हैं ।

(४) पृष्ठ सं० ३२ में, इनके मथुरा जाने पर पंडा की वही में लिखी गई रचना है। पृ० ३६ में तम्वाकू के ऊपर लिखी गई एक कविता है। मथुरा के पंडे की वही वाली कविता सं० १९२८ में लिखी गई थी जिसमें कवि के साथ ही परिवार के अन्य व्यक्तियों की भी चर्चा की गई है ।

(५) ग्रंथ में कविवर नगनारायण सिंह के अतिरिक्त प्रान्त तथा विशेषतः छपरा जिले के कई अन्य कवियों की भी कवितायें हैं—जिसमें ग्रन्थकर्त्ता की ही प्रशंसा की गई है। इससे प्रान्त के कतिपय कवियों, साहित्य-सेवियों के नाम, स्थान आदि का पता मालूम हो जाता है—(१) वंशावली तथा प्रशस्ति में, पृष्ठ सं० ३६—पं० प्रयागदत्त, (२)—पृ० सं०–३७

नावापार धमवली के पण्डित के आशीर्वाद, (३) रीठ ग्राम के छठु पण्डित की रचना। पृ० सं० ३८, (४)—पं० हृदयगुरु—इनकी रचना पृ० ३८ में है—

"सद्देशे सरकार सारणवरे जिल्लासुछपराह्वये ।
परगन्ना वरई शुभा सुरसरित्सौम्ये हरित्क्रोशके ।
तत्रास्ते नगरी वरा शिवकरी विद्वद्भिरार्कणिता ।
कूजत्कोकिलकीरसारमधुपव्यूहैः पटेही वृता ॥१॥
आस्ते तत्र सुधामयूषविलसत्कीर्तिश्रिया मण्डितो ।
विद्यायां कुशलो विवेकदिनकृत्सौजन्यरत्नाकरः ॥
कायस्थान्वयपुंजगुंजितमधुभ्रातैरलंवाग्रसो ।
नीहाराद्रिसुतासरोजपदसंध्याता नगादिनृ॑प ॥२॥"

(५) मझौल के पं० राजमणि—पृ० ४० में। (६) पं० तिलक त्रिपाठी—ग्राम नरौली, थाना दरौली। (७) पं० यशोदानन्द जी, ग्राम-शीतलपुर, (सारन)। (८) पं जनार्दन जी, पटेही पुरवासी। (९) पं० गणेशदत्त पाण्डेय, पण्डितपुरवासी। (१०)पं० रामचरित्र त्रिपाठी तकीपुर। (११) श्री वाबू आद्याशरण जी। (१२)श्री वाबू अम्विका शरण जी। (इन दोनों न वावू साहव के देहान्त के वाद उनकी प्रशस्ति में रचना की है—पृ० सं० ४३। (१३)वावू रघुवीर दत्त जी, (१४) वावू धनुषधारी प्रसाद सिंह। (१५) श्री फुल्लेश्वर बावू, मोतीहारी (इन्होंने २१-७-१९२० को एक कुण्डलिया लिखी थी जो—पृ० सं० ५४ पर है)। (१६) श्री सुरेश्वरी शरण सिंह, गोपालपुर, भागलपुर (इन्होंने अधिक ज्येष्ठशुक्ल पंचमी रविवार सं० १९८० वि० को वावू साहव की प्रशंसा में लिखा)। (१७) वावू राजेन्द्र प्रसाद सिंह (ये संभवतः कविवर नगनारायण सिंह जी के पुत्र थे। इनकी रचना 'चित्र काव्य' और 'दोहावली' के रूप में पृ० ५५ से ६० तक में है जो ११-११-१९१९ वि० की है। इन्होंने एक स्थान पर वर्णन करते हुए लिखा है—"गोरी नाइन पातरी लचकि लंक गति मौन। नैनन चितको चोरती उरज उचकि भजि भौन॥३॥ अधर लाल कुंचित अलक दीरघ चख वरवाम। दसन दावि हँसि सैन कर चली जात निजधाम ॥४॥" इन्होंने 'परिसंख्या' अलंकार में छप्पै की रचना की है जो पृ० सं० ५७ पर है। (१८) वावू जानकी दास, (१९) वावू वृन्दावन विहारी, (२०) वावू मुनेश्वर दत्त, (२१) वावू रघुवीर नारायण सिंह (२२) वावू मंगल प्रसाद सिंह। इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होता है कि वावू नगनारायण सिंह के साथ कवियों का एक विशाल परिवार रहता था, जो सदैव साहित्यिक चर्चा किया करता था।

श्री बावू राजेन्द्र प्रसाद सिंह भी हिन्दी, संस्कृत और उर्दू-फारसी में रचना करते थे—

(१) वनिता के ठुढी लसे छोटी तिल अभिराम।
मानो भँवरा कञ्ज भ्रम खटपद कियो विश्राम ॥१॥ (हिन्दी में)

(२) अन्दर ज़े नखदाँ खाल दिलवर बा स्याही ज़ेबदार।
हम चो अन्दर नीलोफ़र ज़म्बूर ज़ेबद आवदार ॥२॥ (फारसी में)

(३) सनम के ठुढि के भीतर सियाही तिल के यौं झलके ॥
कमल के वर्ग भीतर में भँवर रस लेन को ललके॥३॥ पृ० सं० ७२। (उर्दू में)।

(६) पृ० सं० ४७ से ४९ तक कवि की 'विरहिनी प्रश्नोत्तरी' नामकी रचना दी हुई है जिसमें बुलबुल, कबूतर आदि के माध्यम से कवि ने विरह-वर्णन किया है जो मनोरम, हृद्य तथा प्रभावशाली है।

(७) इस ग्रंथ की लिपि स्पष्ट है, किन्तु प्रतीत होता है कि लिपिकार ने भिन्न-भिन्न समय पर लिखा है, अतः लिपि तथा स्याही में भिन्नता है। ग्रंथ में कवि की रचनाएँ, जीवनी, प्रशस्ति-काव्य तथा विभिन्न वन्ध क्रम-हीन और अस्तव्यस्त रूप में हैं, अतः पुस्तकाकार मुद्रण के पूर्व क्रम आदि ठीक करना उपयुक्त होगा।

यदि इस पोथी के आधार पर (ग्रंथ में आये विभिन्न व्यक्तियों तथा कवियों की रचनाओं की) खोज की जाय, तो साहित्य की तो बहुत बड़ी सामग्री मिलेगी ही "बिहार के साहित्यिक इतिहास" के निर्माण में भी बहुत बड़ा सहयोग प्राप्त होगा और बिहार के छपरा जिले से सम्बद्ध इन कवियों की एक विशाल परंपरा का पता लग सकेगा।

यह पोथी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मंत्री श्री शिवपूजन सहाय जी के द्वारा प्राप्त हुई है।

५४–शिव-सागर—ग्रंथकार–शिवनाथ दास। लिपिकार*अवस्था–अच्छी, प्राचीन हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ २३०। प्र०पृ० पं० लगभग ४०। आकार–१०" ६"। भाषा—हिन्दी। लिपि–नागरी। रचनाकाल–। लिपिकाल–पौष, शुक्ल, पंचमी सं० १८५०।

प्रारंभ–शतनाम ॥ गरंथ शीवशागर। भाखल···शीवनाथ दाश फकीरह।
प्रथमंही वंदो शत पुरुख पुराना जाकर जाप करही भगवाना।
तव पगु वंदो अलख जगदीशा। बीमल नाम मंनी पावो पदमूला।
ब्रमा विश्नु वंदो गोरी महेशा। वंदो गनपति अवही गनेशा
वंदो राम क्रीशुन जग्रनाथा। भगतवछल भगते ही शंनाथा।
ब्रनो श्रोशती जमुन शेंयु गंगा। ब्रनो अहीपती अंक पतंगा ॥
वंदो माता आदि जोती कै प्रना। जाकें शुरनर मुनी ध्यान धरेशा।

अन्त—

पुत्र पुत्री रहे मांतु पीतु भरोशे ॥ गाफील रहे शदैव नैते ही पोशे ॥
दौशे हंमरन्ही रहीले आपुके आशे रही दुरंतरमू भ्रान्ति कट रही पाशे।
रहीहो चेत नीशती जुगतो जो गही दुमंती कुमंती रही जीभ्द्रो छेमंशना।
तेलपा शेवका ऐक शनेही तावे: नाउँ, राखेवो प्रेम वोर छोर प्रशेवो पाउ
ग्रंथ शपुरनं प्रेमगतो भाखल गन शीवनाथ गहंता शुनंत कहंता पठे प्रेम शों करींहे शाहव तेही शतगुरु के हाथा··।

छं०...४८–भाखा पान ग्रंभ प्रमेंशर शें रीखि कुंभजे पूछा

कुंभ जोरिके शुजशंजनके भग्ती महीमा ग्वान वीराग वीवेक शी गुंन शदैव देत न्रिप नंरकेः ...जोग जुग्ती शंमांधी जगमें वीद्वा वेदकितेव शास्त्र मंत्र तांहा शहारे....। में जाके जांहा शीवत्रीथ व्रत मख दान क्रीती शेवाशंत...जोगी मुंनी तांहा देंही....।

सोरठा। फलचारी देंही ऋतारः अरथधरमकांममोक्षशो

हंश उतरि भवपार कर गही हंश के लोक ले आवही

वि०—दर्शन—निर्गुणधारा।

टि०—१–इस ग्रंथ के निर्माता श्री शिवनाथदासजी एक दरियापंथी सन्त प्रतीत होते हैं। इन्होंने स्थान-स्थान पर श्री सन्त दरियादासजी के नाम का स्मरण किया है तथा उनके प्रति श्रद्धापूर्ण विचार व्यक्त किये हैं —

'दरीया शाहवकर दाश मै दरीआ मोर शतगुरु'

यह पद प्रारंभ की पहली साखी का है। पोथी के अन्त में भी कवि ने गुरु के सम्बन्ध में निम्न-लिखित विचार प्रकट किये हैं—

गरंथ शपुरंन पत्रचारीशैं भाखा
ताहीके छोट छोट हुरुफ...॥
जो देखा लीखा शो भाखा कही दीन्हा ॥
गुनगंमी नाम दीपक हीरें कीन्हा ॥
अभीलाख शास्त्र के शो शाहवे पुरावा ॥

२–ग्रंथकार ने अपनी रचना में संत दरियासाहब के समान ही सत्पुरुष, निरंजन आदि के द्वारा निर्गुण साधना की स्थान-स्थान पर विवेचना की है। प्रायः इस प्रकार का विवेचन कुंभज और साहब के आपसी वार्त्तालाप के ढंग से दिया गया है. अतः कई स्थानों पर जब किसी सैद्धान्तिक पक्ष की पुष्टि की गई है, तो, वहाँ, 'कुंभजो वचनं' पश्चात् 'साहब वचनं' ऐसा लिखा है —

"शाहन के पारै का जोग कमावैः ॥
जोग जुगुतीनीजु शार है : जोगत्रीनानाहींशीख
जोग वीनु कीमी मुकुती है : जोग वीनु रंकभौनीच
अश्टांगमंत जुगुती जोगशाधे : वोलाब्रह्मनिरंजनं
वीरंचीवींश्नुशीवनांरद शारदशे शगंनेशदवमुंनी जंनः
वंकालोमश .गोरखनांथ नव शीखचौराशीशुरनरंनः
जोगशेंरीधशीधलोकमुंकुंतीशुखशंप्रदाजनघनं
सोरठा —
ममनाम गहेतेहीशाथ : अमरलोक शो जनगए
शुनो कुंभज शीश दै : भाव भग्तीजोगें जगत रे"

इस प्रकार योग के साथ नाम-स्मरण की ओर संकेत करते हुए कवि ने लगभग बीस पंक्तियों में योग की महिमा गाई है। यह उद्धरण पृ० २३, २४ और २५ का है।

ग्रंथ में साधु-सेवा, भिक्षाटन, प्रेम, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेचन किया गया हैं। एक स्थान पर —

"शंतशुक्रीत वीनुपुंकुंतीनाहोई जम हार्थेमुंनीपंडीतजगगहई
नीगुननीरंजन शगुनजोभग्ती : स्रीगुनध्यान तीनो देव
देवादेई व्रत त्रीथ दानं..।"

३—ग्रंथ की लिपि पुरानी और अस्पष्ट है। प्रतीत होता है, लिपिकार और ग्रंथकार दोनों एक ही हैं। लिपिकारने अन्त में लिखा है—"शंमत १८५० मे ग्रंथ शीवनाथ शागर भाखल लीखल भइल तेलपा के मठ में मांश पुश पंचमी।"

४—ग्रंथ में, भोजपुरी और सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया गया है। ग्रंथकार का संबन्ध तेलपा मठ से था जो संभवतः सारन जिले में है। पोथी अनुसंधेय है। विचार स्पष्ट है और सन्त श्रेणी की महत्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है।

यह पोथी श्री डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, उपनिर्देशक, शिक्षा-विभाग, विहार के सौजन्य से प्राप्त हुई।

५५—हंसमुक्तावली—ग्रंथकार—श्री संत धर्मदास। लिपिकार—खरगेदास। अवस्था-अच्छी, हाथ का वना, मोटा, देशी कागज। पृ० ५२।

प्र० पृ० पं० लगभग—१८। आकार ५½"×६"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—+। लिपिकाल—आश्विन, कृष्ण द्वादशी, शनिवार—सं० १८५४। प्रारंभ०—साहब की दयां सो लिषते श्री ग्रंथ हंस मुक्तावली।। गीतका छंद।। धर्मदासौ वचनं धर्मदास विनय कर।। विहसि गुरुपंगज गहे। हो प्रभु होहु दयालं। दासचित्तअति देह।।
आदनाम सरूप सोभा। प्रगट भाष सुनाईए।
कालदारुन अति भयंकर। क्रीट भ्रंग बनाई ऐ।।
शतगुरौवचनं।। आदनाम निह अछर अषिलपतिकारनू।।
सो प्रगटे गुररूप तो हंस उवारनू।।
सत गुरु चरन सरोज जेजनमन ध्यावहीं। जुरामरन दुषनास्त अचलघरपावहीं।।
महाकाल अहि दारुननाम है षगपती। मयामोहतमपूज दहन रवि तै अती।
गरलसुभावसोमनकर।। नाम पीउषनदुराधर्ष काम अमित विध।।
अन्त०—धर्मदासौवचनं।। हे प्रभु संसैगत अव आसिकदीजीए।।
निज किंकर यह जान दयामोहेकीजीए।।
सतगुरोवचनं।। दीन्हेंउंतोहे अभै पद संत समजानेउ
ईछया संभव अतिहितअस अनुमानेउ।।
छंद।।३५।। अनुमानहित डिढआसिका।। विविअग्रचालिससंभवा।।
अपवर्गतेहे अविचलमई।।

भव भेद गयदुहुकरभवा ॥ नादसाषाअसंषजुथ ॥
जेहि विघनसोभापावही ॥
गज गिरजोकुंभकजलजउपजै ॥ अनतछविकंहपावही ॥
नदी विन जल पौंन विन वल ॥ चंद विन जिमि जामनी ॥
तिमि नाद विननहिवींर सोभित ॥ समुझधमनि आमिनि ॥
ईछचामंभवअभिमनसुतजनकर्जुगेवजावयउ ॥
ईमभक्तलीनअधीनता विन ॥ परम पद नहीं पायउ ॥
॥छंद॥ तोहे देष दीन अधीन धर्मनीता हेतें मनराचेउ ॥
नादवींद अधीनता जिन ॥
हंस सो फल चाषेउ ॥ मानसरोवर हंस विहरत कमल जुथमिरनाल का ॥
चुगतमुक्तापरमजुक्ता ॥ दरसतेहि अघघालका ॥
तिमिहंस प्रति मुक्तावली ॥ सुनकै जो सादर गावहीं ॥
सतगुर कृपा परसाद अविचल ॥ अहै सुषघरपावहीं ॥
परसंन्न उतरतरनि दुहुतर ॥ लौलीनसुर्त्तजोराष हैं ॥
कामादिषलदलजीतकै अपवर्ग अमित सोचाषहैं ॥
धर्मदास समोघनारस ॥ पर्म विक्त सुनायऊं ॥
वैरगलुविधीरंकजिमि ॥ भागंन परसमनपायऊ ॥ जनमजन्म पातिकमिटै ॥
गुरनाम विरद जोगायहै। कहैं कवीरपरचारतेहे ॥ आराम आलै पायहै ॥
ऐते श्री ग्रंथ हंसमुक्तावली ॥ संपूर्ण ॥ सुभमस्तु ॥ समाप्तं ॥

वि०—दर्शन । निर्गुण साहित्य ।

टि०–१–यह पुस्तिका श्री कबीर साहब और श्री धर्मदास जी के प्रश्नोत्तर के रूप में रची गई प्रतीत होती है। इसमें 'धर्मदासो वचनम्' से जीवन, मुक्ति नाद, विन्दु, ध्यान, भक्ति-विधि आदि विषयों पर प्रश्न किये गये हैं और 'सत्गुरो वचनम्' से प्रश्न का समाधान किया गया है। ग्रंथ सुपठ्य और विवेच्य है।

२–ग्रंथ की लिपि-शैली प्राचीन है। लिपिकार एक कबीरपंथी साधु हैं जिन्होंने 'सिंघौरी' मठ में श्री श्रुतस्नेही दास जी की आज्ञा से ग्रंथ की लिपि की है, जैसा कि—अन्त में—
"ग्रंथ हंसमुक्तावलीसंपूर्ण ॥ सुभमस्तु ॥ समाप्त ॥ संमत १८५४ ॥ के साल ॥ महीना ॥ कुवार ॥ कृस्नपछ ॥ तिथ द्वादसी ॥ वार सनीचर ॥ अस्थान सिंघौरी ॥ गोसाईं सुर्त्त सनेही साहेब के हजूर में लिखा ॥ वैरागी षरगेदास ॥" —लिखा है।

३–ग्रंथ की समाप्ति के बाद 'पाताल पांजी' और 'वंशावली' नाम की पुस्तिका ९ पृष्ठों में है। इसमें कबीर के कुछ स्फुट पदों का संग्रह प्रतीत होता है।

यह पुस्तिका, अनीसावाद, गर्दनीबाग, पटना निवासी श्री अखौरी गुरु शरण प्रकाश जी से प्राप्त हुई ।

५६—शब्द—ग्रंथकार–श्री कबीरदास जी । लिपिकार–+ । अवस्था–अच्छी, प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज । पृष्ठ १२२ ।
प्र० पृ० पं० लगभग २२ । आकार–६"×५१/४" । भाषा–हिन्दी । लिपि–नागरी ।
रचनाकाल—+ । लिपिकाल–+ ।

प्रारंभ०—प्रथम वचन रमैनी—अंतरजोती सब्द ऐक नारी ॥
हरि ब्रह्मा ताके त्रीपुरारी ॥
तेत्री·······अनंता ॥ काहुन जानल आदि आ अंता
··· · ऐक वीधाता कीन्हा ॥

अन्त०—हम कुसेवक तुम प्रभु आना ॥ दुइ मह दोस काही भगवाना ॥
हम चली अइली तोहरे सरना । कतहु ना देखो हरी के चरना ॥
हम चली अइली अइली तोहरे पासा । दास कबीर भल कइल नीरासा ॥११३—
सब्द संपुरन हुआ—

वि०— कबीर साहित्य ।

टि०—१–इस पोथी में कबीरदास ने अपने सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है । ग्रंथ पठनीय है ।
२–ग्रंथ की लिपि प्राचीन और अस्पष्ट है ।
यह ग्रंथ, अनीसावाद, गर्दनीवाग, पटना निवासी श्री अखौरी गुरुशरण प्रकाश जी से प्राप्त हुआ ।

५७–श्री रामार्णव—ग्रंथकार–श्री झामदास । लिपिकार—श्री शिवबोध तिवारी । अवस्था–प्राचीन, जीर्ण-शीर्ण; पुराना देशी कागज । पृष्ठ ३१२ ।
प्र० पृ० पं० लगभग–३६ । आकार १०"×६" । भाषा–हिन्दी । लिपि–नागरी ।
रचनाकाल–+ । लिपिकाल–वैशाख, शु० तृतीया, सं० १९५३ वि०, बृहस्पतिवार ।

प्रारंभ०—दोहा ॥ १॥ तन ए बिहिन मलिन नृप जिमी सुमंत समुझाई
ऐहि तरंग सोइ वर्णिहो रिषी आगमण उपाई ॥

चौ०—बसै अवध दसरथ महिपाला । वरनि सकै को विभव विसाला ।
सरजु तिर अवधपुर सोहु द्वादस जोजन आपतजोहु बिस्तर जो जणतिनि निहारी ।
बसहि तहा निर्मल नरनारि । जहा अपुनि तन कोऊ निहारे
नहि अवद वितबिबिधि बिचारे ।
नहि असुर बाहुज तहा कोई । दया विना बैश्वन जोइ ।
सेवा विना सूद्र तहा नाही । कोस्य धर्म तजि पगुण धराही ।
अंसपन नहिकोऊ तेही माही । धनपति लघुलषितेन्ह सब काही ।
कोउ न असुंदर तेहि पुर जोहे । सबही बिलोकि मारमण मोहे ।

छंद ।। यण मोही मार निहारी सब कह रूप रासि प्रकाशि है। असतीन तहातिय देषि तिन्हके रूप पररति हासि है ।
गजवाजिवृंदविलोकिसिवरहरिहयलाजही ।
नहि गाई जातविभूतिअवध अक्कतिसुषमा साजही ।
दोहा— मंत्रआठ महिप के इगितज्ञ सबकोई ।
राजकाज समुझहि सदा सपनेहु अवरन जोई ।
अन्त०— निकसिनगरबाहरप्रभु आए । जनुघनतेविधुउदयदेषाए ।
कोटिकलानिधिकीछविछाजहि । वामभागपुनिरमाविराजही ।
स्वेत सरोरुह सोहत हाथा । गमनकरत सोउरघुपति साथा ।
शोण कुंजकरदक्षिणभागी । चलिभूमिदेविअनुरागि ।
शस्त्र सहित विधानधनुतीरा । चले संगधरि पुरुष शरीरा ।
वेद विवुधकरि द्विजवरदेहा । चले राम संगसहितसनेहा ।
वेद मातुजुत प्रण वसि धाई । गवने सनकादिक रिषीराई ।
महा भूमिधरधरेशरीरा । गवनहि राम संग धरिधीरा ।।
दोहा— अंतहपुर नरनारी जो बालवृद्ध समुदाई। भरत शत्रुहनसहितसबरघुपति संग सिधाई।
चौ० ११ ।। लवुविशालपुर के नरनारी । सबकोउ रघुपतिसंगसिधारी ।
षुलेरामअपवर्गकेवारा । जढ चेतनमनमुदितसिधारा ।
सुग्रिवहि देइ बानर भालू । चले संग सब सुषी बिशालू ।
अंतरहितपुर महजोकोउ । रघुपति संगचले सबसोऊ ।
निसीचर निकर सिधावहि संगा । किहे राम पर प्रेम अभंगा ।
जीव चराचर अस नहि कोई । रहे अवध तजि रामहि जोइ ।
सेत बसन परिधान अन्हाने । नहीं कोउ दीन दुषीदेषराने ।
नहिकोउजंतु अवधमहरहेउ । सबहि राम संगचित्तचहेऊ ।।
दोहा ।।— गवनेऊ जोजन अर्द्ध इमितहा लषिसरजुतीर ।
जग असेष निजहियनिरषी मुदित भएरघुवीर ।
चौ० १२ ।। तेहि अवसर,चतुरानन आये । अमित बिमान गगन मह छाए ।
अति प्रकासमय भयउ अकाशा । बहु सुषदायक वहत बतासा ।
हरषि विवुध प्रसुन झरि लावहि । करहि गान सुरनारीनचावही ।
सरजु जल पदपरशि उदारा । तबहि पितामहबिनय उचारा ।
कहत जोरीकर कृपानिधानहि । पुरुष पुराण प्रभुहि हम जानहि ।
आनद रुप एकअबिनासी । जगतपालपति बेदप्रकाशि ।
करिकृपाल ममबिनय । सदा भक्तहितबेदबषाना ।
करि सानुज निज देहप्रबेशा । प्रालहु अषिल भुवनअमरेशा ।।
दोहा ।। एहिभाति बहु विनय करि कीन्ह बिरंची प्रनाम ।
निज मन भबित करिउ प्रभु सदा सुजन सुषधाम ।

इति श्रीमद्रामचरित्रे रामार्णवेसकलप्राप प्रशमने विमलविग्यानानन्यभक्तिप्रदायके उमामहेस्वर संवादेसप्तमार्णवे रामप्रयाणवे २१ तरंग ।

विषय—रामचरित्र-काव्य ।

टिप्पणी—१—यह ग्रंथ लगभग २०० वर्ष का प्राचीन है। ग्रंथकार श्री झामदास जी ने यद्यपि अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है, प्रत्येक काण्ड के अन्त में केवल अपना नाम दे दिया है; किन्तु ज्ञात हुआ है कि श्री झामदास जी मिर्जापुर जिले के अकोढ़ी नामक ग्राम के निवासी थे। यह ग्राम पूर्वीय रेल-पथ के विन्ध्याचल स्टेशन से एक स्टेशन आगे अष्टभुजा के करीव 'विरोही' स्टेशन के सन्निकट है।

२—ग्रंथ और ग्रंथकार के विषय में निम्नलिखित वातों का भी पता चला है—श्री झाम दास जी की एक विधवा पौत्रवधू हैं। ग्रंथ में अयोध्याकाण्ड और सुन्दरकाण्ड नहीं है। दोनों काण्ड क्रमशः—श्री पं० रामयज्ञ तिवारी और उसी ग्राम के एक साधु के पास है। ग्रंथ और ग्रंथकार के विषय में अन्य विशेष वातों का पता—उसी ग्राम के एक जमीन्दार तथा पत्थर और कपड़े के व्यापारी श्री ठाकुर राजधारी सिंह से पता चल सकता है।

३—पोथी में—वाल, अरण्य, किष्किन्धा, लंका और उत्तर—ये पाँच काण्ड हैं। इन काण्डों की पृष्ठ संख्या उसी पोथी में ही पृथक् दी हुई है; जो क्रमशः—४८, ३७, ४०, १२२ और ६५ है। लिपिकार ने इन काण्डों को भिन्न-भिन्न समय में लिखा है और सभी काण्डों के अन्त में लेखनकाल पृथक्-पृथक् दिया है, जो निम्नप्रकार है—
१—वाल काण्ड—(कथा वस्तु की समाप्ति के पश्चात् कवि ने अपने विषय में लिखा है) —

छन्द ॥—निगमादि पाउनपार अति अधिकार जस जागृत महा ।
संतत सुहावण पतित पावन जानी जन झामहु कहा ।
एह सियराम विवाह अति उत्साह मंगल करन है ।
गावत सुनत नरनारी जो ताके अमंगल हरन है ॥

दोहा ॥— गावत सुनत सप्रेम जो नर निती नेम निहारी ।
बसत सदा ताके निकट अबिचल अवधबिहारी ।१३।
कलिमल हरण सरिर अति नहि लषि अपर उपाइ ।
एह रघुपति गुन सिधुमरु मज्जत उज्जलताइ ।१४।
वर्ण अलंकृत छंदरस कवित भेद बहु धाइ ।
होनहि जानत एक उर सत्य राम गुन गाई ।१५।
अधम उधारण राम के गुण गावत श्रति साधु ।
झामदास तजि त्रासतेहि उर अंतर अवराधु ।१६।
दिनवंधु रघुविर के वानु सकल जग जानु ।
झामदास उर आस यह नहि उपाय कक्षु आनु ।१७।

इति श्री मद्रामचरित्रे रामार्णवे शकल पाप प्रसमने विमल विज्ञानानन्यभक्तिप्रदायके उमामहेस्वर संवादे प्रथमार्णवे अजोध्याभिनिवेशो नाम पंचत्रिसस्तरंग ३५ शोरठ १ दोहा १७ चौपाई १०४ छन्द ११ सव १३३ श्लोक ११ सोरठ९९ दोहा ४२२ चौपाई ३५६८ छन्द १०० सव ४२०० श्री संमत १९५९ मीती माघ वदी ८ वार मंगर लिषा सीववोध तेवारी गाव अक्रोधपुर ।

२—अरण्यकाण्ड—(काण्ड की कथा 'शवरी' की वन्दना के साथ समाप्त होती हैं)।

दोहा ॥—करि एहि विधि बिनति बिपुल जोग अगिनि तनुजारी ।
शेवरीरघुपतिभजनवल रघुपतिसदनसिधाई ॥
अधम जातिहरिभजनवल पाइ मुक्ति जगजानु ।
जौ उत्तम कुल भजतही तौ करिकहावखानु ॥
राम चरण सुरधेनुसम सेवतसवकहसुषदानी ।
झामदास बिस्वासकरि सुमिरहुआनदखानी ॥

इति श्रीमद्रामचरित्रे रामार्णवे सकल पाप प्रशमने विमल विज्ञानानन्यभक्ति प्रदायके उमामहेस्वर संवादे तृतीयार्णवे सेवरी मोछ पावने नाम नवमह तरंग ९ इति संपुण॥ श्री संमत १९६६ मीती फागुन वदी ६ लिखा सीउवोध तेवारी वार वुध, गाव अकोढ़ी॥ राम राम राम राम॥

३—किष्किन्धा काण्ड—सोरठा। सकल संकभववंक वहु कलंकनाना दुषद महावीर श्रुति अंक रसना रमत विलास तव ।

दोहा ॥—एहकलिपारावारमह परोनपावतपार ।
झामराम गुन गानते बिनु प्रयास निस्तार ।

इति श्री मद्रामचरित्रे रामार्णवे सकल पाप प्रशमने बिमल बिज्ञानानन्य भक्ति प्रदायके उमामहेस्वर संवादे चतुर्थार्णवे समुद्रसंतरणे निचपानामैकादसमस्तरंग ॥११ दोहा ॥२०६ चौपाई १५७६ छन्द २५ सोरठा २६। इति श्री चतुर्थार्णवे बरननं समाप्तम शुभमस्तु संमत १९५३ मीती बैसाष सुदी ३ बार बृहफइ लिषा शिवबोध तेवारी साकीन अकोढ़ी ।

४—लंकाकाण्ड—पापपंकतनलसितअतिविनुश्रमसकलनसाई ।
झाम रामचरितार्णव जौसहप्रेम अन्हाई ।
कलि कानन अध ओघ अति बिकटकुमृगन्हसमानु ।
हरि जस अनल लहै इतैग्यानविरागकृपानु ।
झामराम सुमिरन बिना देहन आवै काम ।
इतै उतै सुष कतहु नहि जथाकृपिन कर दाम ।
राम भजनते काम सब उभय लोक आनंद। ताते भजु मन मुढ़ अब छोड़ी सकलजगफंद।

इति श्रीमद्रामचरित्रे रामार्णवे सकलपापप्रशमने बिमलविज्ञानानन्यभक्ति-प्रदायके उमामहेस्वरसंवादे षष्ठार्णवे रामराज्योपालंभनो नाम द्वात्रिंशस्तरंग ॥३२॥

तरंग ॥ सोरठा ४४ दोहा ५५१ ॥ चौपाई ४०६५ ॥ छन्द ११४ ॥ इति श्री षष्टार्णवे वर्णनं समाप्तम् रामार्णव शास्त्र आनंदरूपिनंम् । श्री संमत १९६४ लिखा शिवबोध तेवारी जिला मिरजापुर; थाना विन्ध्याचल, गाव अकोढ़ी., संमत १९६४ मिती कुआर वदी १ वार इतवार ।

५—उत्तरकाण्ड—(इस काण्ड की कुछ अन्तिम पंक्तियाँ प्रस्तुत ग्रंथ के परिचय के प्रारंभ में 'अन्त' शीर्षक अवतरण में लिखी जा चुकी हैं, उसके बाद की अन्य अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

रामदास पदपाई झामदास मृगपतिसूषनस्यारहिकाइ
कहाचंद्रमा गगन में कहा चकोर दीतीमाही ।
झाम जोहि से नेहरी तोहि तेइ निकट देषाही राम राम

संम्वत १९५८ मीती माघ वदी ७ वार शुक्रवार लिषा शिवबोध तेवारी, गाव अकोढ़ी में ।

इस प्रकार, लिपिकार द्वारा सभी काण्डों के अन्त में दिये गये विवरण से कई बातों का संकेत मिलता है —

(क) किष्किन्धाकाण्ड के अन्त की—"महावीर श्रुति अंक रसना विलास तव" पंक्ति से ग्रंथ-रचनाकाल का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है ; प्रतीत होता है १४१९ कोई संवत् है, जब इसकी रचना की गई है। इसके अतिरिक्त (ख) उत्तरकाण्ड के अन्त में 'रामदास पदपाई झामदास' पंक्ति से इनके गुरु का नाम 'रामदास' था ऐसा बोध होता है। सभी काण्डों के अन्त में दी गई दोहे, चौपाइयों, सोरठों और छन्दों की सूची भी विवेच्य है।

४—ग्रंथ की लिपि पुरानी, किन्तु स्पष्ट और सुन्दर है । लिपिकार का निवास स्थान ग्रंथकार के ही ग्राम में था। यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। इसमें श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की शैली का अनुकरण किया गया है; कथानक भी प्रायः वैसा ही है; किन्तु ग्रंथकार ने इस कथानक के वर्णन को कहीं-कहीं विस्तृत भी कर दिया है। कई स्थानों में ग्रंथकार की स्वतन्त्र सूझ; विशिष्ट कल्पना और बोझिल वर्णन-शैली के रहने से प्रस्तुत ग्रंथ में एक विशेषता आ गई है। संभव है, इस पोथी के अनुसंधान से हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा मिले। यह ग्रंथ श्री वागीश्वरी पुस्तकालय, उनवास, डाकघर–अन्दौर, शाहाबाद से बिहारराष्ट्र-भाषा परिषद् को प्राप्त हुआ। (उक्त पुस्तकालय को यह ग्रंथ २६ मई १९२९ रविवार को, श्री सर्वदानन्द सिंह काशी के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। सिंह जी मोग़ल- सराय से पूरब घीना रेलवे स्टेशन के स्टेशन-मास्टर थे) ।

५८—श्री ब्रह्म-निरूपण–(सटीक) ग्रंथकार–श्री संतधर्मदास जी। टीकाकार–श्री भजनदास। लिपिकार–श्री मंगलदास साधु। अवस्था–अच्छी, प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ-२२५। प्र० पृ० पं० लगभग–२५। आकार–१२"×८"। भाषा–संस्कृत और

हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—+। टीकाकाल—ज्येष्ठ, शुक्ल तृतीया, गुरुवार, सं० १९२३। लिपिकाल—पौष, शुक्ल चतुर्दशी, सोमवार, सं० १९३२।

प्रारंभ—(मूल) सतनाम ॥

सतनाम सुक्रित आदली अज अचिंत पुर्स मुनि ॥
दकरुनामै कवीर सुर्तजोग संतायन धनी धर्मदास ॥
मुक्ता मणि नाम ॥ सुदर्शन नाम कुलपति नाम ॥
प्रमोध गुरु बाला पीर ॥ कवल नाम ॥ अमोल नाम सुर्त सणेही नाम ॥
हक नाम पावक नाम ॥ प्रगट नाम ॥ साहेब चार गुरुवंस व्यास ॥
ब्रह्मनिरूपणं नाम ॥

॥ॐ नमाम्यादि ब्रह्म सर्व्व कारणं कर्णं तथा ॥ तद्रूपं ॥
सद्गुरुं वन्दे कर्म रेषा प्रशांतये ॥१॥ छ॥ छ॥ छ ॥

सद्गुरोः पादपद्मं ये निशं ध्यायंति मानवाः ॥ नास्ति ॥
दुःख भयं तेषां जन्म मृत्युश्च नो तथा ॥२॥

परम पुरुषाय नमः सत्सुकृताय नमः ॥ दोहा ॥
आदि ब्रह्म सत्पुरुष गुरु उरधर करके ध्यान ।
वारवार वंदन करूं दुष हर कर कल्यान ॥१॥
मंगल रूप प्रकास गुरु संत कवीर कृपाल ।
वंदो प्रथमारंभ मे साहेव दीन दयाल ॥२॥
सत्सुकृत सुकृत करो भाषाकरण हमार ।
विघ्न विनास बिलास फल मंगल नाम तुमार ॥३॥
प्रगट नाम गुरु प्रगटहे संकट टारन हार ।
धीरज धरम प्रकाश जग धीरज नाम जु सार ॥४॥
अंस बंस सब सतगुरु भये होय अरु आहि ।
सबकूं मेरी वंदगी वारवार करूं जा चाहि ॥५॥
ब्रह्म निरूपन ग्रथ के संस्कृत श्लोक विचारि ।
भाषा सुगम वनाइके करन चहूं निरधारि ॥६॥

आदिब्रह्म ऊँनमामि० किं दृश्यमादिब्रह्म० सर्वकारणं० तथा करणं॥ तद्रूपं सद्गुरु० कर्म रेषा प्रशातये० अहं बंदे० इत्यन्वयः ॥१॥ टीका॥ अनंत रूप प्रकाशमान ऐसे सत्पुरुष की प्रेरणा धर करिके अमरलोकते आये कबीर साहेब॥ जगत मे बाधू गढ नग्रके विषे धर्मदास प्रति शंसय निबारणार्थ ब्रह्मनिरुपण संस्कृत भाषा करिके कहते भये॥ तिनकी प्राकृत भाषा करिके सुगम विचारणार्थ ॥ टीका॥ यथा बुद्धि चार गुरुबंस बियालिस की कृपा से कह देता हूं॥ आदि ब्रह्म ऊँनमामि नाम० आदि ब्रह्म सत्पुरुष जो है तिनोकूं मै ऊँकार सहित नमस्कार करता हूं॥ आशंका वे आदिब्रह्मतो

अनादि कालके स्वतःसिद्ध है तिनोकूं आदिब्रह्म क्यौं कहिये ।। तहां कहेते हैं ।। जा कालके विषे जग्त की उत्पत भई ताके आदि प्रथम ब्रह्म है ताते आदिब्रह्म कहिये ।। तिनोकूं में ऊँकार सहित नमस्कार करता हूं ।। यहां ऊँकार को क्या प्रयोजन है ।। तहां कहते हैं ।। ऊँकार जो है सो अकार उकार मकार विंदु अर्धमात्रा संयुक्त है ।। वा मे स्थूल सूक्ष्मादि वहुत प्रकार के भेद हैं तिनो मे से परापस्यंति मधिमा बैषरीवाचा चतुष्टय ग्रहण करिके नमस्कार करते हैं ।। वा पालन पोषन अर्थ ग्रहण करिके ग्रंथ आरंभ के लिये नमस्कार करते हैं । कि दृश्यमादिब्रह्म नाम वे आदिब्रह्म कैसे है सर्वकारण नाम समग्र जगत के कारण रूपी हैं ।। आशंका ।। कारण दो प्रकार के हैं ।। निमित्त कारण—उपादान कारण ।। जो कार्य सहवर्त्तमान रह्यो है सो उपादान कारण कहिये जैसे सुवर्ण के भूषण अरु मृतुका के घट यह उपादान कारण कहिये ।। अरु जो कार्य ते भिन्न रह्यो है सो निमित्त कारण कहिये ।। जैसे चक्र डंड कार्य करिके भिन्न है इनकूं निमित्त कारण कहिये ।। ऐसे वे आदिब्रह्म जो है सो निमित्त कारण है वा उपादान कारण है तहां कहे हैं वे आदि ब्रह्म जो हे सो निमित्त कारण है तिनो की सत्ता रूपी निमित्त सें ।। जगत रूप कार्य बन्यो है ।। अरु आप जगत से भिन्न है ताते निमित्त कारण कहिये ।। अरु माया उपादान कारण है सा कार्य सहवर्तमानरहित है ताते उपादान कारण कहिये ।। आशंका ।। ब्रह्म तो सर्व व्यापक है तिनोंकूं भिन्न क्यौं कहिये ।। तहां कहते हैं ।। वे आदिब्रह्म सत्पुरुष जो है सो सर्वलोकन तेऊर्द्ध अमरलोक के विषे विराजमान है ताते भिन्न कहिये ।। अरु तिनो की सत्ता जो हे सो सर्व व्यापक है ।। जैसे सूर्य ऊपर आकास देस के विषे दृश्यमान है ।। अरु प्रकाशरूप से सर्वव्यापक सता है ऐसे वे पुरुष की सत्ता सर्वव्यापक है अरु आप भिन्न है ।। ऐसे कारण रूप है ।। तथा नामता प्रकार करिये करणं नाम सर्व जग्त के कारण रूप है ।। जा करिके जो कार्य होवे ताकूं करण कहिये ।। ऐसे आद ब्रह्म सतपुरुस हैं ।। तद्रूपं सद्गुरुं नाम वे आदिब्रह्म सत्पुरुष जो है वोही रूप सद्गुरु है ।। कैसे जा कालके विषे पुरसने कबीर साहेब कूं वुलाय के तिनकूं मूलमंत्र दियो है ता ते वेही सद्गुरु रूप है और कोई नहि है ।। वे पुरस रूप सद्गुरु कूं कर्म रेषा प्रशांतये नाम करे तिनकूं कर्म कहिये अरु कर्म की जो रेषा ताकूं कर्म रेषा कहिये अरु कर्म रेषा की जो प्रशांति तिनकूं कर्म रेषा प्रशांति कहिये सो कमरेषा की प्रशांति के अर्थे ।। ये समासा अर्थ भयो ।। अव इनकूं स्पष्ट करिके कहते हैं ।। देषों जगत में अनेक प्रकार के नित्य-नैमित्य यज्ञायादि वर्णाश्रम के कर्म अनेक हैं ।। तथा गुरु विप्र बालस्त्री मित्रादि जीवहत्यादि पाप कर्म बहुत प्रकार के हैं तिनके फलभोग भांनदी रूप रेषा समग्र प्राणि मात्र केवुद्धि मे परीहै ।। सो कर्म रेषा की अभाव रूप शांति के अर्थे अहंवंदे नाम मैं वंदगी करता हूं इत्यर्थः ।।

ये मानवाः सद्गुरोः पादपद्मं अनिश्यं ध्याति तेयंषां दुःख भयं नास्ति चपुनः ।। तथा जन्ममृत्युःश्चनो इत्यन्वयः ।।२।। टीका ।। ये मानवाः जे निष्काम कर्म उपास्ना करिके प्राप्त भयो ज्ञानाधिकार ऐसे जो मनुष्यों सो ।। सद्गुरोः पादपद्मं नाम वे जो ब्रह्मस्वरूपाकार बोध रूप सद्गुरु है तिनके पादपद्मं नाम चरणकमल जो है तिनकूं अनिशं ध्यायंति नाम निरंतर ध्यान करे ।। तेषां वे मनुष्यों के दुःखभयं नाम अनेक प्रकारके दुःख अनेक प्रकार के भय जो होय सो नास्ति हो जावे ।। च पुनः तथा ते प्रकार के जन्म मृत्यु नाम अनेक कीटपतंगसु पंक्षी जलजन्तु वहुत प्रकार की योनि के विषे जन्म लेना नहि प्राप्त होवे ।। च पुनः तथा मृत्यु नाम मरण काल के विषे अनेक प्रकार के

व्याधिकृत दुःख रूप मृत्यु जो हे सो नीक हेता नहि होवे मिट जावे इत्यर्थः ॥

अन्त---(मूल) ज्ञानध्यानविलाशकंहि सततं मान्यंच पूर्णं गुरुं ।
ह्येदं ब्रह्म निरूपणं सुसुखदं प्राचीनकं स्तोत्रकंम् ॥
नत्वातस्कृपयामया भगवतीदासेन संशोधितं ।
शीघ्रं पाठविवांछिनांच सुगमार्थस्यैवलाभो भवेत् ॥३७५॥

टीका ॥ हि निश्चय करिके ज्ञानध्यान विलाशकं नाम ज्ञान करिके अरु ध्यान करिके विलाश करने वाले ऐसे अरु पुनि सततं नाम निरंतर मान्यां नाम मान्यपुज्य ऐसे अरु पूर्णं नाम समग्र शुभ गुण से सम्पूर्ण भरे हुए ऐसे गुरुं नाम गुरु जो हैं तिनोकूं ॥ नत्वानाम मनन करि के वंदगी करिके ॥ तत्कृपया नाम तिनोकी कृपा करिके भयानाममैंने भगवती दासेन नाम–भगवती दासने इदंनाम यह सुसुख वंदनाम वर्णन कियो जो अच्छे प्रकार को मोक्ष सुष ताकूं देने वाले ऐसे ॥ अरु प्राचीनकं नाम वहुत कालको ऐसो ब्रह्म निरुपणं स्तोत्रं नाम ब्रह्म निरुपण स्तोत्र जो है याकूं संशोधितं नाम अच्छे प्रकार से व्याकर्ण शास्त्र के प्रमान से अक्षर संधिविभक्ति संयुक्त करिके शोधन कियो है ॥ पाठविवांछिनां---नाम यहग्रंथ का पाठ की है इच्छा जिनोकूं तिनोकूं सुगमार्थस्य एवनाम सुगमअर्थ को हि निश्चय करिके ॥ शीघ्रं नाम तत्काल लाभः भवेत् नाम लाभ होवे ॥ इत्यर्थः ॥ ३७५॥

(मूल) ---इति श्री सद्गुरु चित्तंमुक्त्युपदेशं कलिमल बिध्वंसकं ॥ धर्मदास संवोधनं सारसंग्रहं ब्रह्म निरुपणं स्तोत्रं संपूर्णं भवेत् ॥

(टीका)---इस प्रकार करिके सद्गुरु कवीर साहेव ने रचित कियो ऐसो अरु मुक्ति को उपदेश यामे ऐसो॥ अरु कलिमल जो पापनिकूं विध्वंस नास करने वाला ऐसो ॥ अरु धर्मदास साहेव को अच्छे प्रकारको वोध है यामे ऐसो ॥ अरु सार बिचारको संग्रह कियो ऐसो यह ब्रह्म निरुपण स्तोत्र है सो संपूर्ण भयो ॥

विषय--- दार्शनिक कबीर-साहित्य ।

टिप्पणी–(१)–यह ग्रंथ कवीरदास के शिष्य श्री धर्मदास जी की दार्शनिकता का परिचायक है। इसमें ग्रंथकार ने संक्षेप में और संस्कृत भाषा में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में श्री कबीरदास और उनके पथानुमोदित सिद्धान्त का विशद विवेचन किया है; साथ ही इस पोथी में स्थान-स्थान पर अपने पंथ के लोगों को सामयिक तथा उचित उपदेश भी दिया है। ग्रंथकार ने इसे एक स्तोत्र ग्रंथ का रूप दिया है और इसके पाठ की अनिवार्यता में कई श्लोक लिखते हुए व्यक्त किया है कि यह ज्ञान उन्हें श्री संत कवीर साहव से प्राप्त हुआ। संपूर्ण ग्रंथ गुरु-शिष्य-संवाद—कवीर साहव और धर्मदास जी के परस्पर वार्तालाप तथा प्रश्नोत्तर के रूप में है। ग्रंथकार ग्रंथपाठ की विशेषता में लिखते हैं—

"प्रसन्नेन मया दत्तं चैतद्गुह्यतरं परम्॥

तुभ्यं सुसाधवेज्ञानं तत् ज्ञात्वा त्वं सुखी भव ॥ ३४८ ॥
पठनादेद् ग्रंथस्य श्रवणाद्वा तथैवच ॥
निष्कामाः प्राप्नुयुर्मुक्तिं सकामास्तु फलानिवै ॥३४९॥
एक श्लोकं तथा चार्द्धं पठंति शुद्धमानसाः ॥
जनास्तेपि सुखंचैव यान्ति मुक्तिं न संशयः ॥३५०॥
एतस्य पठनादेव सर्वे विघ्नाः विनिश्चितम् ॥
नश्यंतेच तथा रोगाः लताविस्फोटकादयः ॥३५१॥
दैविकाः दैहिकाश्चैव भौतिका वा तथैवहि ॥
विनश्यंति त्रयस्तापाश्चैतस्य पठनादपि ॥३५२॥"

इस प्रकार ग्रंथ और ग्रंथपाठ की विविध विशेषता और फल दिखाने के वाद ग्रंथकारने अन्त में ब्रह्मस्तुति करते हुए—

"नमोस्तुते त्वादि ब्रह्मन्सदैव श्रद्धाय बुद्धाय निर्मायिकाय ॥
ज्ञानस्वरूपाय तथा क्षयाय··· ह्यनंतकाय ॥३६८॥
नमोस्तु पुरुषाय निरक्षराय निष्कामरूपाय प्रशांतमूर्तये ॥
तथाव्ययाय स्वजनोपकारिणे···प्रभावाय च सत्यनाम्ने ॥३६९॥
नमोस्त्ववदेहायह्यनादये च सत्य चिदानंद विलाशकाय···॥३७०॥
संकल्पभिन्नाय भद्रस्वरूपिणे सर्वोपसर्ज्जायिनिस्तत्वव्यक्तये ॥
स्वतः प्रकाशायच ह्यंवुजांघ्रे त्वज्ञानध्वंसाय नमोस्तुनित्यम् ॥३७१॥
ज्ञानोदयकंर ह्येतत् तथा च भक्तिवर्द्धकम् ॥
ब्रह्म निरूपणं स्तोत्रं कथितं सारसंग्रहम् ॥३७२॥
गुरुमूर्त्तौरतिर्यस्य चेच्छितः साधुसंगमम् ॥
तस्यैतद्दीयते ग्रंथं नोभक्तस्य कदाचन ॥३७३॥
प्रातरुत्थाय यो नित्यं पठंति भक्तिपूर्वकम् ॥
निश्चयं गच्छते प्राणी सत्यलोकं सनातनम् ॥३७४॥"

आदि ग्रंथमाहात्म्य लिखा है कि इस ग्रंथ को प्राप्त करने का अधिकार सभी को नहीं है, अपितु जो गुरु के प्रति श्रद्धावान् है, वही इससे लाभ उठा सकता है। ग्रंथकार ने अपने परिचय, काल आदि के विषय में, कहीं संभवतः कुछ भी नहीं लिखा है।

(२)——ग्रंथ के टीकाकार श्री भजनदास जी गुजरात देश के सूरत जिला के निवासी हैं। इन्होंने ग्रंथ के अन्त में अपने विषय में निम्न लिखित रूप में लिखा है —

"साक्षाद्ब्रह्म कबीर सत्पुरुषज्ञानस्वरूपं गुरुं स्मृत्वा हृद्यनिशंनिक्षंरमखंडानंदलोकस्थितम् ॥ तस्यप्रेरणया मया भजनदासेन स्फुटीतार्थिका श्रेष्ठा सत्यथ भाषिणी सुफलदा टीकाकृता भाषया॥१॥साधोसंत दयानिधे प्रगटनामाचार्य सद्गुरोः वेदांतस्यहठस्यपंचीकरण यायस्यशांख्यस्यवै॥ ज्ञानध्यान परंच भक्तित्रिबिधा

सर्वामया वर्णिता अस्यांशुद्धमशुद्धता भवतिचे वत्ज्ञात्वाक्षमांकुरु ॥२॥
प्राकृतश्लोकः ॥ आदि ब्रह्म समान सद्‌गुरुभये शब्दार्थ दाता धनी तातेया पद वोधिनी सुसरलाभाषा सुटीका वनी ॥ बारंवारहि मोर भावसहितं साष्टांगहे वंदनं योमे मेरिजु भूल चूक सवहीमाफीकरोवंदनं ॥३॥ इतिश्री सद्‌गुरु पादपंकज रज भजनदास कृत पदवोधिनी ॥ प्राकृत भाषायां टीका समाप्ता ॥ सत्कवीरार्पण मस्तुः सद्‌गुरु अर्पण मस्तु ॥ कवित्त ॥
गुजरात देसमाहि नग्र सूरत वामे वंश गुरु साहेव को प्राचीन कोधाम है ॥
तामे गुरु अमरदास जी के सिष किसन्दास तिनोकी चाहते कियो टीकाको कामहै ॥
गुरु लछमनदास जी को सिष है दासान्दास भजनदास टीकाकृत वोलवे को नाम है ॥
मोकूं अभिमान नाही ज्ञानको बिचार आंही संतन की दाया चाही और ते न काम है ॥१॥
सोरठा ॥ एक नवहि दो तीन साल तिथि तृतिया गुरु ॥
ग्रंथ समापत कीन ज्येष्ठ मास शुध पक्ष में ॥"

उपर्युक्त श्लोक से ग्रंथकार का स्थान, गुरु और टीकाकार का विषय स्पष्ट होता है। टीकाकारने कहीं-कहीं भूल से टीका को दुरूह कर दिया है। टीका की भाषा 'सधुक्कड़ी' है और यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक को तथा उद्धरणों का भी प्रयोग किया गया है। टीका की शैली प्राचीन है। टीकाकार संस्कृत के अच्छे विद्वान् प्रतीत होते हैं, फिर भी, कहीं-कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं।

३—ग्रंथ के लिपिकार श्री मंगलदास जी भी कवि एवं कवीरपंथी साधु हैं। लिपिकार ने ग्रंथ के अंत में "इतिश्री ग्रंथ ब्रह्म निरुपण सटिक समाप्त ॥
संपूर्ण शुभमस्तु जसप्रत देषितस लिषिस मम दोसो नदीयते ॥
संमत १९३२ के साल पूस सुद शुक्ल पक्ष चतुर्दशी पुर्नो ॥१४॥ सोमारवार के दिन संपूर्ण भवेत् ॥दोहा॥ टूटा जो कुछ होयगा मात्रा विंदु विचार ॥ कर जोरी बिनती करों लीजो संत सुधार ॥ वैठक कमर्दामध्ये प्रगट नाम साहेव का धाम अस्थान तहा पर वैठ के लिषे हस्त अक्षर मंगलदास साधु ॥ श्लोकः ॥ जादृश्यं पुस्तकं दृष्टा तादृश्यं लिखितं मया ॥ यदि शुद्धंमशुद्धं वा मम दोशो न दीयते ॥२॥ साषी ॥ बंदो पुरस कवीर वंदो षोडश अंसको ॥ बंदो परमातमधीर वंदो एको त्तर वंस को ॥ १ ॥ मेरी बुद्धि मलीन है शुद्ध लिषो नहि जाय ॥ बारबार वंदगी करूं लीजो अर्थ लगाय ॥१॥" इन दोहों में अपना परिचय दिया है। ग्रंथ में मूल मोटे अक्षरों में और टीका पतले अक्षरों में लिखित है।

४—यह पोथी अनुसंधेय और विवेच्य है। इसमें कबीर दर्शन की समीक्षा की गई है। यह ग्रंथ श्री अखौरी गुरुशरण प्रकाश जी, अनीसाबाद, गर्दनीबाग, पटना के सौजन्य से प्राप्त हुआ। ग्रंथ परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है।

———०———

शेरशाह के उत्तराधिकारी

डॉ० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी० एच्० डी०

इस्लाम शाह

शेरशाह की मृत्यु के समय उसका कोई भी पुत्र उसके पास न था। ज्येष्ठ पुत्र आदिल खाँ रणथम्भौर में था तथा कनिष्ठ जलाल खाँ कालिंजर से ८५ मील दूर रीवाँ में था। शेरशाह प्रायः कहा करता था कि मेरे पुत्रों में कोई भी राज्य करने के योग्य नहीं। आदिल खाँ विलासी और आलसी था तो जलाल खाँ साहसी, वीर, भयावह क्रोधी और उतावला था। अफगान दैवी राजसत्ता के पुजारी नहीं थे। राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही गद्दी मिले, इसमें वे विश्वास नहीं करते थे। शेरशाह की मृत्यु के बाद सरदारों ने राजा के उत्तराधिकारी के बारे में परामर्श किया। शीघ्र ही जलाल खाँ को निमन्त्रण भेजा गया। वह पाँच दिनों में शीघ्रता से चल कर कालिंजर पहुँचा और १५ रबिउल अवल ९५२ हिजरी (ज्येष्ठ १६०२) को इस्लामशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। दिल्ली में उसके किले को अब भी सलीमगढ़ कहते हैं, किन्तु उसकी मुद्रा पर इस्लामशाह अंकित है। अशुद्ध उच्चारण के कारण इसे सलीमशाह भी कहते हैं।

आदिल खाँ

इस्लाम शाह वंचक और चिड़चिड़े स्वभाव का बादशाह था। राज्य हथियाने के बाद उसने अपने बड़े भाई के प्रति श्रद्धा और भक्ति का बहाना किया। उसने लिख भेजा—आप दूर थे और मैं पास था, अतः राज्य में गड़बड़ी होने के डर से मैंने सेना का प्रबन्ध आपकी प्रतीक्षा में अपने हाथों में ले लिया है। आपकी आज्ञा के पालन के सिवा मेरा कोई दूसरा धर्म नहीं। अतः आप शीघ्र आगरा पहुँचे। मैं आपको राज्य सुपुर्द कर दूँगा। किन्तु उसका आन्तरिक उद्देश्य दूसरा ही था। वह चाहता था कि जब उसका भाई एकान्त में उससे मिलने आयेगा तब उसका काम तमाम करके वह निश्चिन्त हो जायेगा। आदिल खाँ भी सशंक था, अतः उसने चार प्रमुख सरदारों के साथ प्रवेश की अनुमति माँगी। इस्लाम ने इसे स्वीकार कर लिया। इस्लाम शाह ने आदेश किया कि आदिल खाँ के साथ दो या तीन से अधिक पुरुष किले में न आने पाएँ। जब आदिल खाँ अपने सरदारों के साथ आगरा पहुँचा तो इस्लाम शाह के सैनिकों ने उनका प्रवेश रोक दिया। आदिल खाँ और उसके सरदारों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। आदिल ने पाँच-छै सहस्र सशस्त्र सैनिकों के साथ किले में प्रवेश किया। आदिल खाँ अपने छोटे भाई की माया और चातुर्य से परिचित था अतः उसने अपने जागीर बियाना को लौट जाने का विचार प्रकट किया। किन्तु वहाँ भी वह शांति से न रहने पाया क्योंकि दो मास बाद ही इस्लामशाह ने उसे वहाँ से बन्दी बना कर मँगवाना चाहा। आदिल खाँ यह समाचार पाते ही भाग कर खवास खाँ के पास मेवाड़ पहुँचा और रोकर अपनी दुःखद कथा सुनाई। खवास खाँ ने अपनी प्रतिष्ठामें धब्बा लगते देखकर क्रोध में इस्लामशाह के दूत को बन्दी कर लिया और विद्रोह का झंडा उठाया।

उसन पत्र लिख कर अन्य सरदारों को भी अपने पक्ष में कर लिया और राजकुमार को साथ लेकर आगरा की ओर बढ़ा। आगरे से पश्चिम १० मील की दूरी पर घमासान लड़ाई हुई। आदिल खाँ भागकर पटने चला गया और फिर उसका पता न चला। खवास खाँ भी हारकर अपने राज्य को चल दिया। इस्लाम शाह ने उसका पीछा करने को ४०,००० अश्ववारों को भेजा, जिन्हें मुँह की खानी पड़ी। अन्ततः दोनों एक दूसरे को समझ गये और खवास खाँ रुहेलखंड होता हुआ कुमायूँ की पहाड़ियों में शरण के लिए चला गया।

इस्लाम शाह ने कुमायूँ के राजा को लिखा कि खवास खाँ को मेरें हाथ सुपुर्द कर दो। किन्तु उसने शरणार्थी को देना अस्वीकार कर दिया। अब उसने स्वयं खवास खाँ से पत्रव्यवहार आरम्भ किया। उसने शपथ लेकर उसके पूर्व अपराधों को क्षमा कर दिया और उसने मेवाड़ के राणा के उपर आक्रमण करने को कहा। साथ ही उसने संभल के शासक को भी लिख भेजा कि समय पाते ही खवास खाँ को समाप्त कर डालना। कुमायूँ के राजा के मना करने पर भी खवास न माना और संभल से ९ मील की दूरी पर वहाँ के शासक से मिला। रात्रि में उसी के खेमे में खवास खाँ का वध हुआ और भाले पर उसका सर रख कर चीथड़ों में उसका धड़ लपेट कर इस्लाम शाह के पास भेज दिया गया। इस प्रकार सूरवंश के एक महान् योद्धा और योग्य समर्थक का अन्त १६०२ में हो गया। इधर आदिल खाँ भी इस समाचार को सुनकर संभवतः गंगा में डूब कर चल बसा।

व्यवस्था

इस्लाम शाह में पिता के उच्च गुण न थे किन्तु उसमें पिता के सभी दोष थें। वह अपने पिता के यश से जलता था। सिंहासनासीन होते ही इसने घोषणा कर दी कि शेरशाह के जो सराय दो कोस की दूरी पर है उनके बीच में जनता के लाभ के लिए ठीक वैसे ही सराय बनाये जायें। एक मसजिद और पनशाला भी वहाँ पर हो। इसके सिवा हिन्दू और यवनों के लिए भोजन भी तैयार रहे। साथ ही उसने यह भी आदेश दिया कि शेरशाह के समय भारत में जितने अनाथालय, दानालय और धर्मशाला बने हैं और उसके पास जितने उपवन हैं उनमें कोई भी परिवर्तन न हो।

जो सरदार अपने दरबारों में नर्तकियाँ रखते थे उन्हें उसने छीन लिया। इनके हाथियों को भी उसने अपने यहाँ मँगा लिया। उसके पास बोझ ढोने के लिए केवल एक-दो बूढ़ी हथिनी रहने दी। बादशाह के सिवा कोई भी लाल रंग के शिविर का उपभोग नहीं कर सकता था। सिपाहियों की भूमि को उसने राज्य के प्रबन्ध में लेकर, शेरशाह के आदेश के अनुसार, नियत कर लेना आरंभ किया।

सभी मण्डलों में यथाक्रम चलते आदेश भेजे गये कि धार्मिक, राजनीतिक, और भौमिक विषयों में सभी सिपाही, कृषक, वणिक्, तथा अन्य उपजीवियों के सम्बन्ध में इस बात की सूचना दी जाय कि कोई नियम इस्लाम धर्म के प्रतिकूल तो नहीं है। जहाँ आवश्यकता हो ये बातें काजी और मुफ्ती के समक्ष लाई जायें।

इसने सेना का भी पुनः संगठन किया। अश्ववारों को इसने ५०, २००, २५० और ५०० के दलों में विभाजित किया। साथ ही इसने ५, १० या २० हजार के अश्ववारों के सरदारों को

आज्ञा दी कि वे प्रति शुक्रवार को एक विशाल शिविर में एकत्र हों। वहीं पर एक उच्च वेदी पर इस्लाम शाह की जूतियाँ और तूणीर (वाणों से भरी) रखी जातीं। सभी सरदार वहाँ आकर अपने पद के अनुसार अभिवादन करते और अपने स्थान पर बैठ जाते। तब एक सचिव आता और लगभग ८० पन्नों का आदेश पढ़कर लोगों को सुनाता। देश के सभी झगड़े, इसी आदेश के अनुसार, सुलझाये जाते थे। यदि कोई भी सरदार इन आदेशों की अवहेलना करता तो इसकी सूचना शीघ्र ही पादशाह तक पहुँचती और उस सरदार और उसके सारे परिवार को इसका कठिन दण्ड भुगतना पड़ता।

गद्दी पर बैठने के दिन उसने सिपाहियों को दो मास का वेतन दिया। किन्तु वाद में कई मास का वेतन नहीं दिया। राज्य के सारे जागीर इसने अपने हाथ में कर लिया और भूमिपतियों को राजकोष से बदले में धन दे दिया। जिन्हें इसके पिता ने वृत्ति दी थी उन्हें उसने भूमि और परगने दिया। शेरशाह के समय दरिद्रनारायण की सेवा के लिए सर्वदा एक शाही शिविर लगी रहती थी किन्तु उसने आदेश दिया कि प्रत्येक सराय में दरिद्र यात्रियों को सब कुछ मिला करे। साधु-संन्यासियों और फकीरों को दैनिक भोजन मिलने लगा जिससे वे संतुष्ट रहें। इन नियमों से उसके पिता के नियम ढीले पड़ गये।

उसने अपने ६००० अश्ववारों के प्रति विशेष कृपा दिखलाई। ये सिपाही उसके पिता के समय भी उसकी आज्ञा में थे। उसके गद्दी पर बैठते ही उसका एक साधारण सिपाही अफसर वन गया और उसके अफसर सरदार और अमीर बन गये। इससे अन्य सरदार वहुत कुढ़ने लगे। सेना के महान् पदधारियों में जिन्हें भूमि मिली थी उन्हें रुपया और जिन्हें रुपया मिलता था उन्हें यथेच्छ भूमि दान की प्रथा इसने आरंभ कर दी। इन व्यवस्थाओं से सेना और सरदारों में घोर अविश्वास फैल गया। वे इसमें अपना अपमान समझते थे। प्रमुख सरदार उसके प्रति अश्रद्धा हो गये। साथ ही पादशाह भी इन सरदारों को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। धीरे-धीरे वैमनस्य वढ़ता ही गया।

महदी

इस समय भारत के मुसलमानों में असंतोष वढ़ रहा था। मुहम्मद साहव के मक्का से मदीना जाने के प्रायः वाद सहस्राब्द पूरे होने वाले थे और जनता में यह किम्वदन्ती फैल गई थी कि शीघ्र ही महदी का प्रादुर्भाव होगा जो सारे संसार में इस्लाम फैलाएगा और सर्वत्र न्याय और समता का व्यवहार होगा।

१५६१ में इब्राहिम लोदी के राज्य काल में जौनपुर के सैयद मुहम्मद ने महदी सिद्धान्त की जड़ जमा दी थी। वह अपने को स्वयं महदी घोषित करना चाहता था किन्तु मक्का यात्रा से लौटते ही वह चल वसा। शेरशाह के राज्य काल में शेख हसन वंगाल का परम मान्य धार्मिक गुरु था। उसने मक्का की यात्रा की और वहाँ से लौटकर वियाना में रहने लगा। उसका पुत्र शेख अली भी अपने पिता का सुयोग्य पुत्र था। पिता की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी के रूप में यह भी वियाना में रहने लगा। यह वहुत विद्वान् और उच्चाभिलाषी था। कालान्तर में इसने जौनपुर के सैयद मुहम्मद के अफगान शिष्य शेख अव्दुल्ला नियाजी के प्रभाव से महदी सिद्धान्त को मानना

आरंभ कर दिया। दोनों के बहुत से अनुयायी एकत्र होने लगे। वे सांसारिक आडम्बर का त्याग कर केवल शिक्षा और धर्म-प्रचार से सम्बन्ध रखते थे। शेख अली का भाषण इतना ओजस्वी होता था कि बहुतेरे श्रोता अपने पुत्र-कलत्र को छोड़कर इसके अनुयायी बन जाते थे और महदी सम्प्रदाय के संस्थापक सैयद मुहम्मद की शिष्य-परम्परा में सम्मिलित हो जाते थे। अनेक कृषकों ने अपनी आय का दशांश दान और धार्मिक कृत्यों में व्यय के लिए अलग कर देना स्वयं स्वीकार किया। इसके अनेक उदाहरण हैं जब पिता ने पुत्र को, पुत्र ने पिता को, पति ने स्त्री को और स्त्री ने पति को छोड़कर संन्यास लिया। इस सम्प्रदाय में यह सिद्धान्त था कि जो कुछ भी दान में मिले उसे वे सामान्य रूप से वितरण करते थे। वे अपनी सम्पत्ति का भी इसी प्रकार विभाजन करते थे। इस प्रकार वे सर्वत्र साम्यवाद का प्रचार कर रहे थे। यदि इन्हें दो-तीन दिनों तक कुछ भी न मिलता था तो वे उपवास करते थे। ये सर्वदा सशस्त्र चलते थे। ये जब कभी किसी को धर्म-विरुद्ध कार्य करते देखते तो उसे ऐसा करने से मना करते थे। किन्तु जब वह हठ करता तो उसपर आक्रमण कर देते थे। कोई भी मण्डलाधिकारी इनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। हाँ,जो अधिकारी इनके नियम और सिद्धान्त के अनुकूल चलते थे उनकी ये पूर्ण रूप से सहायता करते थे। जो इनसे सहमत न होते वे भी इन्हें रोकने से डरते थे।

व्यवस्थित शासन के भंग होने से जनता और अधिकारी इतने तंग आ गये थे कि अब्दुल्ला नियाजी के समझाने से अली एक बार फिर मक्का तीर्थ यात्रा के लिए चला। जब यह जोधपुर के पास खवासपुर पहुँचा तो खवास खाँ उससे मिलने आया। इस समय खवास खाँ शेरशाह के राजस्थान के प्रदेशों का शासक था। अली ने उसे अपने मत का अनुयायी बना लिया। किन्तु कुछ दिनों के बाद ही जब खवास खाँ ने देखा कि यह सांसारिक वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखता है तो वह उदासीन हो गया और अली बियाना चला आया। जब इस्लाम शाह गद्दी पर बैठा तो अली यहीं रहता था। इस्लाम शाह ने इसे दरबार में आगरा बुलवाया। यह अपने अनेक मैले-कुचैले, वस्त्रहीन पर सशस्त्र अनुयायियों सहित दरबार में उपस्थित हुआ और पादशाह को बराबरी का अभिवादन किया। इससे पादशाह रुष्ट हो गया। मुल्ला अब्दुल्ला सुलतानपुरी ने जिसकी उपाधि मखदुम-उल-मुल्क की थी, राय दी कि इसके सिद्धान्त भ्रमात्मक हैं और इसे बन्दी कर लिया जाय। इस्लाम शाह ने सभी मान्य विद्वानों की सभा बुलाई और उन्हें इसपर विचार करने को कहा। शेख अली ने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य और ओजस्विनी भाषण से सभी को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। तब इस्लाम शाह ने कहा—अजी शेख जी! आप अपना ढंग छोड़ दें जिससे मैं आपको अपने सारे राज्य का धर्ममहामात्य नियुक्त करूँ; अभी तक आप बिना मेरी आज्ञा से सभी विधान करते थे किन्तु अब आप मेरी स्वीकृति से कर सकेंगे। शेखअली ने इस पर ध्यान न दिया और पूर्ववत् प्रचार करता रहा।

नागौड़ के प्रसिद्ध शेख मुबारक तथा अन्य दरबारी भी इसके अनुयायी हो गये। इससे पादशाह को बहुत क्रोध आया। कट्टर मुल्ला उसकी हत्या का उपदेश देते किन्तु उसने यह न माना और उसे दक्षिण को भेज दिया जहाँ अनेक महदी रहते थे। शेख अली नर्मदा तीरस्थित हंडिया से आगे नहीं गया। वहाँ का शासक ससैन्य उसका शिष्य हो गया।

इस्लाम शाह ने इसे हंडिया से फिर बुलवाया और इसबार और भी बड़े-बड़े विद्वानों को एकत्र किया और उसके सिद्धान्तों की परीक्षा करने का आदेश किया। मखदुम-उल-मुल्क ने कहा—"श्रीमान्! यह मनुष्य देशपर शासन करना चाहता है। यह महदी बनने का अभिलाषी है और महदी का राज्य सारे संसार पर होगा। आपके सभी सिपाहियों ने इसका साथ दिया है। हो सकता है कि थोड़े ही दिनों में आपके राज्य को भारी हानि पहुँचे।" इस्लाम शाह ने इसे विहार के प्रसिद्ध विद्वान् हकीम शेख बुढ्ढा के पास भेज दिया।

इधर पादशाह नियाजियों के विद्रोह का दमन करने पंजाब चला। मार्ग में वियाना के पास ठहर गया और वहाँ के शासक को अपने गुरु शेख अब्दुल्ला को उपस्थित करने की आज्ञा दी। वह अपने गुरु को सामने नहीं आने देना चाहता था। किन्तु अब्दुल्ला स्वयं उपस्थित हुआ और पादशाह का अभिवादन तक नहीं किया। पादशाह ने क्रोध से पूछा—"क्या यह शेख अली का स्वामी है?" मखदुम-उल-मुल्क ने कहा—"हाँ, वही है।" इस पर उसकी ऐसी पिटाई हुई कि वह निःसंज्ञ होकर भूमि पर गिर पड़ा। बाद में इसने महदी सिद्धान्तों का त्याग किया और सरहिन्द में बसकर महदी के विरुद्ध धर्म-प्रचार करने लगा।

विहार के शेख बुढ्ढा ने इसके सिद्धान्त की भलीभाँति परीक्षा की। यद्यपि अली ने अभिमान में उद्दण्डता का व्यवहार किया तथापि वह ऐसे विद्वान् की मृत्यु के दण्ड का दोषी नहीं बनना चाहता था। किन्तु उसके पुत्रों ने उसकी ओर से पत्र लिख दिया कि मखदुम-उल-मुल्क का विधान प्रयोग में लाया जा सकता है। उन्होंने इस पत्र को अली के साथ पञ्चनद में पादशाह के शिविर तक पहुँचवा दिया। शेख अली ने अपनी भूल मानने से साफ इन्कार कर दिया। वह बोलने में असमर्थ था। इस्लाम शाह ने उसके कान में कहा—"अपनी भूल मान लो। कह दो कि हम महदी नहीं है। तुम्हें क्षमा कर दिया जायगा।" किन्तु शेख अली मानने वाला न था। मृत्यु के समय उसने इस्लाम शाह के सामने एक छन्द कहा—"यदि मेरे इन कर्त्तव्यों का कारण जानना चाहते हो तो औहदुद्दीन किरमाणी के इस छन्द पर मनन करो। मेरी आत्मा एक है किन्तु शरीर सहस्र है और दोनों मेरे ही हैं। यदि मैंने दूसरे शरीर में प्रवेश कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। पादशाह ने उसे मखदुम-उल-मुल्क को सौंप दिया। उसने उसे कोड़े लगवाने की आज्ञा दे दी। अस्वस्थता, दुर्बलता और लम्बे मार्ग की थकावट के कारण वह तीसरा कोड़ा लगते ही इस दुनिया से चल बसा। उसकी मृत्यु के बाद उत्तर भारत में महदी का प्रचार मृतप्राय हो गया किन्तु दक्षिण में चलता रहा।

इस सम्प्रदाय का अभ्युदय बदखशा में हुआ और वहाँ से ईरान और भारत में फैला। इस मत के प्रचारक प्रायः विद्वज्जन थे जो अपनी ओजस्विनी भाषा से लोगों को आकर्षित कर सकते थे। जो विद्वान् पादशाह के दरबार में उच्च पद पर थे उन्हें ये कुदृष्टि से देखते थे, पर ये इस्लाम के सुधार पर विशेष जोर देते थे।

इस्लाम शाहकी नृशंसता

इस्लाम शाह अपने सभी दरबारियों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखता था और उनका विनाश करने की फिक्र में रहता था। यदि इन पर विश्वास किया जाता तो ये वीरता और भक्ति के साथ राज्य की सेवा करते, जैसा शेरशाह के समय इन्होंने किया था। उसने अनेक सरदारों

को वन्दी किया और वहुतों का धन अपहरण किया। इसने मालवा के शासक का वध करने के लिए एक अफगान को नियुक्त किया। उसे कुछ चोट आई किन्तु वह वच गया। पादशाह ने उसे जाकर देखा और संतोष प्रकट किया। वह केवल ढोंग था। इसी प्रकार नियाजियों ने विद्रोह किया तो उनका दमन पादशाह ने स्वयं किया। शाही सेना ने उन्हें पराजित किया तथा हैवत खाँ नियाजी की माता और पुत्रियों को वन्दी कर लिया। दो वर्षों तक प्रति सप्ताह इस्लाम शाह के खुले दरवारों में इनका नग्न प्रदर्शन होता था और वाद में इनका वध कर दिया गया।

शेष नियाजियों ने गक्करों की शरण ली। इस्लाम शाह प्रायः अन्त तक इनसे उलझता रहा। गक्करों का प्रधान सरदार सर्वदा इसे धोखा देता रहा किन्तु इसने किसी प्रकार एक गक्कर सरदार को पकड़ लिया और उसे जीवित चुन डाला तथा उसके लड़के को ग्वालियर में वन्दी वनाया।

इसने आदिल खाँ के पुत्र अपने भ्रातृज महमूद खाँ को भी वन्दी वनाया और यथाक्रम कुतुव खाँ सूर, जलाल खाँ सूर और जैव खाँ नियाजी का वध किया। इसने जलाल खाँ और उसके भाई को हाथी के पैर में वाँध कर मरवा डाला। फिर इन सरदारों को हाथी पर विठा कर नगर में घुमवाया।

इस प्रकार वह चिरकाल तक प्रजा को कष्ट देता रहा। किन्तु राज्य के अन्तिम दिनों में इसने प्रजा के साथ दया के साथ व्यवहार किया।

जव यह चनाव नदी के किनारे डेरा डाले हुए था तो हुमायूँ का भाई कामरान डर कर इसके पास भाग आया। इसकी आवभगत अच्छी तरह से की गई। किन्तु इसे वहाँ पर लोग हेय दृष्टि से देखते और हिन्दी में दो-चार अपशव्द कह देते, जिन्हें वह अच्छी तरह समझ नहीं सकता था। कामरान ने भी खीझ कर फारसी में एक छन्द पादशाह पर कह डाला। इस कारण वह वन्दी कर लिया गया। किन्तु वह किसी प्रकार भाग कर गक्करों के सरदार सुलतान आदम के पास चला गया। आदम ने उसकी प्राण-रक्षा का वचन ले कर उसे हुमायूँ को सुपुर्द कर दिया।

मृत्यु

दिल्ली लौटने पर इस्लाम शाह को पता चला कि हुमायूँ सिन्ध नद पार कर लिया है। यद्यपि यह रुग्ण था तथापि इसने वीरता के साथ लाहौर के लिए प्रस्थान किया। किन्तु लाहौर में ज्ञात हुआ कि हुमायूँ कावुल लौट गया। अतः यह भी अपने प्रिय वासस्थान ग्वालियर लौट आया। यहाँ पर यह अपना समय प्रायः क्रीड़ा और मृगया में विताता था और अपने सरदारों को इतना तंग करता था कि लोगों ने इसके वध का षड्यन्त्र रचना आरंभ किया। सौभाग्य से यह वच गया। और, प्रमुख नेताओं के वध के वाद शेष वन्दी कर लिये गये।

कुछ सरदार इसके साले मुवारिज खाँ को गद्दी पर बैठाना चाहते थे और उसके समर्थकों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। इसने अपनी स्त्री को बुलाकर कहा कि मुवारिज खाँ के वध से हमारे पुत्र का मार्ग राज्य के लिए निष्कंटक हो जायगा, किन्तु वह रोकर कहने लगी—"मेरा भाई तो नादान है, उसे संगीत और विलास के सिवा किसी अन्य वात की चिन्ता ही नहीं!" इधर मुवारिज खाँ के पक्षपातियों ने दरवार जाना बन्द कर दिया। इस्लाम शाह को भी इन बातों का पता लग गया। उसने उन लोगों को एकत्र कर दण्ड देने को सोचा। सरदारों ने भी सभा की और

निश्चित किया कि सभी दरबार में इकट्ठे कभी न जायँ। पादशाह भी जो अकेले जाते थे उन्हे दण्ड देने में हिचकता था कि कहीं शेष मिलकर अचानक विद्रोह न कर दें। इस्लाम शाह दिन-रात इसी चिन्ता में था कि किस प्रकार इन सरदारों का अंत करूँ।

दिन-पर-दिन इसकी वीमारी बढ़ती ही गई। अन्तकाल में इसने अपनी स्त्री वीवी बाई को फिर बुलाया और कहा—"अभी तक शासन का सूत्र मेरे हाथों में है। अभी कुछ भी बिगड़ा नहीं है। खाँ का काम तमाम करवा दूँ।" इसपर वीवीबाई फूट-फूट कर रोने लगी। इस्लाम ने कहा—'अच्छा तुम जानो।' इतना कहने के बाद वह इस संसार से पौष १५११ में कूच कर गया। इसकी सेना को इसकी वीमारी का कुछ भी ज्ञान न था। इसकी मृत्यु से सेना में उदासी छा गई। सर्वत्र गड़बड़ी फैलने लगी। उसका शव ग्वालियर से सासाराम पहुँचाया गया और पिता के पास ही दफना दिया गया।

फीरूजखां

इस्लाम शाह की मृत्यु के बाद सरदारों ने उसके पुत्र फीरूज खाँ को ग्वालियर में गद्दी पर बैठाया। यह केवल १२ वर्ष का वालक था। खवास खाँ का हत्यारा ताज खाँ किरानी इसका मन्त्री और संरक्षक नियुक्त हुआ। इसका प्रभुत्व बढ़ जाने से अन्य सरदार जलने लगे। उन्होंने राज-माता को भड़काया और उसे उस पद से हटा कर मालवा का शासक नियुक्त कर दिया गया। उसके चले जाने पर मुबारिज खाँ, जिसे अनेक असंतुष्ट सरदारों ने साथ देने का वचन दिया था, एक विशाल सेना लेकर ग्वालियर पर आ धमका। यह मुबारिज खाँ शेरशाह के छोटे भाई निजाम खाँ का पुत्र और इस्लाम शाह का साला था। इसकी बहन ने दो बार इसकी प्राणरक्षा की थी। यह बधाई देने के बहाने सीधे महल में घुस गया। राजमाता उसका अभिप्राय समझ गई। अल्पवयस्क राजा ने माता की गोद में शरण ली। बेचारी माँ ने अपने भाई से बड़ी विनती की किन्तु सब व्यर्थ। उसने अपने भागिनेय को बहन की गोद से छीन कर उसी समय तलवार के घाट उतार दिया और सात दिनों के बाद आदिल शाह के नाम से गद्दी पर बैठा।

आदिलसाह

अपने भागिनेय की मृत्यु के बाद मुबारिज खाँ ने गद्दी पर बैठकर महमूद शाह 'आदिल' की उपाधि धारण की किन्तु चरित्र के कारण इसकी उपाधि आदिल (न्यायी), अदली (मूर्ख) और पुनः अन्धली (अन्धा) में बदल गई। इसने मृत खवास खाँ के छोटे भाई शमशेर खाँ को अपना मन्त्री बनाया और दौलत खाँ को, जो हिन्दू से मुसलमान हो गया था, अपना वकील या उपमन्त्री नियुक्त किया। किन्तु यह हिमू नामक एक बनिये पर विशेष श्रद्धा रखता था। इसने धीरे-धीरे अपनी योग्यता से बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली और सैनिक तथा शासन-पद्धति दोनों में निपुणता दिखलाई।

आदिल शाह ने उन सरदारों और सिपाहियों को, जो फिरूज खाँ की नृशंस हत्या से अप्रसन्न हो गये थे, संतुष्ट करने के लिए कोष से खूब रुपया बाँटना आरंभ किया और अनेकों को उपाधियों से विभूषित किया। इस प्रकार लोगों को पक्ष में कर वह चुनार चला और शेरशाह के संचित धन

पर अधिकार कर लिया। सूरवंशी सलीम खाँ ने फीरूज शाह का वदला लेने के लिए विद्रोह किया किन्तु वह हारकर पहाड़ों में भाग गया।

आदिल शाह ने अपनी राजधानी चुनार बनाई। वह सर्वदा भोग-विलास में डूबा रहता था और राज्य का सारा काम हिमू पर छोड़ देता था। इससे अन्य अफगान सरदार कुढ़ने लगे। अनेक सरदार दरबार छोड़ कर अपने घर लौट गये और प्रायः स्वतन्त्र हो वैठे। वियाना के शासक जुनैद खाँ ने और अजमेर में उसके पुत्र ने विद्रोह किया और ग्वालियर के शासक जमाल खाँ को पराजित कर उसे खूब लूटा। इनकी सफलता से आदिल शाह के कान खड़े हो गये किन्तु हिमू ने उन्हें कुचलने का बीड़ा उठाया। वह ४००० योद्धा सवारों को लेकर रणक्षेत्र में चला। हिमू ने जुनैद खाँ के प्रतिनिधियों को हरा दिया। अव जुनैद खाँ सारी सेना लेकर मैदान में आ डटा, जो हिमू की सेना से वहुत वड़ी थी। हिमू ने रातोरात छापा मारने को सोचा। वह रात के तीसरे पहर में जुनैद खाँ के डेरे पर दोनों ओर से टूट पड़ा। सर्वत्र गड़वड़ी मच गई। लोग आपस में ही एक दूसरे को काटने लगे। भागते हुए विद्रोहियों का पीछा किया गया। जुनैद खाँ भाग्य से स्त्रीसहित भाग कर निकल गया। खूव लूट मची। हिमू विजय के बाद अपने स्वामी के पास ग्वालियर पहुँचा और इसकी ख्याति वढ़ने लगी।

फीरूज खाँ की मृत्यु के वाद ताज खाँ किरानी दरवार में फिर लौट आया और अफगानों का नेता वन गया। इब्राहिम खाँ सूर आदिल शाह का साढ़ू था। एक दिन वह भी भरी सभा में पहुँचा। वहाँ पर ताज खाँ को छोड़कर सभी ने उठकर उसका अभिवादन किया। कुछ दिनों के बाद ताज खाँ की हत्या का यत्न किया गया। इससे ताज खाँ को विश्वास हो गया कि पादशाह और इब्राहिम खाँ का इसमें हाथ है, इसलिए वह साथियों सहित ग्वालियर से चल पड़ा। उसका पीछा करने के लिए एक सेना भेजी गई किन्तु उसे हरा कर वह जौनपुर पहुँचा।

इब्राहिम खाँ सूर

अब आदिल शाह अपने सभी अफगान सरदारों के प्रति सशंक हो गया। अपने दो प्रमुख समर्थकों की हत्या कर उसने सभी को भयभीत कर दिया। संभवतः विद्वेष का वीज बोने में हिमू का हाथ था। अब इब्राहिम खाँ की हत्या के लिए सोचा जाने लगा। किन्तु उसकी स्त्री ने उसे सारा भेद वतला दिया और वह सेनासहित ग्वालियर से भाग निकला। दिल्ली में सरहिन्द के शासक ने इसका साथ दिया। और, इसने राजपद धारण किया। आदिल खाँ शाह इस समय चुनार में था। इस समाचार ने उसे व्याकुल कर दिया। वह शीघ्र ग्वालियर पहुँचा और दो बन्दी सरदारों को विमुक्त कर इब्राहिम सूर के विरुद्ध भेजा किन्तु दिल्ली पहुँच कर वे भी उसीसे मिल गये।

सिकन्दरशाह सूर

इसी बीच उज्जैन के एक हिन्दू सामन्त ने भी विद्रोह कर दिया और उसे कुचलने के लिए आदिल खाँ शाह चुनार से ग्वालियर फिर आया। सामन्त हार गया और आदिल शाह मालवा में मौज करने लगा। इब्राहिम खाँ ने उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठा कर पंजाब के अनेक भागों को अपने राज्य में मिला लिया। आदिल शाह ग्वालियर लौटा और अपने साढ़ू से स्वयं लोहा

लेना चाहा किन्तु उसके पहले अपने दूसरे साढ़ू अहमद खाँ का वध करना चाहा। उसकी स्त्री ने भी उसे सावधान कर दिया और जब आदिल शाह मदिरामत्त था वह अपने ४००० अश्ववारों के साथ दिल्ली को चल पड़ा उसने अपने साढ़ू इब्राहिम खाँ से मिल कर पंजाब पर अधिकार करना चाहा, किन्तु इब्राहिम खाँ अपना एक प्रतिस्पर्धी नहीं खड़ा करना चाहता था। अतः दोनों की सेनाओं में चैत्र १६११ में मुठभेड़ हो गई। यद्यपि इब्राहिम की सेना अहमद खाँ से चौगुनी थी तथापि वह हार गया और भाग कर संभल चला गया। इब्राहिम की शेष सेना ने अहमद खाँ का साथ दिया और अब अहमद खाँ सिकन्दर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। आदिल शाह ने पूर्व की शरण ली।

अब उत्तर भारत में तीन बादशाह स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे। आदिल शाह का राज्य आगरा, मालवा और जौनपुर में पूर्व में था। सिकन्दर शाह का राज्य दिल्ली से पंजाब के रोहतक तक था तथा इब्राहिम शाह का राज्य हिमालय की तराइयों से पंजाब के गुजरात तक फैला था।

ये तीनों पादशाह एक दूसरे से जलते थे। ये खर्च भी अन्धाधुन्ध करते थे और सर्वदा हरम में विलासलीन रहते थे। आदिल शाह जब मार्ग में चलता था तो स्वर्ण-खचित बाण लोगों के बीच शौक के लिये छोड़ा करता था। इन बाणों का दाम दस-बारह रुपया होता था। थोड़े ही दिनों में सारा कोष खाली हो गया। अब सेना को यथासमय वेतन भी नहीं मिलता था।

सूरवंश का पतन

जब सिकन्दर शाह आगरे में गद्दी पर बैठा तो उसने बड़ा भारी उत्सव किया। उसने सभी सरदारों को बुलाया और कहा—"मैं अपने को आप लोगों में से ही समझता हूँ। मैंने अभी तक जो कुछ किया है वह आपकी सहायता से। अतः मैं बड़प्पन का भागी नहीं। सुलतान बहलोल ने लोदी वंश की ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ाई, उसी प्रकार शेरशाह ने भी सूरवंश का नाम ऊँचा किया। अब मुगल हुमायूँ हमारे विनाश का उद्योग कर रहा है और पुनः शासन स्थापित करना चाहता है। यदि आप सच्चे हैं और परस्पर द्वेष और झगड़े दूर कर दें तो हम लोग राज्य रख सकते हैं। किन्तु यदि आप मुझे राज्य के अयोग्य समझते हैं तो आप अपने में से किसी भी योग्यतर वीर सरदार को चुन लें, मैं भी उसके प्रति स्वामिभक्ति का शपथ लूँगा। मैं उसका साथ देने की प्रतिज्ञा करता हूँ और मैं यत्न करूँगा कि राज्य अफगानों के ही हाथ में रहे जिन्होंने इतने वर्षों तक अपनी वीरता से राज्य सँभाला है।"

सभी अफगानों ने एक स्वर से कहा—"हम शेरशाह के भ्रातृज आपको अपना वैधानिक राजा मानते हैं।" तब कुरान के सामने सभी ने सिकन्दर के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ ली और आपस में एकता रखन की प्रतिज्ञा की। किन्तु कुछ ही दिनों में ये सरदार पुनः शासन, प्रतिष्ठा और भूमि के लिए आपस में लड़ने लगे। उनकी विद्वेषाग्नि पहले से भी अधिक प्रचण्ड हो गई।

इस्लाम शाह की मृत्यु के समय से ही हुमायूँ भारत पर आक्रमण करने को सोच रहा था। अब देश की दुर्दशा, तीन राजाओं के परस्पर विग्रह तथा अफगान सरदारों और कुमारों के विद्वेष की बातें सुनकर उसने प्रस्थान किया। वह बड़े दिन १६११ को काबुल से पेशावर पहुँचा। उसने सिन्ध पार किया। नवरोहतास का शासक हुमायूँ का आना सुनते ही भाग गया। फाल्गुन १६११

में वह लाहौर पहुँचा और अफगान भाग चले। यहाँ से हुमायूँ ने सेना भेजकर जलन्धर, सरहिन्द और हिसार पर अधिकार कर लिया। चैत्र मास में दिपालपुर में कुछ अफगानों से मुठभेड़ हुई पर वे हार गये और उनके सामान और बालबच्चे मुगलों के हाथ लगे।

मच्छवाड़ा का युद्ध

इस पराजय को सुनकर सिकन्दर शाह ने तातार खाँ और हैदर खाँ की ३०,००० सेना-सहित सरहिन्द भेजा। मुगलों की सेना जलन्धर में जुट गई। यद्यपि मुगलों की संख्या कम थी तथापि उन्होंने युद्ध की तैयारी की। अफगानों ने उनका मार्ग रोकना चाहा किन्तु वे देर से पहुँचे। तब तक सेना नदी पार कर चुकी थी। संध्या के समय दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई। अफगानों ने धनुष-वाण का प्रयोग आरंभ किया किन्तु अँधेरे में लक्ष्य पर वाण नहीं पहुँच सकते थे। मुगलों की तोप से तंग आकर अफगान एक गाँव में घुस गये। वहाँ छप्परों में आग लग जाने से सारी अफगान सेना चमकने लगी और मुगलों ने वाण का लक्ष्य कर बहुतों को ढेर कर दिया। अब अफगान भाग चले। इस विजय से मुगलों को अनेक हाथी मिले और बहुत सामान हाथ लगे। हुमायूँ इस विजय से बहुत प्रसन्न हुआ। अब सारा पंजाब, सरहिन्द और हिसार-फिरोज उसके हाथ में आ गया।

सरहिन्द का युद्ध

इस पराजय को सुनकर सुलतान सिकन्दर ८०,००० अश्ववार, हाथी और तोप लेकर बदला लेने को सरहिन्द चला और वहाँ पर खन्दक में डेरा डाल दिया। मुगलों ने भी सरहिन्द की पूर्ण रक्षा का उपाय कर लिया और हुमायूँ को शीघ्र आने का संदेश भेजा। हुमायूँ ने अकबर को भेज दिया क्योंकि वह स्वयं अस्वस्थ था। सभी सरदारों ने हुमायूँ के पुत्र और प्रतिनिधि अकबर का स्वागत किया। यद्यपि अफगानों की सेना मुगलों से चौगुनी थी तथापि युद्ध का दृढ़ निश्चय मुगलों ने किया। महीनों तक कभी-कभी दोनों दलके वीरों में मुठभेड़ हो जाती। अन्ततः अकबर और बैराम खाँ दोनों ने अपनी-अपनी सेनाओं की रचना की। ज्येष्ठ मास में घमासान लड़ाई हुई। अफगान हार गये और सिकन्दर शाह ने हिमालय की शरण ली, इस विजय ने साम्राज्य के भाग्य का निर्णय कर दिया। दिल्ली का राज्य अफगानों के हाथ से निकल गया।

सिकन्दर खाँ उस वक्त दिल्ली भेजा गया। उसने अफगानों का पीछा किया और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। (रमजान) आषाढ़ १६१२ में हुमायूँ ने दिल्ली में पुनः प्रवेश किया और इसके नाम का खुतवा पढ़ा गया और मुद्राएँ ढाली गईं।

सूरवंश का विनाश

सूरवंश के अन्य सरदार भी उसी घाट से उतरे। जब सिकन्दर शाह मुगलों से लोहा ले रहा था तो उसका हाथ बँटाने के बदले वे परस्पर लड़ रहे थे। इब्राहिम खाँ ने कालपी पर धावा किया और महमूद शाह आदिल ने चुनार से अपने मंत्री हिमू को घोड़े, हाथी और तोप के साथ पश्चिमी प्रान्तों की विजय के लिए भेजा। हिमू ने इब्राहिम खाँ को कालपी में परास्त किया। वह भागकर अपने पिता गाजी खाँ के पास बियाना चला गया, जहाँ हिमू उसे तीन मास तक घेरे रहा।

इधर बंगाल के सूर शासक महमूद शाह ने आदिल पर धावा बोल दिया, जिससे हिमू को लौटना पड़ा। इससे इब्राहिम खाँ का साहस बढ़ गया और अपने आगरा तक हिमू का पीछा किया किन्तु फिर हार कर वियाना चला आया। कुछ दिनों तक वह बुन्देलखण्ड में ऊधम मचाता रहा और फिर भाग कर उड़ीसा चला गया। बंगाल के महमूद शाह सूर ने भी बुलेन्दखण्ड में भाग कर शरण ली किन्तु हिमू ने पीछा कर उसका वध कर दिया।

महमूद शाह आदिल इस विजय के बाद मुगलों का सामना करने के लिए चुनार लौट गया कि हुमायूँ से भिड़ने के लिए और सेना एकत्र करूँ। इधर हुमायूँ की मृत्यु का समाचार सुनकर वह निश्चिन्त बन बैठा और हिमूं को ५०,००० अश्ववार और ५०० हाथियों सहित आगरे की ओर भेजा किन्तु अफगानों के परस्पर विद्वेष के कारण स्वयं बढ़ने का साहस नहीं किया। बंगाल के शासक खिजर खाँ ने कुछ भाग जीत लिया और युद्ध में आदिल शाह को पराजित कर वध किया और अपने पिता के खून का बदला लिया।

हिमू

हिमू रेवाड़ी का एक बनिया था। यह पहले नमक और पनसारी की दूकान करता था। यह बहुत योग्य था। इस्लाम शाह ने प्रसन्न होकर इसे उच्च पद दिया। बाद में यह आदिल शाह का प्रधान मन्त्री बन गया।

आदिल शाह ने हुमायूँ का मृत्यु सुनकर हिमू को पंजाब की ओर भेजा था। इसने ग्वालियर के बाद आगरा पर अधिकार कर लिया और दिल्ली की ओर बढ़ा। तारदीबेग खाँ डर के मारे भाग कर सरहिन्द चला गया। यह समाचार अकबर और बैराम खाँ को जलन्धर में मिला। अकबर को अनेक सरदारों ने काबुल भाग जाने की सलाह दी, क्योंकि हिमू की १,००,००० सैनिकों की सेना के सामने भला २०,००० मुगल क्या कर सकते थे। किन्तु बैराम खाँ ने लड़ने की ठानी और तारदीबेग खाँ का वध करवा दिया। क्योंकि बिना युद्ध किये वह दिल्ली छोड़ कर चला आया था।

हिमू अपनी विजय से और दिल्ली हाथ आ जाने से इतना मस्त हो गया था कि उसने अपने स्वामी आदिल शाह की चिन्ता ही न की। अपने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, राजछत्र के नीचे बैठने लगा और अपने नाम की मुद्रा भी चलाने लगा। उसने अपने शासकों को नियुक्त किया और पास के परगनों को भी अधिकार में कर लिया। आदिल शाह के संतोष के लिये उसने लिख भेजा—"स्वामि-कृपा से आप के दास ने मुगलों को भगा दिया। किन्तु मैंने सुना है कि हुमायूँ के पुत्र के पास विशाल सेना है और वह दिल्ली की ओर बढ़ रहा है। इस कारण मैंने मुगलों के हाथी-घोड़े को अपने पास रख लिया है जिससे मैं वीर शत्रुओं का सामना कर सकूँ और वे दिल्ली न पहुँचने पावें।"

हिमू ने लूट का धन बाँट कर कुछ अफगानों को भी अपने पक्ष में कर लिया और अपनी सेना के अग्रभाग को तोपों के साथ अकबर का सामना करने के लिए भेजा। मुगल सेना अलीकुली खाँ शैबानी के नायकत्व में पानीपत की ओर बढ़ी और हिमू के अग्रभाग को पराजित कर उसका तोपखाना छीन लिया।

पानीपत की दूसरी लड़ाई

दोनों दलों की सेनाएँ आगे बढ़ रही थीं। (२ मुहर्रम ९६४ हि०) अगहन १५५६ में, प्रसिद्ध पानीपत के मैदान में दोनों सेनाएँ टकरा गईं। बैराम खाँ ने अकबर को एक सुरक्षित स्थान पर दूर ही रखा और मध्य का नायकत्व अलीकुली खाँ को सुपुर्द किया। हिमू की सेना इतनी विशाल थी कि वह अकबर की सेना को चारों ओर से घेर लेती। किन्तु हिमू ने सर्वप्रथम अपने १५०० हाथियों को आगे बढ़ाया कि शत्रुओं के घोड़ों को भयभीत कर दिया जाय। मुगलों ने इतनी वीरता से इन हाथियों का सामना किया कि वाणों की बौछार से हाथी मुड़ गये और अपनी सेना को ही कुचलने लगे। अब हिमू एक हवाई नामक हाथी पर सवार हुआ और ४००० घोड़ों को लेकर मुगल सेना के मध्य में पहुँच गया। किन्तु आँख में तीर लग जाने के कारण वह हौदे में गिर गया। सेना उसे मृत समझ कर भागने लगी। महावत हिमू को लेकर भागना चाहता था कि इतने में ही शाह कुली खाँ ने उसे पकड़ लिया और हिमू को अकबर के पास ले गया। बैराम खाँ ने उसका सर धड़ से अलग कर दिया।

इस प्रकार सूरवंश का सूर्यास्त हो गया।

धर्म-बन्धन प्रेम के लिए नहीं है

सच्चा प्रेमी लोगों के अच्छा या बुरा कहने की कुछ भी परवाह न कर जो मार्ग प्रेम दिखाता है उसी पर चलता है। नग्न फिरना और गाली देना इत्यादि बातें जगत् में बुरी मानी जाती हैं। बहुधा, 'मजबूब' अर्थात् ईश्वरीय प्रेम के पागल फकीरों को नंगे फिरते और गाली बकते देख सामान्य लोग पागल समझने लगते हैं और उनकी हँसी उड़ाते हैं। परन्तु वस्तुतः वे सयाने होते हैं, सच्चे मनुष्य होते हैं और सामान्य जनता को वे पशु समझते हैं। इसलिए वे लोक-मर्यादा की परवाह नहीं करते। परन्तु जब उनके साथ किसी व्यक्ति का मिलाप हो जाता है तब वे झट शरीर पर वस्त्र ओढ़ लेते हैं, मानों वे उससे परदा कर लेते हैं। वे ईश्वरीय प्रेम में मग्न होते हैं। इसीलिए उन पर धर्म का बन्धन लागू नहीं होता।

"इस्लामी साहित्य में प्रेम का तत्त्वज्ञान"—ले० श्री संतराम, बी० ए०,
("नई धारा"–पटना, नवम्बर १९५१)।

सम्मेलन के २३वें अधिवेशन (झरिया) के

सभापति पं० छविनाथ पाण्डेय का भाषण

विहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के झरिया अधिवेशन का सभापति चुन कर आपने मेरा जो सम्मान किया है उसके लिए मुझे आपका अनुगृहीत होना चाहिए। हम सरस्वती के पुजारियों के पास इसके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा हम अपने प्रिय और आदरणीय जनों का सम्मान और सत्कार कर सकें। हम लोगों के लिए ही तो किसी विद्वान् ने कह रखा है—

'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्येव सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥'

यह सम्मान बहुत महत्वपूर्ण है और इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। तोभी, मैं आपको धन्यवाद देने नहीं जा रहा हूँ; क्योंकि वर्तमान अवस्था में सम्मेलन का सभापतिपद फूलों का ताज नहीं है। मेरे भाग्य में कुछ ऐसा ही बदा रहता है। आज जब मैं यहाँ खड़ा होता हूँ तब मुझे सहसा आज से पंद्रह वर्ष पहले की बात याद आ जाती है। उस समय सम्मेलन की लाश भर नहीं उठी थी, अन्यथा वह मर ही चुका था। सन् १९३६ ई० में सम्मेलन के पूर्णियाँ-अधिवेशन में आपने प्रधान मंत्रित्व का भार मुझे सौंपा और वहीं सुहृद्वर श्रीजनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने सम्मेलन का कार्य-भार भी मुझे सौंपा—लिफाफे के एक टुकड़े पर सम्मेलन का हिसाब नगद चार रुपये और मुजफ्फरपुर के 'सुन्दर प्रेस' का साढ़े आठ रुपये का बिल! ऐसी विरासत किसी को किसी ने न दी होगी। मैं प्रधान मंत्री बना और सन् १९३६ से १९४२ तक इस पद पर रहा। सन् १९४२ में अपनी गिरफ्तारी के कारण मुझे यह पद छोड़ने को विवश होना पड़ा। उस समय सम्मेलन-कोष के 'फिक्स्ड डिपॉजिट' में पाँच हजार रुपये, सेविंग बैंक में एक हजार रुपये, चालू खाते में नौ सौ रुपये तथा सम्मेलन-पुस्तकालय में ३,४०० पुस्तकों का एक सुन्दर संग्रह मैं छोड़ गया था, जिसमें सैकड़ों अलभ्य ग्रंथ विद्यमान थे। जो हो, प्रधान-मंत्री के पद पर रह कर मुझसे सम्मेलन की जो सेवाएँ बन पड़ीं, मैंने की और यद्यपि आज इसकी दशा उतनी दयनीय दृष्टिगोचर नहीं होती, बल्कि इसके भव्य भवन को देख कर तो यही कहा जा सकता है कि सम्मेलन अवश्य ही समृद्ध संस्था होगा, तथापि, १९४२ ई० से १९५० ई० के बीच, सम्मेलन की आर्थिक अवस्था इस प्रकार विपन्न बना दी गई कि सम्मेलन के वर्त्तमान प्रधान मंत्री श्री ब्रजशंकर वर्मा के भगीरथ प्रयत्न के बावजूद वह चिन्तनीय बनी हुई है। ऐसी अवस्था में, सच पूछिये तो, सम्मेलन के सभापतित्व का गुरुतर भार ग्रहण करते हुए मेरे पैर थर्रा रहे हैं, हाथ काँप रहे हैं। इसका एक दूसरा कारण भी है। जिस प्रकार सन् १९३७ और सन् १९५२ ई० में प्रायः पंद्रह वर्षों का अंतर होता है उसी प्रकार मेरी उस समय की उम्र और आज की उम्र में भी वही अंतर आ गया है। उस समय मैं बयालिस साल का था। शरीर में शक्ति थी, स्फूर्ति थी; जीवन में उत्साह था, उमंग थी। आज मैं सत्तावन

साल का हूँ। ऐसे व्यक्ति के ऊपर इतना बड़ा भार लाद कर आपने शायद न्याय नहीं किया है। मेरा सदा से यही विचार रहा है कि किसी भी संस्था का कार्य-भार प्रौढ़ों को ही ग्रहण करना चाहिए, जिनमें शक्ति हो, क्षमता हो और हो कार्य करने की लगन। हम वयस्कों को तो उनका सभासद (दरबारी) होना चाहिए, जिनका काम हो पथ-प्रदर्शन मात्र करते रहना! सम्मेलन का सभापतित्व सिर्फ सम्मान का साधन ही नहीं समझा जाय, बल्कि ऐसे कार्य-क्षम तथा कर्मशील व्यक्तियों को यह पद प्रदान करना चाहिए जो मेरे समान केवल गद्दी की शोभा ही न बढ़ा कर अपने सीमित कार्य-काल में साहित्य की प्रगति और उसके उत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील रह कर कुछ कर जायँ और उनका जो सम्मान किया जाय उसे सार्थक कर सकें। पर मैं यह नहीं समझ सका कि मेरी किस योग्यता के आधार पर आपने मुझे इतनी प्रतिष्ठा प्रदान की है। मैं तो हिन्दी-साहित्य का कोई प्रामाणिक विद्वान् नहीं, थोड़ा पंडित भले ही होऊँ। स्वनामधन्य स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा विद्वान् और पंडित की परिभाषा करते हुए दोनों का विभेद बतलाया करते थे। उनका कथन था कि विद्वान् वह है जो विषय को जाने और पंडित वह है जो विषय के बारे में जाने। विषय का मुझे ज्ञान नहीं; अतः विषय की चर्चा की आशा आप मुझसे न करें।

राष्ट्रभाषा की समस्या

हिन्दी आज राष्ट्रभाषा के गौरवमय पद पर आसीन है। फलतः आज हम हिन्दी के पुजारी फूले नहीं समा रहे हैं और इतने आनन्द-विभोर हो रहे हैं कि उस आनंदातिरेक में वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान ही नहीं रह गया है। हम समझ बैठे हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई, साथ ही, हमारे कर्तव्य की भी इतिश्री हो गई। मगर वास्तविकता इससे दूर है—बहुत दूर! मैं तो कहता हूँ कि न तो यथार्थ में हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित ही किया गया है और न इसका भविष्य ही प्रकाशमय है। यदि हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की सच्ची नीयत होती तो जिस प्रकार स्वाधीनता के शुभागमन के साथ ही, १४ अगस्त १९४७ को, अँगरेजों के शासन के स्थान पर, रातो-रात हिन्दियों के शासन की प्रतिष्ठा कर दी गई उसी प्रकार अँगरेजी भाषा के स्थान पर हिन्दी भी राष्ट्र की भाषा बना दी गई होती। अपनी आजादी हासिल करने के बाद आयरलैंड-निवासियों ने पंद्रह वर्ष की लम्बी अवधि की प्रतीक्षा नहीं की थी। दूसरे ही दिन उन्होंने आयर में आयरिश (केल्टिक) भाषा प्रचलित कर दी। कहना नहीं होगा कि हमारी हिंदी आयरिश भाषा से कहीं अधिक समृद्ध और सम्पन्न थी और आज भी है।

लेकिन हमारे देश को जहाँ राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का बहुत बड़ा सौभाग्य मिला वहाँ उतना ही बड़ा या उससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि हमने—अर्थात् स्वतंत्रता के लिए लड़ने तथा खून बहाने वाले लोगों ने—सांस्कृतिक स्वाधीनता की जरूरत नहीं महसूस की और इस प्रकार अपने स्वतंत्र देश के स्वतंत्र झंडे के नीचे सांस्कृतिक परतंत्रता, विशेष कर राष्ट्रभाषा-संबंधी परतंत्रता को कायम रक्खा। कायम ही नहीं रक्खा, बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि देश के बहुतेरे व्यक्तियों के दिमाग में, खासकर शासन-सूत्र-धारियों के दिमाग में, अँगरेजी भाषा के प्रति एक नया ममत्व पैदा हो गया है या पुराना मोह ही बहुत ज्यादा बढ़ गया है। देश के कोने-कोने से भाषा-संबंधी स्वतंत्रता के समर्थकों द्वारा, मुख्यतः भारतीय स्वाधीनता की प्रतीक हिंदी

भाषा के सेवकों द्वारा, आन्दोलन करने तथा आवाज बुलन्द करने पर, बहुमत के लिहाज से, हिंदी का राष्ट्रभाषा होने का दावा तो स्वीकार कर लिया गया, लेकिन उसे चौदह ही नहीं बल्कि पूरे पंद्रह वर्षों का वनवास दे दिया गया, उसका देश-निकाला कर दिया गया है। ऐसा करने वालों के हृदय में संभवतः यह भावना छिपी हो कि पंद्रह वर्षों के वनवास या देश-निष्कासन में बेचारी हिंदी की आयु ही समाप्त हो जायगी या आवश्यक पोषण के अभाव में उसकी पाचन-शक्ति क्षीण हो जायगी और वह अजीर्ण रोग से पीड़ित हो कर मर-खप जायगी। अथवा, इस बीच उनका षड्यंत्र सफल हो जायगा और हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद से अपदस्थ कर दिया जायगा। ऐसे लोगों को संभवतः यह पता नहीं कि न तो हिंदी की आयु ही इतनी अल्प है और न उसकी पाचन-शक्ति ही इतनी कमजोर है कि वह पचाने की क्षमता खोकर अजीर्ण का शिकार हो जाय। आयु तो उसकी इतनी लंबी है कि कम-से-कम आठवीं शती से वह चली आ रही है और उसके विकास का क्रम अबतक जारी है। हमारी प्राचीन राष्ट्रभाषा संस्कृत का उत्तराधिकार पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं ने हथियाना चाहा ; लेकिन देशने वास्तवकि उत्तराधिकार हमारी हिंदी के विशाल, पुष्ट और शक्तिशाली हाथों में ही सौंपा। पहले सिद्ध कवियों ने उसका रूप संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से पृथक् कर उसे अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया और उसके बाद से निरन्तर उसके सेवकों की संख्या बढ़ती ही गई। हमारे चंद बरदाई, भूषण आदि ने उसे वीरता और निर्भयता प्रदान की तो, सूर तथा अष्टछाप के कवियों ने उसे वात्सल्य प्रदान किया। कबीर ने उसे ज्ञान दिया, तो जायसी ने उसे प्रेम का स्वर दिया। विद्यापति ने उसके सौंदर्य-प्रेमी हृदय को गुदगुदाया, तो तुलसी ने उसे जीवन की समस्त लीलाओं के चित्रण के लिए समर्थ बना दिया। रहीम, गिरिधर और वृन्द ने नीति सिखाई, तो रसखान ने भक्ति का इकतारा बजाया। केशव, बिहारी, देव और पद्माकर ने उसे रतिरंग में डुबाकर उसमें तरह-तरह की रंगीनियाँ पैदा करके रीति की राह तैयार कर दी। और, तभी से हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी का निरन्तर विकास तथा विस्तार होता गया।

और, उसकी वर्द्धमाना पाचन-शक्ति का क्या कहना ! पहले उसने शौरसेनी, अवधी, मागधी और व्रजभाषा का रस पी कर उसे पचाया, तो फिर उसकी विशाल धारा में डिंगल या राजस्थानी भी आकर समा गई ; बुंदेलखंडी ने उसे अपना हृदय समर्पित कर दिया। पुनः मैथिली ने उसे दधि-चिउड़ा का उपहार दिया; भोजपुरी ने अपनी भुजाओं का बल दिया; बैसवाड़ी ने भी आगे आकर उसकी बाहें पकड़ीं; और गढ़वाली ने उसके घर को उजागर किया। हमारी हिंदी आरंभ में भी त्रिवेणी से अधिक शक्तिशालिनी थी; क्योंकि उसकी तीन नहीं, बल्कि चार-चार धाराएँ थी। और, अब तो वह अपनी अनेक धाराओं के साथ प्रशस्त क्षेत्र में प्रखर गति से प्रवाहित हो रही है।

उसकी पाचन-शक्ति इतनी समर्थ बन गई है कि उसने अपने देश में जन्म धारण करने वाली उर्दू के साथ आनेवाली अरबी-फारसी को ही नहीं पचाया, बल्कि अँगरेजी, लैटिन पुर्त्तगीज तक को भी पचा डाला। पहाड़ी भाषाओं के पथरीले शब्द भी इसे अपच का शिकार नहीं बना सके। यशस्वी पुरातत्वज्ञ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल अपने अनुसंधानों के आधार पर कहते हैं—

"हिंदी भाषा उस समुद्र-जल-राशि की तरह है जिसमें अनेक नदियाँ मिली हों। निषाद, शबर, हो, उराँव आदि मुण्डा भाषाओं ने हिंदी को अनेक शब्द दिये हैं। मूर्धन्य अक्षरवाले अधिकांश शब्दों की जन्मभूमि मुण्डा भाषाओं की तह है। द्रविड़ भाषाओं का संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से बहुत आदान-प्रदान हुआ है। अट्ट, अलस, कंक, कवरी, कवल, कूट, कर्पूर, पुट, अरविंद, मृणाल, आदि शब्द द्रविड़ भाषा से लिये गये हैं। संस्कृत में आये हुए प्रत्येक शब्द की साहित्यिक आयु की छानवीन करनी होगी।"

अग्रवाल जी ने उदाहरण के तौर पर हिंदी के लगभग एक सौ प्रचलित शब्दों की निरुक्ति हमारे सामने रखी है। उनका कहना है कि 'खोंपा' शब्द द्रविड़ भाषा के शब्द का अपभ्रंश है। तमिल में 'खोंपा' के बदले 'कोप्पु' शब्द हैं। कन्नड़में भी इसी अर्थ में अर्थात् वालों के जूड़े के अर्थ में 'केप्पु' शब्द है। 'पापड़' शब्द भी तामिल के 'पुर्पु' शब्द से बना है। अग्रवाल जी ने तो हिंदी शब्दों के व्यापक उद्गम की ओर इशारामात्र किया है जिससे हम उनके संबंध में कोई संकीर्ण दृष्टिकोण या मनोवृत्ति न रखें और अहिंदीभाषी भारतीय हिंदी के संबंध में अपनापन का भाव रखें—ममत्व का भाव रखें—परायापन का नहीं। वस्तुतः यह देश की बहुत बड़ी सेवा होगी, यदि हिंदी में प्रचलित प्रत्येक शब्द का वास्तविक निरुक्त प्रस्तुत कर दिया जाय। जो हो, राष्ट्र-भाषा-साहित्य की आवश्यकताओं का प्रश्न पृथक् रख कर मैं इस यथार्थ की ओर संकेत कर रहा था कि हिंदी ने पिछली तेरह-चौदह शताब्दियों में अपना निर्माण और विस्तार स्वयं किया है और गैर-सरकारी ढंग से ही सही—वह जनता की वाणी का रूप तथा स्थान ग्रहण कर चुकी है, तथा व्यवहार की दृष्टि से वह जनता की राष्ट्रभाषा शताब्दियों से बनी हुई है—आज या पंद्रह वर्षों के बाद उसके राष्ट्रभाषा बनने का प्रश्न नहीं। यह भी सही है कि सरकार के पंद्रह साल तक स्थगित रखने से वह स्थगित नहीं रह सकती, वल्कि जन-जीवन में वह गतिशील और लोक-व्यापी वनी रहेगी और अधिकाधिक बनती ही जायगी। सरकार उसे सिंहासन पर बिठाने में चाहे तेरह-चौदह वर्षों की देर कर दे, देश की जनता तो तेरह-चौदह शताब्दियों से उसे अपने विशाल हृदय-सिंहासन पर आसीन कर चुकी है और भयंकर से भयंकर देशी तथा विदेशी थपेड़ों के बावजूद उसने हिंदी को इस विशाल सिंहासन पर से क्षणभर के लिए भी न हटाने दिया। इतनी प्रौढ़ और सुदीर्घ परंपरा शायद ही कुछ सौभाग्यशालिनी भाषाओं को प्राप्त होगी, तो भी भारत-संघ के शिक्षा-मंत्री यह कहने का हौसला रखते हैं कि हिंदी बीसवीं शती की भाषा है। धन्य है उनका यह न्याय !

संसार भर में कहीं ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि स्वतंत्र हो जाने पर भी कोई राष्ट्र अपनी मातृ-भाषा या देशी भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान न देकर विदेशी भाषा को ही इस महत्व-पूर्ण स्थान पर आसीन रखे। केवल अमेरिका में ऐसी वात देखी गई। अमेरिका स्वतंत्र हुआ, तो भी उसकी राष्ट्रभाषा अँगरेजी ही बनी रही। लेकिन अमेरिका की स्थिति का ऐसा मतलब लगाना गलत होगा। अमेरिका में स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने वाले अमेरिका के आदि-निवासी नहीं थे, बल्कि स्वयं अँगरेज लोग ही थे, जो रोजी-रोटी की खोज में अमेरिका में आ बसे थे। अमेरिका की आजादी वास्तव में अमेरिका में रहने वाले अँगरेजी-भाषी अँगरेजों की ही आजादी थी। इसी

हेतु उन्होंने किसी विदेशी या परायी भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान नहीं दिया, बल्कि अपनी ही भाषा को ऊँचे सिंहासन पर आसीन किया।

हिन्दी प्रांतीय भाषा नहीं

गलती से या भ्रमवश कुछ लोग हिंदी को प्रांतीय या प्रादेशिक भाषा भी कह डालते हैं। लेकिन वस्तुतः यह प्रांतीय भाषा नहीं, बल्कि अंतरप्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय भाषा है। प्रांतीय या प्रादेशिक भाषा तो वह, आज क्या, कभी भी नहीं रही। शौरसेन, मगध, अवध और व्रज की भाषा तो वह अपने जन्मकाल से ही बन गई थी। उसके बाद तो प्रायः संपूर्ण उत्तर—भारत में उसकी पताका फहराने लगी। प्रांतों के वर्त्तमान विभाजन के अनुसार वह बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, विंध्य प्रदेश, राजस्थान प्रदेश इत्यादि को मिलाकर आधे से अधिक भारत की भाषा है, जिसके बोलने वालों की संख्या बीस करोड़ से भी अधिक है और जिसे समझ सकने तथा बोल सकने वालों की संख्या संपूर्ण देश की जन-संख्या के बराबर है—अर्थात् ३५ करोड़ भारतवासियों में से अधिकांश हिंदी बोल और समझ सकते हैं—भले ही उनके बोलने में उच्चारण और व्याकरण के दोष रहें।

व्याकरण का प्रश्न

व्याकरण की चर्चा आ जाने पर मैं आपका ध्यान राष्ट्रभाषा के व्याकरण की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। यह सर्व-स्वीकृत सत्य है कि अब तक हिंदी भाषा का व्याकरण अनिश्चित और अपूर्ण ही है। भाषा की एकरूपता तो है ही नहीं। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ कि हिंदी किसी एक प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों और क्षेत्रों की भाषा बन गई है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि हिंदी में भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द आये और वह भिन्न-भिन्न भाषाओं से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुई। उन भाषाओं में तदर्थ शब्दों का जो लिंग था उसी लिंग का प्रयोग हिंदी में भी होने लगा। यह विविधता 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' की परिचायिका भले ही हो, परंतु राष्ट्रभाषापद की दावेदार हिंदी को तो अपने भीतर एकरूपता लानी ही पड़ेगी। इस एकरूपता के अभाव में राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार में भी बड़ी कठिनाई होगी और होती है। एक ही शब्द, एक ही विभक्ति और एक ही क्रियापद को भिन्न-भिन्न तरीकों से लिखने के कारण अहिंदी-भाषियों के हिंदी सीखने में एक दुविधा उत्पन्न हो जाती है, एक शंका-सी हो जाती है और यह स्थिति कुछ बेतुकी और बेढंगी भी मालूम पड़ती है।

इस संबंध में सब से बड़ी कठिनाई कर्त्ता के 'ने' चिह्न और लिंग के विषय में है। 'ने' चिह्न के कारण क्रियापदों के लिंग, वचन और पुरुष में तरह-तरह के परिवर्त्तन होते रहते हैं। जहाँ तक लिंग का प्रश्न है, इसमें क्या तर्क है कि पुरुष की 'मूँछ' तो स्त्रीलिंग हो, लेकिन स्त्रीत्व का द्योतक 'कुच' शब्द पुंलिंग हो जाय; 'भात' शब्द तो पुंलिंग में प्रयुक्त हो, लेकिन 'दाल' स्त्रीलिंग हो; 'दही' तो पुंलिंग हो, मगर 'कढ़ी' स्त्रीलिंग हो? इसी प्रकार हिंदी में लिंग की अराजकता के और भी अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। हिंदी बोलने और लिखने के अभ्यस्त लोग भी इसमें भूलें करते रहते हैं, तो अहिंदी-भाषियों को कितनी कठिनाई होती होगी, इसे समझना कठिन नहीं है।

लिंग की अराजकता के अतिरिक्त क्रियापदों और विभक्तियों की अराजकता भी फैली हुई है। 'जाना' के भूतकाल के पुंलिंग शब्द 'गया' के अंतिम अक्षर को तो व्यंजन अर्थात् 'य' में लिखा जाता है, लेकिन इसके स्त्रीलिंग रूप 'गई' में अंतिम स्वर 'ई' को कुछ लोग तो 'स्वर' अर्थात् दीर्घ 'ई' से लिखते हैं और कुछ लोग व्यंजन 'य' में दीर्घ ईकार लगा देते हैं। और, कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति एक स्थान पर स्वर लिखता है और दूसरे स्थान पर व्यंजन—गई, गयी ! इसी प्रकार विभक्तियों का झमेला भी बड़ा भीषण है। कोई उन्हें शब्दों के साथ मिला कर लिखते हैं और कोई अलग, और सर्वनाम-शब्दों में तो प्रायः सभी सटाकर ही लिखते हैं। इस संबंध में हिंदी-निर्माता स्वर्गीय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा विख्यात वैयाकरण पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी में परस्पर काफी विवाद चल चुका है, पर वे एकमत न हो सके। मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर यह आवश्यक समझता हूँ कि इस प्रश्न पर गंभीरता के साथ विचार किया जाय और हिंदी भाषा तथा व्याकरण में एकरूपता लाई जाय। ऐसा प्रयत्न करना भी अपेक्षित है कि व्याकरण सरल तथा सुबोध हो, जटिल नहीं। मध्य प्रदेश के कांग्रेसी-मंत्रिमंडल ने इस संबंध में प्रयास भी किया। भारत-संघ के सभी राज्यों के प्रतिनिधि वहाँ बुलाये गये। विचार-विमर्श हुआ। समितियाँ बनी। सुझाव भी भेजे गये। पर अंतिम परिणाम का पता न चला।

पारिभाषिक शब्द

राष्ट्रभाषा के संबंध में दूसरी बड़ी समस्या पारिभाषिक शब्दों की है। इसके संबंध में प्रयास भी बहुत ही कम हुआ है। इस दिशा में मध्य प्रदेश के मंत्रिमंडल तथा डा० रघुवीर ने जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है। डा० रघुवीर द्वारा गढ़े शब्दों के विषय में मतभेद हो सकता है। लेकिन, इस कटु सत्य के विषय में मतभेद नहीं कि पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का उल्लेख-योग्य प्रयत्न केवल उन्हीं ने किया है। संभवतः डॉक्टर साहब भी अपने शब्दों को ही अंतिम नहीं मानते होंगे; बल्कि अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता महसूस करते होंगे। जब अनेक मार्गों का निर्माण होता है, तभी उनमें से कोई मध्यम मार्ग निकाला जाता है।

पारिभाषिक शब्दों के संबंध में प्रायः दो विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं—(१) एक विचार का आग्रह है कि पारिभाषिक शब्द बिलकुल संस्कृत के तत्सम शब्दों से बनें और (२) दूसरा दृष्टिकोण है कि बोलचाल के शब्दों से बनें। इसके अतिरिक्त (१) शास्त्रीय और (२) अशास्त्रीय दृष्टिकोण का भी एक भेद देखने में आता है। मेरा विचार है कि इस संबंध में कोई कठघरे और चौखटे न बनाये जायँ; बल्कि जहाँ तक संभव हो, साधारण बोलचाल के शब्दों से ही पारिभाषिक शब्द बनाये जायँ और जो शब्द न बन सकें, उन्हें ही संस्कृत तत्सम का आश्रय लेने दिया जाय। जहाँ तक शास्त्रीय और अशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रश्न है, ज्ञान-विज्ञान के भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दों के संबंध में अवश्य ही शास्त्रीय दृष्टिकोण मानना पड़ेगा; क्योंकि दो और दो का जोड़ चार ही होगा; न पाँच होगा और न तीन !

यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि बोलचाल की शैली भिन्न होती है और शास्त्र-चर्चा तथा साहित्य-रचना की शैली भिन्न। इसलिए यदि शास्त्र-चर्चा या साहित्य-रचना की शैली बिलकुल बोलचाल की शैली न हो तो इससे घबराना नहीं चाहिए। हिंदी की लोकप्रियता और

राष्ट्रव्यापी आवश्यकता को देख कर बंबई-राज्य की सरकार ने भी हिंदी को राजभाषा का स्थान दिया है और मद्रास भी हिंदी को हृदयंगम करना चाहता है। लेकिन ऐसे राज्यों के मार्ग में भी मुख्य कठिनाई हिंदी के शब्दों की है। पहले तो मद्रास में बोलचाल की हिंदी का प्रचार किया गया था; परंतु अब संस्कृत-निष्ठ शैली का प्रचार किया जा रहा है, जिससे वहाँ दुविधा और घबराहट पैदा होने लगी है। इस दुविधा का अंत करना होगा।

अंतरप्रान्तीय विश्व-विद्यालय-समिति की जो बैठक बर्मा में हुई थी उससे लौटकर पटना-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वायस चांसलर आदरणीय शार्ङ्गधर सिंह ने इस संबंध में मुझसे जो कुछ कहा था, उसका निष्कर्ष यही था कि, राष्ट्रभाषा के नाम पर जिस हिंदी का प्रचार आपलोग करने जा रहे हैं उससे दक्षिण वाले चौंक गये हैं; वे उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं; यह खतरे की घंटी है; हम लोगों को अभी से सावधान हो जाना चाहिए। विगत अक्तूबर महीने में प्रयाग-साहित्यकार-संसद् की ओर से एक शिष्ट मंडल दक्षिण भारत की यात्रा करने गया था। सदस्यों में हमारे प्रांत के विख्यात कवि श्री दिनकर जी भी थे। वे भी वहाँ से यही धारणा लेकर लौटे। उन्होंने मुझसे कहा था कि राष्ट्रभाषा के नाम पर जिस हिंदी का प्रचार दक्षिण में किया गया है, वह हिंदी के उस रूप से सर्वथा भिन्न है जिसे देने की आज चर्चा चल पड़ी है। यदि हम हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर फलते-फूलते देखना चाहते हैं तो हमें उसका स्वरूप ऐसा बनाना होगा जो समस्त देश को मान्य हो, जिसे सभी स्वीकार करें। हमें किसी ऐसी भाषा के गढ़ने का प्रयास नहीं करना चाहिए जिसे लेकर विवाद का एक तूफान खड़ा हो जाय। इस संबंध में इससे अधिक कहने की आवश्यकता मैं नहीं समझता।

लिपि की समस्या

शासकों ने राष्ट्रभाषा-पद के लिए हिंदी के दावे को स्वीकार तो कर लिया है, परन्तु वे हृदय से उसे अपनाने में हिचकते-से मालूम पड़ते हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने रोमन अंकों को स्वीकार कर एक खिचड़ी-सी चीज पैदा कर दी है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने देवनागरी लिपि के पक्ष में स्पष्ट शब्दों में कहा है —"रोमन लिपि का व्यवहार हिंदुस्तान में ही हो नहीं सकता।....हिन्दुस्तान के लिए देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होना चाहिए; क्योंकि अनेक प्रांतीय भाषाओं की लिपियाँ करीब एक-सी हैं।....देवनागरी के संबंध में एक आंदोलन चल रहा है जिसका समर्थन मैं करता हूँ।...देवनागरी लिपि को स्वीकार कराने का आंदोलन तगड़ा होना चाहिए। रोमन लिपि का प्रयोग लादना किसी भी हालत में जनप्रिय नहीं हो सकता।" राष्ट्रपिता का यह स्पष्ट परामर्श रहते हुए भी उनके उत्तराधिकारियों ने राष्ट्रभाषा में रोमन अंकों को घुसेड़ कर दोगली या वर्णशंकर लिपि को लादने का घातक प्रयास किया है। इसकी जितनी भी निंदा की जाय, थोड़ी है। जो लोग देवनागरी लिपि के ४८–४९ अक्षरों और उसकी मात्राओं को सीख सकते हैं वे क्या ८–९ अंकों को नहीं सीख सकते? अथवा, क्या इन थोड़े-से अंकों को सीखने में उन्हें अक्षरों और मात्राओं के सीखने से अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा? देवनागरी लिपि में रोमन अंकों का प्रयोग अत्यंत लज्जाजनक और हास्यास्पद है।

खैर, हमारी राष्ट्रभाषा के मनोरम कलेवर में ये बे-मेल रोमन अंक तो टिक ही नहीं पायगी और उनका अंत होकर ही रहेगा। मेरा तो विनम्र विचार है कि केवल राष्ट्रभाषा के लिए ही नहीं, बल्कि भारत की सभी भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि का ही प्रयोग होना चाहिए। इस विचार का समर्थन विख्यात विद्वान् आचार्य नरेन्द्र देव ने भी किया है। लिपि की एकता और एक-रूपता हो जाने पर हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में पारस्परिक संपर्क बढ़ जायगा, जिससे हिंदी का तथा हमारे देश की प्रत्येक भाषा का बहुत ही तीव्र और व्यापक विकास होगा। जिस प्रकार भाषा विचारों अथवा भावों को वहन करती है उसी प्रकार लिपि भी भाषा का संवहन करती हैं।

राष्ट्रलिपि की प्रचार-समस्या के साथ ही स्वयं उसके सुधार और विकास की समस्या भी कम सामयिक और कम जटिल नहीं है। देवनागरी को सिर्फ लिखावट की सुविधा के एकांगी घेरे में ही नहीं रहना है; बल्कि उसे छापाखाने में, टाइपराइटर मशीन पर और लाइनो मशीन पर भी अपने रूप को सुविधाजनक बनाना है, और छापाखाने, टाइपराइटर तथा लाइनो मशीन के लिए उसके अलग-अलग रूप नहीं हो सकते, बल्कि उसका रूप सर्वत्र एक और अक्षुण्ण रखना होगा। जो भी हिंदीसेवी विद्वान् ऐसी वैज्ञानिक प्रतिभा रखते हों उनसे मेरी सादर अपील है कि वे अपनी प्रतिभा और साधना के सहारे देवनागरी लिपि को सामयिक रूप देकर अमरत्व के अधिकारी बनें।

राष्ट्रभाषा का प्रचार

राष्ट्रभाषा का प्रचार अब स्वतः होना चाहिए और सब लोगों को उसे अपनाना चाहिए। उसके प्रचार के मुख्य तीन क्षेत्र हैं—(१) सरकार, (२) विश्वविद्यालय और (३) जनता। जहाँ तक सरकार का सवाल है, मैं उसके संबंध में निराशा-वादी हूँ। शासक और सरकारी अधिकारी स्वयं अपनी कठिनाइयों और असुविधाओं के कारण राष्ट्रभाषा को न अपना कर अँगरेजी का ही दामन पकड़े रहना चाहते हैं।

कई राज्यों की सरकारों ने हिंदी को राजभाषा तो घोषित कर दिया है; लेकिन उस घोषणा को कार्यान्वित करने की दिशा में उचित प्रयत्न नहीं किया है। स्वयं बिहार सरकार को ही देखिए। उसने अपने कार्यालयों की बाहरी दीवारों पर गलत या सही हिंदी में तख्तियाँ तो लगा रखी हैं; लेकिन भीतर प्रायः कोई भी काम हिंदी में नहीं होता है। विधान-सभा और राज्य-परिषद् में हिंदी के नाम पर एक भाषा पेश की जाती है; लेकिन वह शायद देवताओं की भाषा हो, मनुष्यों की नहीं। स्वयं माननीय अर्थमंत्री एक प्रश्न का उत्तर दे रहे थे तो एक सदस्य ने उसका अर्थ पूछा। अर्थमंत्री ने कहा कि स्वयं मुझे ही इसका अर्थ मालूम नहीं है, जो छपा है उसे पढ़ दे रहा हूँ। कैसी विडंबना है! मंत्री का दिया उत्तर है और स्वयं मंत्री ही उसे समझ नहीं पाते! इसका मुख्य कारण यह है कि प्रश्न और उत्तर लिखे जाते हैं अँगरेजी में तथा उनका अनुवाद होता है हिंदी में! और, पारिभाषिक शब्द शब्द-कोष से लेकर ज्यों-के-त्यों बैठा दिये

जाते हैं। उनकी, स्थान-विशेष के लिए, उपयुक्तता पर विचार नहीं किया जाता। राष्ट्रभाषा के विकास के लिए सरकार के प्रयत्न दाल में नमक के बराबर भी नहीं हैं। वह प्यासे को ओस चटाने जैसा प्रयास है। अमेरिका, रूस और चीन की सरकारें साहित्य-निर्माण के लिए जो व्यापक प्रयत्न कर रही हैं उसकी तुलना में हमारी केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों का सारा प्रयत्न अत्यंत तुच्छ है। मेरा सुझाव है कि सरकार साहित्य-निर्माण के लिए पर्याप्त रकम स्वीकार करे और उसके आधार पर साहित्य-निर्माण की योजना बनाने तथा उसे कार्यान्वित करने का भार साहित्य-सेवियों पर छोड़ दे। सरकार शासन का संचालन ही कर सकती है, साहित्य-निर्माण नहीं कर सकती। हमारे हिंदी-साहित्य-सेवियों की साहित्य रचना की आकांक्षा अभाव की तीव्र ज्वाला में जल रही है। अर्थाभाव के कारण उनकी प्रतिभा और रचना-शक्ति का समुचित उपयोग नहीं हो पाता। कितने ही प्रतिभा-कुसुम मुरझा कर नष्ट हो जाते हैं, जो राष्ट्र की अनमोल निधि है, जिनसे देश को समृद्धि के साथ-साथ प्रगति का मार्ग भी मिल सकता है।

हिंदी माध्यम

शिक्षा-जगत् भाषा और साहित्य के विकास का क्षेत्र है। भाषा और साहित्य का संबंध अन्योन्याश्रित है। भाषा की उन्नति से साहित्य की उन्नति होती है और साहित्य की उन्नति से भाषा की। इन दोनों में से किसी की भी उपेक्षा प्रत्येक के लिए घातक है। खेद है कि शिक्षा-जगत् से भी इस संबंध में हमें निराशा ही होती है।

हिंदी-भाषी राज्यों के विश्वविद्यालयों ने हिंदी को शिक्षा का माध्यम घोषित किया है लेकिन वह भी घोषणामात्र है। उसे कार्यान्वित करने का कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। कॉलेजों में हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा देने की दिशा में समुचित ध्यान नहीं दिया जा रहा ह। हिंदी माध्यम द्वारा अच्छी तरह पढ़ाने के लिए बी० ए० या कम-से-कम आइ० ए० तक हिंदी की योग्यता होनी चाहिए। लेकिन साहित्य से भिन्न विषयों के कॉलेजों की योग्यता प्रायः मैट्रिक तक की भी नहीं है। हाल में पटना के साप्ताहिक "स्वदेश" ने इस संबंध के आँकड़े प्रस्तुत करके इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उसमें कहा गया है कि हिंदी में मैट्रिक तक की भी योग्यता न रखने वाले साहित्य से भिन्न विषयों के शिक्षकों की संख्या पटना-कॉलेज में ४१ प्रतिशत, पटना सायंस कॉलेज में ४४.५ प्रतिशत, बी० एन्० कॉलेज में ५५.३ प्रतिशत, पटना लॉ कॉलेज में २३.५ प्रतिशत, इंजीनियरिंग कॉलेज में ३२ प्रतिशत, पटना मेडिकल कॉलेज में २४ प्रतिशत, पटना ट्रेनिंग कॉलेज में २८.५ प्रतिशत, पटना वीमेंस ट्रेनिंग कॉलेज में ५० प्रतिशत, पटना वीमेंस कॉलेज में शत-प्रतिशत और मगध महिला कॉलेज में ६५.५ प्रतिशत हैं। इन आँकड़ों से स्पष्ट पता चलता है कि पटना-विश्व-विद्यालय के कॉलेजों में हिंदी को वास्तव में माध्यम का स्थान नहीं मिला है।

माध्यम को कार्यान्वित करने की समस्या सिर्फ शिक्षकों की हिंदी योग्यता से ही हल होने वाली नहीं है। इसके लिए समुचित पाठ्य-पुस्तकों की भी आवश्यकता है। परंतु शिक्षकों की हिंदी-योग्यता सबसे अधिक आवश्यक है और सबसे पहले आवश्यक है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पटना-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वायस-चांसलर श्री शार्ङ्गधर सिंह ने हिंदी को समुन्नत बनाने के लिए ठोस कदम उठाया था। उनका विचार था कि हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों के विश्व-विद्यालय इस दिशा में संयुक्त प्रयास करें और विषयों का आपस में बँटवारा कर लें तथा जो विषय लें उसमें उत्तम ग्रंथ-रचना का प्रवन्ध करें। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने गत वर्ष हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों के विश्वविद्यालयों के वायस-चांसलरों का सम्मेलन भी किया था। विचार-विमर्श भी हुआ और कुछ काम आगे भी वढ़ा। लेकिन इसी बीच पुराना पटना-विश्व-विद्यालय अस्तंगत हो गया। उसके स्थान पर दो नये विश्वविद्यालयों का जन्म हुआ और वह प्रश्न खटाई में पड़ गया। पटना-विश्वविद्यालय के वायस-चांसलर तो हिंदी के प्रश्न पर सर्वथा मौन दीख पड़ते हैं। हाँ, विहार विश्वविद्यालय के वायस-चांसलर साहव कहते तो वहुत कुछ हैं, लेकिन देखें, वे इस दिशा में कव तक सक्रिय कदम उठाते हैं।

शिक्षा में हिंदी

अव मैं वर्त्तमान काल में अपने विहार-राज्य की शिक्षा-प्रणाली में हिंदी की चिंतनीय स्थिति की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। आप को विदित होगा कि, सन् १९३६ में पटना विश्वविद्यालय ने यह निश्चय किया कि, सन् १९४२ की वार्षिक परीक्षा से प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्य-क्रम को आमूल परिवर्तित कर दिया जाय और प्रवेशिका की शिक्षा तथा परीक्षा के लिए अँगरेजी के सिवा सभी विषयों के माध्यम के रूप में हिंदुस्तानी भाषा का व्यवहार अनिवार्य कर दिया जाय। हाँ, उड़िया अथवा बँगला भाषा-भाषी छात्रों को अपनी-अपनी भाषाओं के प्रयोग की सुविधा दी गई। विश्वविद्यालय के उसी प्रस्ताव के द्वारा प्रवेशिका कक्षा के प्रत्येक छात्र के लिए हिंदी, उर्दू, बँगला अथवा उड़िया के दो प्रश्न पत्र अनिवार्य कर दिये गये। उसके पहले केवल एक ही प्रश्नपत्र की व्यवस्था थी। किंतु अतिशय खेद के साथ मुझे यह कहना पड़ता है कि, विश्वविद्यालय के उक्त निश्चय के फलस्वरूप विगत पन्द्रह वर्षों में हमारे शिक्षा-क्रम में हिंदी की जो प्रतिष्ठा हुई थी उसे क्रमशः मिटाने का आयोजन अव राज्य-सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा आरंभ हो गया है। यह वात अत्यंत अप्रिय होने पर भी सत्य है। अतएव, उसपर पर्दा डालना अनुचित होगा।

१४ फरवरी, सन् १९४२ ई० की सरकारी विज्ञप्ति के द्वारा विहार-राज्य में प्रवेशिका परीक्षा के लिए जिस नवीन पाठ्य-क्रम की घोषणा की गई है उसमें हिंदी का स्थान वर्त्तमान पाठ्य-क्रम की तुलना में अत्यंत गौण और नगण्य बना दिया गया है। वर्त्तमान पाठ्य-क्रम के अनुसार प्रत्येक हिंदी-भाषा-भाषी छात्र को प्रवेशिका के लिए निर्धारित कुल पत्रों में से दो पत्र हिंदी के लेने पड़ते थे। इस प्रकार पाठ्य-क्रम का चतुर्थांश हिंदी-भाषा-साहित्य के लिए सुरक्षित था। किंतु नवीन पाठ्य-क्रमानुसार वर्त्तमान दो पत्रों के स्थान में केवल एक पत्र सामान्य हिंदी का अनिवार्य रहेगा। इस नवीन पाठ्य-क्रम की उपयोगिता, अन्य दृष्टियों से चाहे कितनी भी अधिक हो, राष्ट्रभाषा हिंदी और उसके साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से यह बहुत ही हानिकारक है। इसमें वैकल्पिक विषयों के जो ९ वर्ग दिये गये हैं और प्रत्येक वर्ग में विभिन्न विषयों को जिस प्रकार रखा गया है, उनका गौर से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नवीन पाठ्य-क्रम

के अनुसार शिक्षा दिये जाने पर छात्रों का हिंदी और संस्कृत-विषयक ज्ञान आज की अपेक्षा वहुत अल्प हो जायगा। स्वभावतः यह हमारे लिए वड़ी चिंता की वात है। यह पाठ्य-क्रम जुलाई, १९५२ से ही लागू होगा। क्या मैं आशा करूँ कि बिहार-सरकार के शिक्षा-मंत्री माननीय आचार्य वद्रीनाथ वर्मा इस प्रश्न पर अविलंव विचार करेंगे और हिंदी के हित की दृष्टि से तुरंत आवश्यक परिवर्त्तन कराने की व्यवस्था करेंगे ? वद्री वावू का हिंदी-प्रेम विख्यात है और हमें पूर्ण आशा है कि उनके रहते हिंदी के साथ यह अन्याय कभी नहीं होगा।

इसी प्रसंग में, यह वात वता देना समीचीन होगा कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के पाठ्य-क्रम में भी हिंदी की स्थिति अत्यंत असंतोषप्रद है। आपको विदित होगा कि सन् १९४६ ई० में पटना-विश्वविद्यालय ने निश्चित किया कि सन् १९४७ के जुलाई मास से आइ० ए०, आइ० एस्-सी०, वी० ए० तथा वी० एस्-सी० तक की परीक्षाओं के लिए शिक्षा और परीक्षा के माध्यम के रूप में हिंदुस्तानी भाषा का व्यवहार किया जाय ; किंतु सन् १९५२ तक परीक्षार्थियों को वैकल्पिक रूप से अँगरेजी भाषा के माध्यम से भी परीक्षा में उत्तर देने की सुविधा दी गई, केवल बँगला-भाषा-भाषी छात्रों को वँगला के माध्यम से शिक्षा और परीक्षा की सुविधा अवश्य दी गई। इस निर्णय के अनुसार सन् १९५२ की जुलाई से बिहार-राज्य के विश्वविद्यालयों में हिंदी को शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम बन जाना चाहिए था ; लेकिन सन् १९५० में पटना-विश्वविद्यालय ने इस अवधि को सात साल आगे खिसका दिया ! इसका कुफल यह हुआ कि जहाँ इस वर्ष से उक्त परीक्षाओं के लिए माध्यम के रूप में हिंदी अथवा हिन्दुस्तानी का व्यवहार अनिवार्य हो जाता वहाँ हमें उस शुभ दिन की पूरे सात वर्षों तक प्रतीक्षा करनी होगी।

इसी प्रसंग में पटना-विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति श्री शार्ङ्गधर सिंह के प्रति, हिंदी-जगत् की ओर से, कृतज्ञता का प्रकाश करना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। यह उनके वंशगत अगाध हिंदी-प्रेम का ही परिणाम था कि उनके कार्य-काल में पटना-विश्वविद्यालय ने अपनी सभी परीक्षाओं के लिए, जिनमें डाक्टरी, इंजीनियरिंग आदि परीक्षाएँ भी सम्मिलित हैं, शिक्षा और परीक्षा के रूप में सन् १९५२ ई० से हिंदी के व्यवहार को अनिवार्य कर दिया। यह निर्णय निश्चय ही अत्यंत महत्वपूर्ण है।

बिहार की साहित्यिक प्रगति

विहार का साहित्यिक जागरण दिन-दिन ठोस होता जा रहा है और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का यह भूभाग आज किसी प्रदेश से पीछे नहीं है। पटने से हिंदी के जितने दैनिकपत्र निकल रहे हैं उतने दिल्ली को छोड़ कर भारत के अन्य किसी भी एक नगर से नहीं निकल रहे हैं। साप्ताहिकों की संख्या यद्यपि उत्साह-वर्धक नहीं, तो भी उसे कम नहीं कह सकते। फिर भी एक उच्चकोटि के साप्ताहिक का अभाव खटकता है।

मासिक पत्रों के लिए हमारा प्रांत कभी भी उर्वर नहीं रहा। न जाने कितने मासिकपत्र निकले और बन्द हो गये। आज भी जो मासिकपत्र निकल रहे हैं उनकी दशा आर्थिक दृष्टि से शोचनीय ही है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जो प्रांत बाहर के मासिक पत्रों को जिन्दा रखता है, वही अपने यहाँ के मासिक पत्रों के फूलने-फलने में पूर्ण रीति से सहायक नहीं होता।

हाँ, बाल-साहित्य में हमारे प्रांत ने संतोषजनक प्रगति की है। हमारे प्रांत का अति प्राचीन 'बालक' बीच में बुड्ढा हो चला था, लेकिन 'चून्नू-मून्नू' को देखकर उसे अपना बालपन फिर याद आ गया और नया कलेवर धारण कर मैदान में उतर पड़ा है। 'किशोर' भी किशोरों का दिल लुभाने के लिए सदा सजग रहता है।

इधर बिहार से बाल-साहित्य की अनेक अनूठी पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिसके रूप-रंग, साज-सज्जा और विषय सभी आकर्षक और उपयोगी हैं। खुशी की बात है कि पिछले दो-तीन वर्षों में हमारे अनेक प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों ने भी बाल-साहित्य की ओर काफी ध्यान दिया है और उनकी लिखी पुस्तकों से बाल-साहित्य का रिक्त भंडार बहुत दूर तक भरता है। इसके लिए बिहार के प्रकाशक प्रशंसा के पात्र हैं।

काव्य के क्षेत्र में बिहार ने इधर जो प्रमुख भाग लिया है वह प्रबंध-काव्य को लेकर बड़ा ही मूल्यवान् और बेजोड़ रहा है तथा उसका प्रभाव बाहर के साहित्यिकों पर भी पड़ रहा है।

प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में बिहार के कवि जो काम कर रहे हैं, वह बड़ा ही जरूरी और ठोस है तथा उससे हिन्दी-कविता उन असंख्य भारतीयों के बीच प्रसार पायगी, जो प्राचीन काल से आनेवाली प्रबन्ध की परंपरा के प्रेमी हैं, तथा जिन्हें गीतों से पूरा संतोष नहीं मिलता और प्रयोग के नाम पर कविताओं के साथ जो अपने हृदय का तार नहीं मिला सकते।

यहाँ हम बिहार के एक ऐसे वयोवृद्ध साधना-लीन, किन्तु साधन-हीन, महाकवि का नाम पेश करना चाहते हैं जिन्होंने अपनी सारी आयु काव्य-रचना में लगा दी ; किन्तु जिन्हें प्रांत के थोड़े ही लोग जानते हैं। चंपारन के श्री विंध्याचल प्रसाद ने तुलसीकृत रामायण के अनुकरण पर, 'कृष्णायन' नामक एक अद्भुत महाकाव्य लिखा है, जिसके प्रकाशन के लिए साधनहीन कवि को अपनी जमीन बेचनी पड़ी है। हमारा धर्म है कि हम विंध्याचल बाबू की पुस्तक का प्रचार ही नहीं करें, बल्कि उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के प्रस्ताव पर भी विचार करें।

बिहार में कथा-साहित्य का भंडार उस प्रकार नहीं भरा जा रहा है जिस प्रकार उसे भरा जाना चाहिए। उपन्यास का क्षेत्र सूना पड़ा है। चिन्तनशील उपन्यासकारों के उपन्यासों का अभाव हमें बहुत खटकता है।

जब हम विज्ञान-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें बड़ी निराशा होती है। विज्ञान-साहित्य के सर्जन का प्रश्न हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। विज्ञान के बिना हम वर्त्तमान दुनिया में जिन्दा नहीं रह सकते। इसके लिए आवश्यक है कि हिंदी में विज्ञान-साहित्य का अधिकाधिक प्रकाशन हो। हमारी राष्ट्रभाषा-परिषद् को भी कोरे साहित्य के ग्रंथों के प्रकाशन में उलझे न रह कर विज्ञान-साहित्य के प्रकाशन की ओर अधिक तत्पर होना चाहिए। मेरा तो ख्याल है कि बिहार-राज्य को राष्ट्रभाषा-परिषद् के समान विज्ञान-साहित्य के प्रकाशन के लिए एक अलग संस्था कायम करनी चाहिए, जो केवल विज्ञान-साहित्य का प्रकाशन करे। तभी इस उपेक्षित अंग की पूर्त्ति हो सकती है।

आशा है, हमारे प्रांत के साहित्यिक अपने कर्त्तव्य की ओर जागरूक होंगे और हिंदी के भंडार को सर्वांगपूर्ण बनाने का यत्न करेंगे।

उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने का कुचक्र

राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए सबसे बड़ा खतरा उर्दू को क्षेत्रीय भाषा (रिजिनल लैंगवेज) बनाने का नया आन्दोलन है। आपको पता होगा कि 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' की ओर से यह हिंदी-घातक आंदोलन बड़े जोर-शोर से चलाया जा रहा है। इस आंदोलन के प्रवर्तकों ने यह आयोजन किया है कि भारतीय संविधान की ३५७वीं धारा के अनुसार राष्ट्रपति जी से अनुरोध किया जाय कि वे अपने विशेषाधिकार से उर्दू को उत्तर-प्रदेश और बिहार के लिए, प्रादेशिक भाषा के रूप में, घोषित कर दें। इसी अभिप्राय से १९५१ ई० के दिसंबर महीने में लखनऊमें उर्दू-प्रेमियों तथा उर्दू के साहित्यकारों का एक सम्मेलन हुआ था। लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षर से उपर्युक्त आशय का एक स्मृतिपत्र राष्ट्रपति जी के पास भेजा गया। उसी की देखा-देखी 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' की बिहार-शाखा की ओर से भी एक स्मृति-पत्र, उर्दू को बिहार की क्षेत्रीय भाषा बनाने के लिए, चार लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर से, राष्ट्रपति जी के पास भेजा जा रहा है। हाल ही में, बिहार के पत्रों में, इस आशय के कुछ संवाद और वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं। मेरा विचार है, यदि हिंदी-प्रेमियों ने इस आंदोलन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, तो इससे हिंदी का भयंकर अहित होगा। इसकी जड़ में जो शक्तियाँ काम कर रहीं हैं, वे बहुत ही प्रबल-प्रचंड हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति भारत के शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद का कैसा रुख है, यह आपको भलीभाँति विदित है। आज से कुछ वर्ष पूर्व, पटना-विश्वविद्यालय के दीक्षांत-भाषण के सिलसिले में उन्होंने साफ-साफ कहा था कि हिंदी में इतनी योग्यता नहीं है कि वह हमारी राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सके। अभी हाल ही में दिल्ली में, एक शिक्षा-संबंधी सम्मेलन में भाषण करते हुए, मौलाना साहब ने यहाँ तक कह डाला कि हिन्दी तो २०वीं सदी की भाषा है। बिहार की राज्य-सरकार के शिक्षा-विभाग के एक अत्यन्त उच्चपदीय अधिकारी ने भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग के सचिवालय से, पत्र द्वारा, यह पूछा था कि मौलाना साहब के उपर्युक्त उद्‌गार निजी हैं अथवा केन्द्रीय सरकार के विचार हैं। उन्हें उत्तर मिला कि वे 'केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग के सुनिश्चित विचार हैं।' इससे आप भलीभाँति समझ सकते हैं कि हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने के बाद भी, केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-विभाग इस बात के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहा है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत नहीं होने दिया जाय और उक्त गौरवमय पद से अपदस्थ कर दिया जाय। इसी षड्‌यंत्र का एक रूप उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने का आंदोलन भी है। वह हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने के मार्ग में बाधा डालने का एक गुप्त षड्‌यंत्र है। सवाल असल यह है कि क्या इस देश में ऐसा कोई भी क्षेत्र है, जहाँ के लोग केवल उर्दू बोलते और लिखते-पढ़ते हैं, जिसके कारण उर्दू का यह दावा मान लिया जाय। उर्दू तो हिंदी की एक शैली मात्र है। इससे राष्ट्रभाषा हिंदी को बड़ी चुस्ती, नफासत और नजाकत मिली है। यदि इसे देवनागरी लिपि में लिख दिया जाय, तो यह हिंदी से भिन्न कोई दूसरी भाषा कही ही नहीं जा सकती। फारसी लिपि में लिखने पर ही इसका रूप हिंदी से भिन्न मालूम पड़ता है। हिंदी के कितने ही लेखक हैं जो अनेक स्थलों पर उर्दू-शैली का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए स्व० पंडित पद्म सिंह शर्मा लिखित 'बिहारी-सतसई' की सुविख्यात टीका मुख्यतः इसी शैली में लिखी गई थी। हमारे

प्रान्त के स्वनामधन्य लेखक राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की भी शैली ऐसी ही है। यदि उर्दू को स्वतंत्र भाषा मान भी लिया जाय, तो वह संपूर्ण भारत की जनता के बीच इस प्रकार घुल-मिल गई है कि बोलने अथवा लिखने-पढ़ने वालों का क्षेत्र स्पष्टतया अलग करना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव है। उर्दू तो स्वयं एक जीवित शैली है और हमारी राष्ट्रभाषा में घुल-मिल कर उसका स्वरूप बन गई है। राष्ट्रभाषा का अंग बने रहने में ही उसके हित और गौरव की रक्षा है। तभी उसकी शैली अमर रह सकती है। साहित्य के रूप में भी वह तभी जीवत और गतिशील रहेगी। इसलिए, उर्दू-भाषाभाषियों से मेरा नम्र निवेदन है कि संकीर्णता के वशीभूत होकर, वे व्यर्थ आंदोलन में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर और वातावरण को विषाक्त बनाने की कुचेष्टा से अपने को दूर रखें।

विहार में इस तरह का आंदोलन चलाना तो और भी उपहासास्पद है। इस राज्य में बसने वाले मुसलमान भी मगही, मैथिली और भोजपुरी बोलियाँ बोलते हैं तथा कैथी लिपि में लिखा-पढ़ी करते हैं। शहरों में भले ही कुछ ऐसे मुसलमान मिल जायँ, जो उर्दू लिख-पढ़ लेते हैं। उर्दू को अंशतः अपनाने वाली कायस्थ-जाति के लोग भी, इस राज्य में, कैथी में ही अपना सारा कारवार करते हैं। कैथी, वस्तुतः देवनागरी लिपि का ही एक रूप है। अतः सरकार से हमारा विनम्र अनुरोध है कि वह धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) राज्य के नाम पर, इस कुत्सित आंदोलन को प्रश्रय न दें। यदि इस तरह की हरकत की गई, तो भाषा के नाम पर देश में न जाने कितने छोटे-छोटे टुकड़े कायम हो जायँगे और हमारा भारत-संघ न जाने कितने टुटपुँजिया पाकिस्तानों में बँट जायगा। इससे देश की एकता छिन्न-भिन्न हो जायगी और साम्प्रदायिकता का जहर भी हमारे राष्ट्र की नस-नस में फैल जायगा जिसका परिणाम, हम सबके लिए, बहुत ही घातक होगा।

रेडियो और सिनेमा

रेडियो और सिनेमा—दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं—एक नहीं; लेकिन दोनों प्रायः एक ही कोटि में आ गई है। सिनेमा सस्ते गीत प्रस्तुत करता है और हमारा अखिल-भारतीय रेडियो उन अश्लील गीतों का प्रचार बड़े उत्साह के साथ करता है। राष्ट्रभाषा हिंदी और साहित्य की सेवा या इनके द्वारा राष्ट्रीय जीवन की सेवा करना उसका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य हो गया है केवल फरमायशी गानों के रेकार्ड बजाना !

हिंदी-सेवियों द्वारा लंबे अरसे तक आंदोलन होते रहने पर रेडियो में हिंदी-भाषा का रूप तो कुछ रास्ते पर आया है, फिर भी, उसका स्थान अब भी अत्यंत नगण्य ही है। विशेष कर, जब से पटना, लखनऊ और इलाहाबाद के हिंदी-कार्यक्रमों को काट-छाँट कर एक साथ नत्थी कर दिया गया है तब से तो रेडियो में हिंदी का स्थान और भी संक्षिप्त हो गया है।

इसके विपरीत हिंदी का नियमित स्थान सभी प्रादेशिक रेडियो-कार्यक्रम में होना चाहिए। राष्ट्रभाषा हिंदी के संपर्क में आकर ही प्रत्येक प्रदेश राष्ट्रभाषा के माध्यम से लाभ उठा सकता है और समय की गति के साथ चल सकता है। प्रादेशिक भाषाओं और साहित्य को भी लाभ हिंदी से होगा। प्रादेशिक रेडियो-कार्य-क्रमों में यदि प्रतिदिन आध घंटे का कार्यक्रम हिंदी-भाषा के संबंध में रहें, तो इससे अहिंदी-

भाषियों को हिंदी का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सुविधा होगी। साथ ही, यदि प्रत्येक प्रादेशिक रेडियो-कार्यक्रम में प्रतिदिन पंद्रह मिनट का कार्यक्रम भारतीय साहित्य के संबंध में रक्खा जाय, तो इससे सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य परस्पर दैनिक संपर्क में आ जायँगे और एक दूसरे की विशेषताओं से लाभान्वित होंगे। जब रेडियो का यह हाल है तब सस्ती और नंगी वासनाओं को उभाड़कर जनता की जेब काटने वाले सिनेमा के विषय में क्या शिकायत की जाय? साहित्य के प्रश्न को दरकिनार कर यदि केवल भाषा के संबंध में विचार करें, तो भी निराशा ही हाथ आयगी। नाम है हिंदी-फिल्म, और काम है हिंदी के साथ अरबी-फारसी की अजीबो-गरीब खिचड़ी पकाना।

साहित्य भी पढ़ें

जनता-जनार्दन से मैं केवल हिंदी-भाषा को ही नहीं, बल्कि हिंदी-साहित्य को भी अपनाने का निवेदन करूँगा। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि भाषा और साहित्य का अन्योन्याश्रय संबंध है। और, इनमें से एक को अपनाने के लिए दूसरे को अपनाना आवश्यक है। हिंदी-साहित्य के संबंध में ऐसी धारणा फैली हुई है कि उसका साहित्य दुर्बल है। यह धारणा अधिकांश में गलत है; हिंदी-साहित्य का अभाव बहुत-कुछ दूर हो गया है तथा हो रहा है और उसमें भिन्न-भिन्न विषयों के प्रामाणिक ग्रंथ भी उपलब्ध होने लगे हैं। बेचारी जनता को न तो उनकी जानकारी रहती है और न वह उनकी खोज-ढूँढ़ ही करती है। खोज-ढूँढ करके भी हमें हिंदी-पुस्तकों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। अच्छे पुस्तक-विक्रेता और प्रकाशक अभीष्ट विषयों की पुस्तकों का पता आसानी से लगा सकते हैं। अपनी माता, अपनी मातृभूमि, अपनी संतान और अपनी भाषा के संबंध में दुर्बलता का सवाल कभी लागू ही नहीं होता। अपनी माता और अपनी संतान की उपेक्षा उसकी दुर्बलता के कारण नहीं की जाती, बल्कि उसे अपना कर पोषक तत्वों से पुष्ट किया जाता है। अपनी भाषा के साहित्य के संबंध में भी ऐसा ही दृष्टिकोण तथा आचरण अपेक्षित है। जो दुर्बल है उसकी उपेक्षा करके हम दुर्बलता को नहीं मिटा सकते हैं। दुर्बलता को मिटा सकते हैं उसे अपना कर तथा पौष्टिक तत्त्व देकर ही।

अहिन्दीभाषी नागरिकों से

अहिंदी-भाषी नागरिकों का भी राष्ट्रभाषा के प्रति बहुत बड़ा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है। राष्ट्रभाषा हिंदी किसी एक राज्य या प्रदेश की आवश्यक भाषा नहीं है। वह तो सबकी आवश्यक भाषा है। वह भारत समस्त राष्ट्र की भाषा है और जिस प्रकार अपने प्रदेश के साथ-साथ राष्ट्र के प्रति भी हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा के प्रति भी हमारा उत्तरदायित्व कम नहीं है। राष्ट्रभाषा के संबंध में सब को राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति से काम लेना चाहिए, प्रादेशिक संकीर्णताओं से कदापि प्रभावित न होना चाहिए। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में संकीर्णताओं को घसीट लाना संस्कृति का नहीं, प्रत्युत, असंस्कृति का ही द्योतक माना जायगा। गाँधी जी ने कहा था—"राष्ट्रभाषा का चुनाव निष्पक्ष भाव से होना चाहिए। उसपर धार्मिक दृष्टिकोण से विचार करना गुनाह होगा।" वस्तुतः धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि प्रादेशिक दृष्टिकोण से विचार करना भी गुनाह होगा, और शायद बहुत बड़ा गुनाह होगा; क्योंकि प्रादेशिक भाषाओं के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष या मुठभेड़ से हमारी सभी भाषाएँ छिन्न-भिन्न होंगी और राष्ट्रभाषा की समस्या हल ही न हो सकेगी।

बिहार के बंगाली भाइयों से

सौभाग्यवश यह सम्मेलन छोटानागपुर के अंचल में हो रहा है जो संताली-भाषा का क्षेत्र है और मानभूमि तथा सिंहभूमि के कुछ भागों में बँगला का भी प्रभाव है। यह भाषाओं की अनेकता बिहार के लिए दुर्भाग्य का नहीं, वल्कि सौभाग्य का सूचक है। राष्ट्रभाषा को अनेक भाषाओं की बहुविध जीवन-धाराएँ मिलेंगी और राष्ट्रभाषा से भी सभी भाषाएँ अतुल शक्ति प्राप्त करेंगी। राष्ट्रभाषा हिंदी को किसी भी भाषा से द्वेष नहीं, वल्कि वह तो सबके अभ्युदय और सब के सहयोग में ही अपना हित मानती है। न तो संताली तथा अन्य आदिम जातियों की भाषाएँ इतनी अल्पायु हैं कि वे हिंदी के धृतराष्ट्र-आलिंगन से चकनाचूर हो जायँगी और न बँगला ही ऐसी पिछड़ी हुई भाषा है कि वह हिंदी की छाया से क्षयग्रस्त हो जायगी। वह दिन दूर नहीं है जब कि बँगला में कबीर, सूर और तुलसी आदर पायेंगे तथा हिंदी में रवीन्द्रनाथ-शरच्चन्द्र बिलकुल अभिन्न माने जायेंगे, किसी परायी भाषा के साहित्यकार नहीं।

बिहार के बँगला-भाषियों को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि उन्हें बिहार-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के तत्वाधान में हिंदी सीखने का सुअवसर मिल जाता है। बिहार के हिंदी-साहित्य-सेवी भी बँगला के संपर्क से अपनी हिंदी रचनाओं में नवीन रक्त का संचार कर देते हैं। बँगला भाषा और साहित्य अत्यंत उन्नत है। जिनसे हिंदी को बहुत कुछ लेना है और वह ले भी रही है। दूसरी ओर, हिंदी के पक्ष में स्वयं जनतान्त्रिक दृष्टिकोण है जिसकी उपेक्षा बँगला-साहित्य के सुसंस्कार में पले हुए भाइयों को न करनी चाहिए। उनके ऊँचे संस्कार से ऐसी आशा ही नहीं की जा सकती।

संयोगवश मानभूमि और सिंहभूमि के कुछ भागों को पश्चिमी बँगाल में मिलाने की माँग चल रही है जिससे कुछ लोग गलतफहमी के शिकार भी हो रहे हैं। हम समझते हैं और उसे स्पष्ट भी कर देना चाहते हैं कि इस माँग का अर्थ राष्ट्रभाषा और बँगला भाषा में कोई पारस्परिक द्वेष या संघर्ष नहीं है। राष्ट्रभाषा हिंदी के साथ आप अपनापन का संबंध कायम करें। आज या कल सारे देश को ऐसा करना पड़ेगा। संयोग और सौभाग्य से आपको आज ही सुअवसर प्राप्त हो रहा है। आप से हिंदी-भाषा और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। हिंदी सीख कर ही आप राष्ट्रभाषा में बँगला के वरदानों को ला सकेंगे और उसे प्रभावित कर सकेंगे। इसके लिए हम आपको सादर निमंत्रण देते हैं और पूरी आशा रखते हैं कि हम-आप स्थायी रूप से गले-गले मिल सकेंगे। हिंदी जगत् में भी आप जो कुछ देखें-सुनें और जो कुछ उससे लेकर बँगला को देना चाहें, सहर्ष दें। आप ज्ञान का पथ ग्रहण करें—अज्ञान का नहीं। आप प्रकाश के पथिक बनें—अंधकार के नहीं। आइए, हम सब मिलकर संस्कृति की मंगल-साधना करें।

संताल भाइयों से

बिहार के आदिवासी या संताल भाइयों ने जिस हार्दिक प्रेम के साथ हिंदी को अपनाया है, वह हमारे लिए हर्ष, गर्व और संतोष की वस्तु है। हम अपने आदिवासी भाइयों को हार्दिक बधाइयाँ और धन्यवाद देते हैं। जिस तरह हिंदी किसी भी भाषा का अहित-साधन नहीं करती, उसी तरह संताली भाषाओं का भी वह अहित-साधन नहीं करती, बल्कि हित-साधन ही करती है।

आपकी संताली भाषाओं का हम आदर करते हैं,जो हमारी अमूल्य निधियाँ है। छोटानागपुर की खनिज की तरह आपकी भाषाएँ और संस्कृति भी हमारे लिए अत्यंत मूल्यवान् तथा रक्षणीय है। आप से हमारा सादर अनुरोध है कि आप हिंदी को दिन-दिन और भी अधिक उत्साह से अपना कर अपनी सदाशयता और दूरदर्शिता का परिचय दें। आप राष्ट्रभाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त कर लें कि उसके माध्यम से आप समग्र भारत के सम्मुख अपनी संस्कृति का गौरव प्रदर्शित कर सकें।

राष्ट्रभाषा की साधना

मैं एक बार पुनः अनुरोध करता हूँ कि राष्ट्रभाषा की साहित्य-साधना को तीव्र गति से आगे बढ़ाया जाय। विद्वान् लेखक अपनी लेखनी के वरदानों से राष्ट्रभाषा का भंडार भर कर अक्षय यश के भागी बनें। इसमें जितनी ही देर होगी, राष्ट्रभाषा के वनवास की अवधि उतनी ही बढ़ जाने का खतरा रहेगा। भोजपुरी, मैथिली और मागधी के अतिरिक्त संताली भाषाओं की भी शब्द-संपत्ति बिहार के पास है, जिससे हिंदी अत्यंत लाभान्वित एवं समृद्ध हो सकती है। इन जनपदीय भाषाओं के अपने-अपने सांस्कृतिक क्षेत्र भी हैं। इन सांस्कृतिक विशेषताओं के संबंध में व्यापक अनुसंधान अपेक्षित है। राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस दिशा में कुछ प्रयास आरंभ किया है। परंतु पर्याप्त प्रयास की संभावना बिहार-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में ही मालूम पड़ती है। दुर्भाग्य से सम्मेलन भीषण रूप में आर्थिक अभावग्रस्त है जिसके कारण उसकी सारी योजनाएँ ठप पड़ी हैं। सभापति की हैसियत से हम बिहार की राष्ट्रभाषा-प्रेमी जनता के सामने सम्मेलन की झोली फैलाते हैं और आशा करते हैं कि उसके भर जाने में देर न होगी।

मैंने आपका बहुत समय ले लिया; तोभी मैं नहीं समझता कि मैं हिंदी से संबंध रखने वाली सारी समस्यायों पर समुचित प्रकाश डाल सका हूँ। राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो जाने से हिंदी की समस्याएँ बहुत ही व्यापक हो गई हैं। प्रत्येक हिंदी-भाषा-भाषी और हिंदी-प्रेमी का कर्त्तव्य है कि वह उन समस्यायों पर विचार करें और उनके हल का उपाय जनता के सामने रखें, तभी हिंदी का कल्याण हो सकता है। अतः अंत में, एक बार पुनः मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

जय हिंद !

श्रद्धा की साधना

'जं सक्कइ तं कीरइ जं य ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥

जितनी शक्ति हो उतना आचरण करो। जहाँ शक्ति न चले, श्रद्धा को जागरित करो। क्योंकि श्रद्धावान् प्राणी भी अजर-अमर पद को प्राप्त करता है।

—जैनशासन

सम्मेलन के २३वें अधिवेशन (झरिया) के

स्वागताध्यक्ष श्री मुकुटधारी सिंह का भाषण

माननीय सभापति महोदय, आदरणीय अतिथियो, उपस्थित बहनो और भाइयो !

दूर-दूर से पधार कर आप लोगों ने हमारे प्रति जिस सहृदयता और उदारता का परिचय दिया है, उसके लिए हम आप महानुभावों के ऋणी रहेंगे। कोयले के इस काले प्रदेश में कभी सरस्वती की वीणा भी झंकृत हो सकेगी ; काव्य की निर्झरिणी से यह रूखा-सूखा नीरस अंचल भी रस-प्लावित हो सकेगा और सरस्वती के अनेक वरदपुत्र अपने चरण-रज से इस पांडव-वर्जित भूमि-खंड को पवित्र करेंगे, इसकी आशा न तो हमें थी और न आप में से अधिकांश सज्जनों को ही। फिर भी वह अकल्पनीय सत्य आज साकार रूप धारण कर चुका है। स्वभावतः, आप जैसे सरस्वती के बहुतेरे वरद पुत्रों को अपनी झरिया जैसी शुष्क और नीरस नगरी में इकट्ठा देख कर आनन्दातिरेक से हमारा दिल भर आया है और समझ में नहीं आता, किस तरह हम आपका स्वागत करें। यह सब आप लोगों की ही कृपा का प्रतिफलित साकार रूप है। दूर-दूर से पधार कर आपने हमें जो गौरव प्रदान किया है उसके लिए हम आपके बहुत आभारी हैं।

इस पुनीत अवसर पर जब आप महानुभाव बिहार के इस उपेक्षित अंचल में राष्ट्रभाषा हिन्दी को समादृत करने के लिए इकट्ठा हुए हैं, हमें उन स्वर्गीय भूदेव मुखर्जी की याद बरबस हो आती है, जिन्होंने लगभग एक सदी पूर्व न सिर्फ मानभूमि में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसार में हाथ बँटाया था, बल्कि जिन्होंने नागरी लिपि को अपनाने के लिए समस्त दक्षिण बिहार और बंगाल को प्रेरणा दी थी। और स्वर्गीय मुखर्जी, सरकारी नौकर रहते हुए भी, हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के लिए जो कुछ कर गये हैं, उतना हिन्दी के बहुत से महारथी भी नहीं कर पाये हैं।

मानभूमि ने न सिर्फ हिन्दी के प्रचार और प्रसार में ही हाथ बँटाया है, बल्कि उसे हिन्दी के एक महारथी को भी पैदा करने का गौरव प्राप्त है। वह महारथी हैं, प्रतिभा-सम्पन्न तरुण साहित्यकारों के स्तम्भ, श्री हंसकुमार तिवारी। कल, यहाँ पर, जो कवि सम्मेलन होने जा रहा है, उसके सभापति श्री हंसकुमार जी ही हैं। उनको सभापति चुनते समय हमारे मस्तिष्क में उनकी प्रतिभा और पांडित्य की कौंध तो थी ही, साथ ही वे 'मानभूमि के वरद पुत्र हैं' यह लोभ भी था। यद्यपि तिवारी जी ने मानभूमि को छोड़कर गया को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया है, फिर भी वे हमारे हैं और हमारे रहेंगे।

मगर जहाँ एक ओर तिवारी जी जैसे महारथी ने इस जिले को छोड़कर दूसरे जिले को अपनी कर्मभूमि बनाई है, वहाँ दूसरी ओर सर्व श्री ब्रह्मदेव सिंह शर्मा, सतीश चन्द्र, लम्बोदर झा, महेश्वर प्रसाद, सकलदेव सिंह, उमेश्वरी प्रसाद तथा भागीरथ पाण्डेय आदि गण्यमान्य साहित्यकार यहाँ, हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिए, जो भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, वह भी क्या भूलने की

चीज है ? अब तो मानभूमि ने भी कुछ और वरदपुत्रों को पैदा कर लिया है। वैसे वरदपुत्रों में सर्व श्री कुंजविहारी चौधरी, रामगोपाल अग्रवाल, निरंजन लाल जालान 'विकल', निरंजन लाल भगानिया, रामजीवन अग्रवाल, श्री निवास पानुरी आदि का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। इन साहित्यिकों की प्रेरणा और सहयोग के ही फलस्वरूप हिन्दी के इस अत्यन्त पिछड़े इलाके में भी हिन्दी पल्लवित और पुष्पित होती रही और पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन और प्रकाशन का क्रम भी जारी रहा। शायद आपको पता न होगा कि इस तथाकथित पिछड़े जिले में जितने हिन्दी पत्रों का प्रकाशन होता है, उतना पटना को छोड़ कर बिहार के अन्य किसी भी अंचल में नहीं होता अब भी इस जिले से चार साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं।

पर यह न तो मिथिला प्रदेश है और न भोजपुरी या मागधी, जहाँ रोज-रोज साहित्यिक पैदा होते हैं और सदा साहित्य-चर्चा होती रहती है। यह कोयले की दुनिया है, यहाँ लक्ष्मी की की पायल की झंकार में सरस्वती की वीणा डूब जाती है और कलाकारों की तुलिका गैंतों की चोट के सामने रुक-सी जाती है। मगर कहाँ कितने साहित्यिक पैदा होते हैं और कितनी साहित्यिक सभाएँ होती है, यह साहित्य-सेवा का उचित मापदंड नहीं है। मापदंड तो यह होना चाहिए कि किसने साहित्य के लिए क्या किया है ? और; हमें प्रसन्नता है, इस मापदंड पर मानभूमि किसी भी स्थान से पिछड़ा हुआ नहीं है। पटना और कलकत्ता के पत्र-प्रवन्धकों और प्रकाशकों तथा साहित्यिक संस्थाओं के संचालकों से पूछ देखिये, मानभूमि ने उन्हें कितना बल प्रदान किया है।

फिर भी आपको सम्भवत: पता नहीं होगा कि मानभूमि ने अब तक जो कुछ भी किया है, अपने बल पर ही। हमें क्षमा प्रदान करें, तो हम कहेंगे कि बिहार सरकार और अंशत: बिहार साहित्य-सम्मेलन ने भी यदि मानभूमि के साथ सौतेली माँ के समान व्यवहार नहीं किया होता, तो आज आप यहाँ कुछ और ही समा देखते। विहार सरकार और सम्मेलन की रिपोर्टों तथा विज्ञप्तियों में आप अक्सर मानभूमि का नाम पढ़ते होंगे। यह भी पढ़ने का अवसर मिला होगा कि मानभूमि में हिन्दी की अभिवृद्धि के लिए सरकार ने इतने रुपये खर्च किये हैं, इतने प्रचारक रख छोड़े हैं, हिन्दी का इतना प्रचार हुआ है, इतना प्रसार हुआ है। रुपये खर्च होते हैं जरूर ; शायद आप में से बहुतों को यह मालूम नहीं होगा कि विहार सरकार इस साल इस जिले में हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख रुपये खर्च करती है। पुरुलिया और धनबाद सबडिविजन में क्रमश: २५० और ९० रात्रि-पाठशालाओं तथा ४७० और ७० प्राइमरी पाठशालाओं की व्यवस्था है। ८ शिक्षक-ट्रेनिंग स्कूल भी हैं और इन सब में शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। मगर आपको रिपोर्ट और विज्ञप्तियों से वस्तुस्थिति का कहीं भी सामंजस्य नहीं नजर आयगा। यदि इस क्षेत्र में जोरों से चलती रहने वाली चर्चा पर विश्वास किया जाय तो यह मानना होगा कि सरकारी पैसों का बहुत हद तक दुरुपयोग ही हो रहा है। प्रतिवर्ष लाखों-लाख रुपये, हिन्दी प्रचार और प्रसार के नाम पर, पानी की नाईं बहाते समय इस क्षेत्र के प्रमुख साहित्य-सेवियों से सहयोग या सुझाव लेने की आवश्यकता ही नहीं महसूस की गई है।

हम स्वयं, जीवन के प्रारंभ से ही, हिन्दी साहित्य की सेवा करते आ रहे हैं। सम्मेलन से भी हमारा संबन्ध रहता आया है। बिहार के पत्रकार जगत् से भी हमारा ताल्लुक बहुत पुराना

है। हमारे जैसे और भी साहित्य-सेवी तथा साहित्य-प्रेमी यहाँ मौजूद हैं, जिनका सम्बन्ध भी सम्मेलन से रहता आया है। परन्तु विहार सरकार या हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से मानभूमि में होने वाले हिन्दी-प्रचार-कार्य का न तो हमें पूरा पता है और न हमारे बहुत से दूसरे साहित्यिक मित्रों को ही। विभिन्न विषयों पर विहार सरकार हजारों-हजार रुपये खर्च कर पुस्तकें लिखवाती है। परन्तु कोयले पर, मजदूरों पर या तत्सम्बन्धित विषयों पर आज तक एक भी पुस्तक का प्रकाशन सरकार नहीं करवा सकी है। क्यों? और भी देखिये—जब से प्रौढ़-शिक्षा और पुस्तकालय-आन्दोलन चला है तब से प्रतिवर्ष सरकार हजारों-हजार की संख्या में विहार-राज्य तथा दूसरे राज्यों से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ खरीद कर बँटवाती है, मगर उनमें मानभूमि से प्रकाशित एक भी पत्र की गुंजाइश नहीं है। यों तो प्रोत्साहन के खयाल से भी मानभूमि से प्रकाशित साधारण पत्रों की हजार, दो हजार प्रतियाँ सरकार को खरीद कर बँटवानी चाहिए थी, ताकि विहार के औद्योगिक अंचल की गतिविधि से राज्य का अन्य भाग परिचित होता रहता और मानभूमि की जनता भी स्थानीय पत्र होने के कारण हिन्दी पत्रों में दिलचस्पी लेती। मगर मानभूमि से प्रकाशित पत्रों में तो एक-आध पत्र ऐसे भी हैं, जिनका मानदण्ड विहार से प्रकाशित अन्य किसी भी पत्र के बराबर माना जाता है। ऐसे पत्रों से आप सभी परिचित भी हैं, नाम लेने की आवश्यकता नहीं। इसी क्षेत्र से प्रकाशित अँग्रेजी के पत्रों में विहार सरकार के विज्ञापन छपते हैं; पर हिन्दी पत्रों को विज्ञापन नहीं दिये जाते। पत्रों को सरकारी स्वीकृति-सूची में भी जगह नहीं दी जाती। यहाँ की साहित्यिक संस्थाओं के साथ भी वैसी ही उपेक्षा की नीति-बरती जाती है। झरिया के सरस्वती पुस्तकालय, आर्य कुमार पुस्तकालय, हिन्दी-साहित्य परिषद्; धनबाद के वैदिक पुस्तकालय और सबडिविजनल राष्ट्र-भाषा-परिषद्; कतरास के भारतीय क्लब; चिरकुंडा के सत्यनारायण पुस्तकालय; चास के देशरत्न साहित्य-सदन; चाँडिल के सरस्वती पुस्तकालय; पुरुलिया के रामधारी पुस्तकालय और लाइब्रेरी; बलियापुर के राजेन्द्र क्लब; बड़ा बाजार के हिन्दी पुस्तकालय आदि जैसे दर्जनों संस्थाएँ यहाँ साहित्य-प्रसार में संलग्न हैं। श्री रामानन्द खेतान और उनके सहयोगियों के अथक परिश्रम और लगन का साकार रूप भारतीय क्लब तो अपने ढंग की एक ही साहित्यिक संस्था है। पर, इनमें से अधिकांश को सरकार से कोई सहायता नहीं मिलती और किसी को मिलती भी है तो नाममात्र की।

इतनी सारी कठिनाइयों के बावजूद भी मानभूमि में हिन्दी की जो स्वतः प्रगति हुई है, वह आपकी आँखों के सामने है। उसके बारे में हमें कुछ कहना नहीं है। कहना है तो इतना ही कि मानभूमि की उपेक्षा कर आप अपना अकल्याण ही कर सकते हैं, कल्याण नहीं।

जरा गहरे पैठ कर देखिये। मानभूमि की अपनी भाषा और अपनी संस्कृति है। गाँवों में बसने वाले न तो शुद्ध हिन्दी बोलते हैं और न शुद्ध बँगला। यह स्वभाविक भी है; दो प्रान्तों की सीमा पर अवस्थित होने के कारण भाषा की खिचड़ी पकती ही रहती है। फिर भी मानभूमि के निवासियों की भाषा का बँगला से अधिक हमारी मागधी भाषा से सान्निध्य है। ऐसी दशा में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की इस अंचल में, फिर से प्राण-प्रतिष्ठा करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। हिन्दी के राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त कर लेने के बाद तो उसे नहीं सीखने का सवाल

ही नहीं उठता। फिर भी जिन्हें भ्रामक प्रचार में ही मजा आता है, वे क्योंकर बाज आते और उन्होंने काफी कटुता फैलाई है।

इसी कटुता के चलते आज पुरुलिया सबडिविजन का वातावरण खास तौर पर विषाक्त हो उठा है और हिन्दी-बँगला-विवाद अपनी चरम सीमा पर है। जहाँ तक हमने वस्तुस्थिति का अध्ययन किया है, मानभूमि में बसने वाले अहिन्दी भाषा-भाषी राष्ट्रभाषा हिन्दी के उतने विरोधी नहीं हैं, जितने जबर्दस्त हिन्दी को उनके सर पर लादने की नीति के। हमें ऐसे अनेक भद्र पुरुषों से बातें करने का अवसर मिला है और सब ने यह स्वीकार किया है कि हरएक अहिन्दी भाषा-भाषी को हिन्दी सीखनी होगी। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में जिस गलत ढंग से मानभूमि में, खास कर पुरुलिया सबडिविजन में, हिन्दी के प्रचार और प्रसार का काम हुआ है, उससे स्थिति काफी पेंचीदा हो गई है और राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरोधी यह प्रचार करने का अवसर पा गये हैं कि बिहार सरकार, हिन्दी प्रचार के बहाने, बँगला भाषा को ही इस क्षेत्र से निष्कासित कर देना चाहती है। इस कुप्रचार का ही यह नतीजा है कि सारे बिहार में सिर्फ धनबाद ही एक ऐसी जगह है, जहाँ पर कचहरियों में हिन्दी और नागरी के प्रयोग का विरोध किया गया है। ऐसी दशा में इस अंचल में सम्मेलन को बहुत महत्वपूर्ण और ठोस काम करना पड़ेगा और मानभूमि के निवासियों को विश्वास दिलाना होगा कि हमारा उद्देश्य, इस अंचल में, राष्ट्रभाषा हिन्दी की जड़ को मजबूत करना है, न कि किसी स्थानीय भाषा या बोली पर कुठाराघात करना। जब तक हम ऐसा नहीं करते और जब तक विषाक्त वातावरण साफ नहीं हो जाता, तब तक हम अपने प्रयास में पूरा सफल नहीं हो सकते। इसके लिए आवश्यकता है, इस अंचल में, सम्मेलन की ओर से इलाकाई केन्द्र खोलने की। उनके संचालन का भार चुने हुए साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं के जिम्मे रहना चाहिए। हम चाहते हैं, जब आप हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए इतनी दूर आये हैं तो कुछ ठोस काम करके ही यहाँ से जायँ और वह ठोस काम पटना में बैठ कर नहीं किया जा सकता। इस सम्मेलन के सिलसिले में हमने देखा ह, हिन्दी के प्रति अपना तन-मन-धन अर्पण करने वालों की यहाँ कोई कमी नहीं है। कमी है तो सिर्फ उन्हें जुटाकर एक साथ ले चलने वालों की। सम्मेलन की प्रेरणा से अभी-अभी धनबाद में युवक साहित्य-मण्डल की स्थापना हुई है और मानभूमि जिला-साहित्य-सम्मेलन की भी। इस उत्साह और लगन से सम्मेलन चाहे तो बहुत कुछ फायदा उठा सकता है।

आप हमारे हैं, हमारी शिकायत, फरियाद आपको सुननी ही पड़ेगी। आप, हम, सभी एक हिन्दी माता के सेवक हैं, अपनी माँ की श्रीवृद्धि करने के लिए ही हम यहाँ पर एकत्र हुए हैं। अतः, हमें उस सम्बन्ध में कहने-सुनने का अधिकार है ही; जैसे, घर की श्रीवृद्धि करने के लिए ही भाई-भाई को कहने-सुनने का हक होता है।

———

उपासक-दशासूत्र

(दस श्रमणोपासकों की कथा)

अनु०—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

(गतांक से आगे)

सप्तम अंग : षष्ठ अध्ययन

जम्बु के जिज्ञासोपरान्त आर्य सुधर्मा ने कहना प्रारंभ किया—ओ जम्बु! उस समय कम्पिल्लपुर (बदायूँ और फर्रुखाबाद के बीच का शहर) नाम का नगर था। वहाँ सहस्राम्रवण, नाम का एक उद्यान था। वहाँ राजा जितशत्रु राज्य करते थे।

उस नगर में कुण्डकौलिक नाम का एक गृहपति (जमीन्दार) रहता था। उसके पुष्या नाम की एक रूपवती सती भार्या थी। गृहपति अट्ठारह करोड़ के सोने का मालिक था। उसकी छै गोशालाएँ थीं और प्रत्येक में दस हजार गायें रहती थीं।

एक दिन उस नगर में स्वामी महावीर का पदार्पण हुआ। कामदेव गृहपति की तरह कुण्डकौलिक ने भी स्वामी के चरणों में श्रावकधर्म को प्राप्त किया। अथ च धीरे-धीरे तथाकथित सभी व्रतों का अनुपालन करने लगा।

उसके बाद वह श्रमणोपासक कुण्डकौलिक किसी दूसरे दिन आधीरात के समय—जहाँ पर छोटा-सा एक अशोक-वन था, जहाँ एक पृथ्वीशिलापट्ट था—वहीं जा पहुँचा। उसके बाद उसने अपने नाम की अँगूठी और चादर को उस शिलापट्ट पर रख दिया। उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में उपलब्ध धर्म-प्रज्ञप्ति में विहार-मग्न हो गया।

उसके बाद कुण्डकौलिक श्रमणोपासक के सामने एक देवता प्रकट हुआ। उस देवता ने श्रमणोपासक की नाममुद्रिका और उत्तरीय को शिलापट्ट से उठा लिया। उसके बाद किंकिणि-ध्वनि के साथ आकाश के बीच (अधर में) खड़े होकर उसने श्रमणोपासक कुण्डकौलिक से इस प्रकार कहा—"ओ श्रमणोपासक! कुण्डकौलिक! देवानुप्रिय! गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति बड़ी सुन्दर है। उसमें न उत्थान है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषकार है, न पराक्रम है और न कर्म है। अथ च उसके सभी भाव नियत (अपरिवर्त्तनशील) हैं। (अर्थात् गोशालक मंखलिपुत्र का धर्म श्रमसाध्य कुछ भी नहीं है)। श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति तो अति तुच्छ है। उसमें उत्थान है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार है, पराक्रम है, और है कर्म (अर्थात् अत्यधिक कष्टसाध्य है) अथच उसके सभी भाव अनियत (परिवर्त्तनशील) हैं।"

(उसके बाद श्रमणोपासक कुण्डकौलिक ने देवता से इस प्रकार कहा—"यदि गोशालक मंखलिपुत्र की धमप्रज्ञप्ति बड़ी सुन्दर है; उसमें उत्थान आदि श्रम नहीं हैं,

उसके भाव नियत हैं; और, श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति अति तुच्छ है, जिसमें उत्थान आदि श्रम की आवश्यकता भरी हुई है तथा जिसके भाव अनियत हैं;) तो महाराज! आपने जो इस प्रकार की दिव्य देव-संपत्ति, दिव्य देव-कांति और दिव्य देवानुभाव को उपलब्ध किया है सो किस धर्मप्रज्ञप्ति के बल से, जिसमें उत्थानादिजन्य श्रमसाध्यता भरी है, उससे या जिसमें अनुत्थानादिजन्य सहजसाध्यता भरी है, उससे?"

उसके बाद देवता ने श्रमणोपासक कुण्डकौलिक से कहा—"देवानुप्रिय! सचमुच, मैंने तो इस प्रकार की दिव्य देव-संपत्ति, दिव्य देव-कांति और दिव्य देवानुभाव को अनुत्थानादि-विशिष्ट सहजसाध्य धर्मप्रज्ञप्ति द्वारा उपलब्ध किया है।"

उसके बाद श्रमणोपासक कुण्डकौलिक ने देवता से इस प्रकार कहा—"महाराज! यदि आपने इस प्रकार की दिव्य देवसंपत्ति, दिव्य देवकांति और दिव्य देवानुभाव अनुत्थानादिविशिष्ट सहजसाध्य धर्मप्रज्ञप्ति द्वारा उपलब्ध किया है, तो जिन जीवों में उत्थानादि हैं वे इस प्रकार की दिव्य देवकांति आदि के अधिकारी नहीं हो सकते! (सर्वसंगत बात तो यह है कि) आप ने इस प्रकार की दिव्यता अवश्यमेव उत्थानादि-विशिष्ट श्रमसाध्य धर्मप्रज्ञप्ति द्वारा उपलब्ध की है, (बिना श्रम या साधना के दिव्यता-प्राप्ति संभव नहीं)। इसलिए, देव! आप जो कहते हैं कि गोशालक मंखलिपुत्र की अनुत्थानादिविशिष्ट सहजसाध्य धर्मप्रज्ञप्ति बड़ी सुन्दर और श्रमण भगवान् महावीर की उत्थानादिविशिष्ट श्रमसाध्य धर्मप्रज्ञप्ति अति तुच्छ है, वह सर्वथा मिथ्या है।"

श्रमणोपासक कुण्डकौलिक के ऐसा कहने पर वह देवता एकबारगी आशंका और क्षोभ से कलुषित हो उठा; और, जब उससे कोई प्रामाणिक ठोस प्रत्युत्तर नहीं बन पड़ा तो श्रमणोपासक की नाम-मुद्रिका और उत्तरीय को शिलापट्ट पर रख कर जिस ओर से आया था उसी ओर चला गया।

उसी समय, उस नगर में स्वामी महावीर का पदार्पण हुआ।

उसके बाद श्रमणोपासक कुण्डकौलिक स्वामी के पदार्पण का संवाद पाकर समंडलीक (कामदेव गृहपति जैसे गया था) भगवान् के चरणों में पहुँचा। पहुँचकर वन्दना-उपासना की। धर्मकथा का उपदेश हुआ।

श्रमण भगवान् महावीर ने कुण्डकौलिक से पूछा—"कुण्डकौलिक! अशोकवन में आधी रात के समय तुम्हारे सामने एक देवता प्रकट हुआ था। उसने तुम्हारी नाम-मुद्रिका और उत्तरीय को उठा लिया और तुमसे वाद-विवाद किया, उसके बाद वह चला गया। इसका अर्थ तुमने समझा?"

(कुण्डकौलिक ने विनम्र प्रत्युत्तर किया)—"हाँ भन्ते! (भगवन्) समझ गया।"

(भगवान् महावीर ने मुस्कुराते हुए कहा)—"कुण्डकौलिक! कामदेव श्रमणोपासक के समान तुम भी धन्य हो!"

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने बहुत-से भिक्षु-भिक्षुणियों को बुलाकर उपदेश किया—"आर्यो ! गृहस्थ लोग घर में रहते हुए भी अपने शास्त्र (सिद्धान्त) के अर्थ, हेतु, प्रश्न और व्याकरण (व्यालोचन) द्वारा जैन संघ के अतिरिक्त संघानुयायियों के सिद्धान्तों का खण्डन (निरुत्तरीकरण) कर सकते हैं। और, बारह अंगों वाले गणिपिटक (पवित्र धर्म-संग्रह) का अध्ययन करने वाले भी श्रमण निर्ग्रन्थ, स्त्री-पुरुष दोनों अन्य-संघसेवियों के सिद्धान्त को अपने शास्त्रार्थ आदि द्वारा खंडित (निरुत्तर) कर सकते हैं।"

सभी श्रमण निर्ग्रन्थ (स्त्री-पुरुष) भगवान् के वचनों को सविनय अनुशासित व्यक्ति की मुद्रा में ग्रहण करते हैं।

उसके बाद श्रमणोपासक कुण्डकौलिक भगवान् की वन्दना कर उनसे प्रश्नों को पूछता है और उनके प्रत्युत्तरों को ध्यानपूर्वक ग्रहण करता है। उसके बाद वह जिस ओर से आया था उसी ओर चला जाता है।

स्वामी महावीर भी अन्य किसी देश में विहारार्थ चले जाते हैं।

श्रमणोपासक कुण्डकौलिक की शील, व्रत आदि अनुष्ठित तपस्या के जब चौदह वर्ष बीत गए तब पन्द्रहवें वर्ष के बीच किसी दिन श्रमणोपासक कुण्डकौलिक (कामदेव गृहपति जैसा) अपने गार्हस्थ्य-भार को अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर, पोषधशाला में धर्म-प्रज्ञप्ति की उपलब्धि के हेतु तपोविहार में मग्न हो गया। अथच, ग्यारहों व्रत-प्रतिमाओं के अनुष्ठान को पूरा किया।

इस प्रकार तपस्या द्वारा अपने को भावितकर वह श्रमणोपासक कुण्डकौलिक समाधिस्थ हो गया। उसे स्वर्ग के अरुणध्वग विमान (भवन) में देवत्व की प्राप्ति हुई।

गौतम के पूछने पर भगवान् महावीर ने कहा—'पूर्णता की प्राप्ति के लिए कुण्डकौलिक महाविदेह देश में पुनर्जन्म ग्रहण करेगा।'

सप्तम अंग : सप्तम अध्ययन।

जम्बु के प्रश्नोपरांत सुधर्मा ने कहा—

उस समय पोलासपुर नाम का एक नगर था। वहाँ 'सहस्राम्रवण' नाम का एक उद्यान था। जितशत्रु राजा वहाँ राज्य करते थे।

उस पोलासपुर नगर में सद्दालपुत्र नाम का एक कुम्हार रहता था। वह 'आजीविक' सिद्धान्त का अनुयायी था। आजीविक सिद्धान्त के अनुसार वह इस सुनिश्चित अर्थ को जानता था कि संसार में विषय-वासना का उपभोग और प्रेमानुराग ही उच्चतम सत्य है, शेष बातें अनर्थमूलक हैं। इसी आजीविक सिद्धान्त में मस्त होकर वह विषय-विहार में आसक्त रहता था।

सद्दालपुत्र को एक करोड़ का नकद सोना था जो खजाने में सुरक्षित रहता था, एक करोड़ का सोना सूद पर लगाया हुआ था और एक करोड़ का सोना अचल सम्पत्ति के रूप में था। एक गोशाला थी, जिसमें दस हजार गायें थीं।

उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के अग्निमित्रा नाम की एक रूपवती भार्या थी। सद्दालपुत्र की पोलासपुर नगर से बाहर, मिट्टी के बरतन की पाँच सौ दूकानें थीं। उन दूकानों में अनेक कर्मचारी वेतन पर रखे गये थे, जिनका काम प्रतिदिन घड़ा आदि मिट्टी के तरह-तरह के बरतनों का बनाना रहता था। और भी, उसके वेतनभोगी बहुत-से कर्मचारी थे—जिनका काम प्रतिदिन उन विविध बरतनों का राजमार्गों पर व्यापार (क्रय-विक्रय) करना रहता था।

उसके बाद किसी एक दिन सद्दालपुत्र आधी रात के समय, जहाँ अशोकवाटिका थी, वहीं जा पहुँचा। वहाँ गोशालक मंखलिपुत्र के निकट धर्मप्रज्ञप्ति प्राप्त कर तपोविहार करने लगा।

(एक दिन आधी रात के समय) आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के आगे एक देवता प्रकट हुआ। किंकिणि-ध्वनि के साथ आकाश के बीच (अधर में) खड़े होकर देवता ने सद्दालपुत्र से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रिय! कल प्रातः परमपूज्य, विलक्षण ज्ञान-दर्शनधारी, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रैलोक्यपूजित, मनुज-दनुजों के सर्वदा वन्दनीय, सत्करणीय, कल्याणमूर्त्ति, मंगलचिन्तक, दिव्यादिव्यसत्य-सम्पन्न, अर्हन्, केवली भगवान् जिन यहाँ पदार्पण करेंगे। अतएव तुम उनकी वन्दना करना और आसन, शयन आदि के साथ उनका सादर निमंत्रण करना।" इस प्रकार दो-तीन बार कहकर देवता जिधर से आविर्भूत हुआ था उधर ही अन्तर्हित हो गया।

देवता के ऐसा कहने पर सद्दालपुत्र के मन में आध्यात्मिक चिन्ता से पूर्ण यह संकल्प उत्पन्न हुआ—"सचमुच, मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक तो गोशालक मंखलिपुत्र हैं वे उक्त सभी गुणों से सम्पन्न हैं, वे यदि कल प्रातः ही यहाँ आयेंगे, तो मैं उनकी वन्दनोपासना करूँगा और आसन, शयन आदि के साथ उनका सादर निमंत्रण करूँगा।"

उसके बाद प्रातः सूर्योदय के बाद तपस्तप्तमूर्त्ति श्रमण भगवान् महावीर का वहाँ पदार्पण हुआ। सभा लगी। धर्मोपदेश हुआ। सभा विसर्जित हुई।

आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने भगवान् महावीर के पधारने का संवाद सुनकर सोचा कि अब चलकर भगवान् की वन्दनोपासना करूँ। वह वैसा ही करता है।

स्नानोपरान्त शुद्ध शाही रेशम की पोशाक के साथ कम-कीमती आभूषण धारणकर समंडलीक (सदलबल) अपने घर से निकला। पोलासपुर नगर के बीच से होते हुए, जहाँ 'सहस्राम्रवण' उद्यान था, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहीं जा पहुँचा। पहुँच कर भगवान् की दायीं ओर से तीन बार उनकी प्रदक्षिणा की, वन्दना की, उसके बाद भगवान के न अधिक दूर और न अधिक निकट में बैठ गया।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक की महामंडली में धर्म-प्रवचन किया।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से इस प्रकार कहा—"सद्दालपुत्र! कल दोपहर दिन में तुम जब अशोकवाटिका में विहार (तपस्या) कर रहा था। उस समय तुम्हारे सामने एक देवता प्रकट हुआ। और, उसने, आकाश में जाकर तुमसे कहा कि—"कल भगवान् जिन पधारेंगे, तुम उनकी वन्दनोपासना करना। सो तुमने इसके अर्थ को समझा है?"

सद्दालपुत्र ने कहा—"हाँ भन्ते! (भगवन्) समझा है।

(भगवान् महावीर ने पुनः कहा)—"सचमुच, सद्दालपुत्र! देवता ने गोशालक मंखलिपुत्र के प्रसंग को लेकर नहीं कहा है?"

श्रमण भगवान् महावीर के ऐसा कहने पर सद्दालपुत्र के मन में आध्यात्मिक चिन्ता से पूर्ण यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि—"यह श्रमण भगवान् महावीर परमपूज्य, महामाहन, विलक्षण ज्ञानधारी····और सत्य-सम्पन्न हैं तो मेरे लिए कल्याणप्रद बात यह होगी कि मैं श्रमण भगवान् की वन्दनोपासना करूँ और आसन, शयन आदि के साथ उनका सादर निमंत्रण करूँ।"

उसने वैसा ही किया। झटपट उठकर श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—"भन्ते! (भगवन्)! पोलासपुर नगर से बाहर मेरी पाँच सौ मिट्टी के बरतन की दूकानें हैं। वहाँ आप आराम से आसन, शयन आदि के साथ निमंत्रण स्वीकार कर विहार करें।"

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र की बात मान ली, और मिट्टी के बरतन की पाँच सौ दूकानों में उक्त सत्कार के स्वीकारार्थ विहार करने लगे।

उसके बाद आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने अन्य किसी दिन हवा में सुखाये गए मिट्टी के बरतनों को अन्तःशाला (कारखाना) से बाहर ले आया और उसे धूप में रख दिया।

यह देख उससे श्रमण भगवान् महावीर ने पूछा—"क्या, तुमने ये मिट्टी के बरतन बनाये हैं?"

सद्दालपुत्र ने भगवान् से कहा—"हा भन्ते! (भगवन्) ये पहले मिट्टी के रूप में थे, उसके बाद ये पानी से भिगोये गए, उसके बाद इसमें राख और गोबर मिलाया गया, उसके बाद चक्र (चाक) पर चढ़ाया गया। तब कहीं जाकर बहुत-से विविध प्रकार के घड़े आदि मिट्टी के बरतन बनाये गये।"

तब श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र से कहा—"सद्दालपुत्र! ये बरतन उत्थान, बल, वीर्य, कर्म, पुरुषकार और पराक्रम अर्थात् परिश्रम द्वारा तैयार किये जाते हैं या अनुत्थान आदि अपरिश्रम द्वारा?"

तब सद्दालपुत्र ने भगवान् से कहा—"भन्ते ! (भगवन्) अनुत्थान आदि अपरिश्रम द्वारा। इसमें सभी भाव नियत रहते हैं। कुछ भी उत्थान आदि परिश्रम नहीं करने पड़ते हैं।"

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से कहा—"सद्दालपुत्र! यदि कोई आदमी तुम्हारे इन पके हुए मिट्टी के बरतनों को चुरा ले जाय, बिखेर दे, तोड़-फोड़ दे या तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ विपुल भोगों का उपभोग करते हुए विहार करे तो तुम उस आदमी को कौन-सा दण्ड दोगे ?"

तब सद्दालपुत्र ने कहा—"भन्ते! (भगवन्) उस आदमी को मैं कौसूंगा, मारूंगा, मसल दूंगा, डाटूंगा, पीटूंगा, उसकी भर्त्सना करूंगा या असमय ही मृत्यु की गोद में सुला दूंगा।"

(तब भगवान् ने मुस्कुरा कर कहा)—"सद्दालपुत्र! यदि कोई आदमी तुम्हारे बरतनों को नहीं बरबाद करे या तुम्हारी स्त्री अग्निमित्रा के साथ विपुल भोगों का उपभोग न करे तो तुम उसको न मारोगे, न कोसोगे·····या न असमय ही मृत्यु की गोद में सुलाओगे। (अब देखो), यदि (बरतन बनाने में) उत्थान, बल, वीर्य, कर्म पुरुषकार, पराक्रम आदि नहीं हैं, उनके सभी भाव नियत हैं, तो फिर क्यों तुम बरतन बरबाद करने वाले या अपनी पत्नी अग्निमित्रा के साथ उपभोग करने वाले आदमी को कोसने के लिए, मारने के लिए····या असमय ही उसे मृत्यु की गोद में सुलाने के लिए उद्यत होते हो? इसलिए स्पष्ट है, तुम जो कहते हो कि, 'उत्थान, बल आदि नहीं हैं' वह सर्वथा मिथ्या है।"

इस प्रकार भगवान् महावीर की तर्कबुद्धि से सद्दालपुत्र की अन्तश्चेतना संबुद्ध हो उठी।

उसके बाद आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने भगवान् महावीर की वन्दना की और कहा—"भन्ते! (भगवन्)! मैं आपके निकट धर्म सुनना चाहता हूँ।"

तब श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र की महामंडली में धर्म-प्रवचन किया।

उसके बाद आजीविकोपासक सद्दालपुत्र भगवान् के निकट धर्म सुनकर हृदय से प्रसन्न हुआ और उसने आनन्द गृहपति के समान ही गृहधर्म को प्राप्त किया। तदनन्तर उसने यथास्थित धन में से तीन करोड़ का सोना तथा एक गोशाला के अतिरिक्त सभी (धन-दौलत) का प्रत्याख्यान कर दिया। उसके बाद वह भगवान् की वन्दना कर पोलासपुर नगर की ओर प्रस्थित हो गया। पोलासपुर के बीचोबीच से निकलकर सद्दालपुत्र अपने घर में, अग्निमित्रा भार्या के पास चला आया। अग्निमित्रा से उसने इस प्रकार कहा—"सचमुच, देवानुप्रिये! (नगर में) श्रमण भगवान् महावीर पधारें हैं। इसलिए तुम भी जाओ और उनकी वन्दना-उपासना करो और उनके चरणों में 'पंचाणुव्रत', 'सप्तशिक्षाव्रत' और बारह प्रकार के 'गृहधर्म' को प्राप्त करो।"

अग्निमित्रा ने सद्दालपुत्र की बातों को 'जैसी आज्ञा' की मुद्रा में सविनय ग्रहण कर लिया।

उसके बाद श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने अपने कुटुम्ब में से एक आदमी (नौकर) को बुलाकर कहा—"देवानुप्रिय! जल्दी जाकर एक सवारी तैयार करो। (और सुनो) सवारी मजवूत और सुन्दर होनी चाहिए। वाहन के सींग, खुर और पूँछ सभी सुन्दर और समान हों। वाहन के गले में सुन्दर आभरण और विशिष्ट बन्धन रहना चाहिए। लगाम की रस्सियाँ कपास की हों, उनमें सोना-चाँदी के घुँघरु लगे हुए हों और वाहन के सिरपर नील कमल का शिरोभूषण (कलँगी) रहे। इस प्रकार सजे-सजाये मस्त-मस्त दो बैलों की सवारी होनी चाहिए। गाड़ी में नाना मणि-कांचन की घंटियाँ गुँथी हों, सुजात लकड़ी से सुविरचित हो। इस प्रकार सुलक्षण-संपन्न श्रेष्ठ धार्मिक सवारी ला खड़ा करो। जाओ, मेरी इस आज्ञा का अविलम्ब पालन करो।"

उस कौटुम्बिक ने तथाकथित सवारी अविलम्ब लाकर खड़ी कर दी।

उसके बाद अग्निमित्रा भार्याने स्नान किया, सुन्दर शाही पोशाक धारण किया तथा शरीर पर दो-चार कमकीमती गहने भी रख लिये। और, चेटिका-चक्रवाल से आवेष्टित होकर उसने उस धार्मिक यान पर आरोहण किया। पोलासपुर नगर के बीचो-बीच से निकलकर वह, जहाँ सहस्राम्रवण उद्यान था—वहीं चली गई। वहाँ पहुँचकर धार्मिक यान से उतरी और दासियों से घिरी हुई ही वह श्रमण भगवान् महावीर के निकट जा उपस्थित हुई। उसके बाद उसने भगवान् महावीर की तीन बार दायीं ओर से प्रदक्षिणा की और तीन वार प्रणाम किया। उसके बाद भगवान के न अधिक दूर, न अधिक निकट कृतांजलि होकर उपासना में बैठ गई।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा की महामंडली में धर्मोपदेश किया।

अग्निमित्रा भगवान् के निकट धर्म सुनकर परम प्रसन्न हुई और भगवान् को प्रणाम करती हुई बोली—"भन्ते! (भगवन्!) आपके निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर मैं श्रद्धान्विता हूँ। आपका वचन सत्य है। देव के बताये मार्ग द्वारा वहुत उग्र भोग प्राप्तव्य हैं। परन्तु, मैं देव के चरणों में मुण्डा (दीक्षित भिक्षुणी) होने के लिए असमर्थ हूँ। मैं तो देवानुप्रिय के चरणों में पंचाणुव्रत, सप्तशिक्षाव्रत तथा बारह प्रकार के गृहधर्मों को प्राप्त करूँगी। देवानुप्रिय! यथासुख उक्त धर्मों को ग्रहण कराइए। प्रतिबन्ध मत लगाइए।

उसके बाद अग्निमित्रा भार्या ने भगवान् के निकट पंचाणुव्रत, सप्तशिक्षाव्रत और बारह प्रकार के गृहधर्मों को प्राप्त किया। उसके बाद भगवान् की वन्दना कर उसी सवारी पर आरोहण कर जिधर से आई थी उधर ही चली गई।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर भी अन्य किसी दिन पोलासपुर के सहस्राम्रवण से बाहर निकलकर किसी अन्य स्थान में जनपद-विहार के लिए चले गये।

उसके बाद वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र (साधना द्वारा) जीवन-मरण के अभिज्ञान को प्राप्त कर तपोविहार में मग्न हो गया।

उसके बाद, गोशालक मंखलिपुत्र ने यह संवाद सुना कि सद्दालपुत्र ने आजीविक-सिद्धान्त को छोड़कर, श्रमण निर्ग्रन्थों के धर्म को स्वीकार कर लिया है। तब उसने सोचा कि "वहाँ चलकर मैं सद्दालपुत्र द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थों के धर्म का परित्याग कराकर फिरसे आजीविक-सिद्धान्त स्वीकार करा दूँ।" उसके बाद गोशालक मंखलिपुत्र आजीविक संघ से परिवृत होकर पोलासपुर नगर की आजीविक-सभा में जा उपस्थित हुआ। वहाँ उसने अपने प्रार्थना-पात्र (भिक्षा-पात्र) को रख दिया, उसके बाद वहाँ से कतिपय आजीविकों के साथ जहाँ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक था, वहीं जा पहुँचा।

उसके बाद, श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोशालक मंखलिपुत्र को निकट आया देख कर न प्रणाम करता है, न पहचानता है। विना प्रणाम किये, विना पहचाने चुपचाप रह जाता है।

(सद्दालपुत्र द्वारा) अपूजित तथा अपरिज्ञात गोशालक मंखलिपुत्र ने, अपने आसन-पीठ पर सेही श्रमण भगवान् महावीर का गुण-कीर्त्तन करने वाले श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रिय! यहाँ महामाहन पधारे हैं।"

तब सद्दालपुत्र ने गोशालक मंखलिपुत्र से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रिय! महा-माहन कौन हैं?"

तब गोशालक मंखलिपुत्र ने सद्दालपुत्र श्रमणोपासक से इस प्रकार प्रत्युत्तर किया—"श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं।"

(तब सद्दालपुत्र ने पुनः प्रश्न किया)—"श्रमण भगवान् महावीर किस लिए महामाहन कहलाते हैं?"

(गोशालक ने प्रत्युत्तर किया)—"सचमुच, सद्दालपुत्र! श्रमण भगवान् महावीर पूजनीयों में बड़े, उत्पन्नज्ञानदर्शनधारी····सुपूजित और तथ्यकर्म-सम्पन्न हैं, इसलिए वे 'महामाहन' कहलाते हैं।

(पुनः गोशालक ने कहा)—"देवानुप्रिय! यहाँ महागोप पधारे हैं।"

सद्दालपुत्र—"देवानुप्रिय! महागोप कौन हैं?"

गोशालक—"श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं।"

सद्दालपुत्र—"देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर किस लिए महागोप कहलाते हैं?"

गोशालक—"देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर संसाराटवी में नष्ट, छिन्न और लुप्त होते हुए अनेक जीवों को धर्ममत द्वारा सुरक्षित रखते हैं और उन्हें अपने हाथों निर्वाण-महापथ की प्राप्ति कराते हैं; इसलिए, सद्दालपुत्र! श्रमण भगवान् महावीर महागोप कहलाते हैं।"

(गोशालक ने पुनः कहा)—"देवानुप्रिय! यहाँ महासार्थवाह पधारे हैं।"

सद्दालपुत्र—"देवानुप्रिय! महासार्थवाह कौन हैं?"

गोशालक—"सद्दालपुत्र! श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह हैं।"

सद्दालपुत्र—(श्रमण भगवान् महावीर) किसलिए (महासार्थवाह कहलाते हैं)?"

गोशालक—"देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर संसाराटवी में नष्ट होते, मरते, कटते, विंधते और मिटते हुए अनेक जीवों को धर्ममत द्वारा सुरक्षित रखते हैं और उन्हें अपने हाथों निर्वाण-महापत्तन की ओर भेज देते हैं, इसलिए, श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह कहलाते हैं।"

(गोशालक ने पुनः कहा)—"देवानुप्रिय ! यहाँ महाधर्मकथी पधारे हैं।"

सद्दालपुत्र—"महाधर्मकथी कौन हैं, देवानुप्रिय !"

गोशालक—"सद्दालपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।"

सद्दालपुत्र—"श्रमण भगवान् किसलिए महाधर्मकथी कहलाते हैं।"

गोशालक—"देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर महान् महालयस्वरूप इस संसार में कटते, मरते, मिटते और नष्ट, लुप्त-होते अनेक जीवों को सुरक्षित रखते हैं, तथा कुमार्गी, पथभ्रष्ट, मिथ्यात्व के वल से अभिभूत, और आठ प्रकार के कर्मान्धकार से अवच्छन्न जीवों को अनेक अर्थ, हेतु, प्रश्न और व्यालोचन द्वारा चातुरांत संसार-कांतार से अपने हाथों निष्कृति (उद्धार) प्रदान करते हैं; इसलिए हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी कहलाते हैं।"

(गोशालक ने पुनः कहा)—"देवानुप्रिय ! यहाँ महानिर्यामक पधारे हैं।"

सद्दालपुत्र—"देवानुप्रिय ! महानिर्यामक कौन हैं ?"

गोशालक—"श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक हैं।"

सद्दालपुत्र—"श्रमण भगवान् महावीर किसलिए महानिर्यामक कहलाते हैं ?"

गोशालक—"देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर संसार-महासमुद्र में डूबते-उतराते, मरते-मिटते अनेक जीवों को धर्ममत की नौका द्वारा अपने हाथों खेकर निर्वाण-तट की ओर पहुँचा देते हैं; इसलिए देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक (धीर कर्णधार) कहलाते हैं।"

उसके वाद सद्दालपुत्र श्रमणोपासक ने गोशालक मंखलिपुत्र से इस प्रकार कहा—"यदि आप भी अपने को इसी तरह प्रस्तावज्ञ, शीघ्रकर्मी, कुशल, सूक्ष्मदर्शी, नीतिवक्ता, आप्तोपदेशलब्ध और विज्ञानप्राप्त समझते हैं, तो देवानुप्रिय ! आप मेरे धर्माचार्य, धर्मोपासक भगवान् महावीर के साथ विवाद (शास्त्रार्थ) करने में समर्थ हैं ?"

(गोशालक ने प्रत्युत्तर किया)—"नहीं, मैं समर्थ नहीं हूँ।"

सद्दालपुत्र ने पुनः कहा—"देवानुप्रिय ! मेरे धर्माचार्य, धर्मोपासक प्रभु महावीर के साथ आप विवाद करने में असमर्थ क्यों हैं ?"

(गोशालक ने प्रत्युत्तर किया)—"सद्दालपुत्र ! जिस प्रकार तरुण, बलवान्, स्थिराग्रहस्त, दृढ़ हाथ-पैर वाला, मेधावी और सूक्ष्म शिल्पज्ञ पुरुष बड़े-बड़े बकरे, मेंड़ और सूअर से लेकर छोटे-छोटे मुर्गे, तित्तिर, वत्तख, लवा, कबूतर, कपिंजल और कौआ या बाज तक के, हाथ, पैर, खुर, पूँछ, सींग और रोएँ तक को जहाँ-जहाँ पाता है, वहाँ-वहाँ उन्हें निश्चल, निःस्पन्द होकर धर लेता है; उसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर मेरे अनेक अर्थ, हेतु, प्रश्न आदि को जहाँ-जहाँ पाते हैं, वहाँ-वहाँ उन्हें अपने तर्कीले प्रश्नों और

व्यालोचनाओं द्वारा एकदम सुस्पष्ट (और अचैल) कर देते हैं। सद्दालपुत्र, इसीलिए म कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य से शास्त्रार्थ करने को मैं असमर्थ हूँ।"

उसके बाद श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने गोशालक मंखलिपुत्र से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रिय! आप मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर का सुन्दर तथ्यपूर्ण तर्कों तथा सद्भावों द्वारा गुण-कीर्त्तन करते हैं; इसलिए मैं आपको आसन, शयन आदि द्वारा सादर निमंत्रित करता हूँ; आपके धर्म और तपस्या को देखकर नहीं! देवानुप्रिय! आप मेरी दूकानों में सादर स्वागत को पाकर यथासुख विहार करें।"

उसके बाद गोशालक मंखलिपुत्र ने सद्दालपुत्र की उक्त बातों को मान लिया और उसकी दूकानों में सादर सुस्वागत प्राप्त कर विहरने लगा।

गोशालक मंखलिपुत्र अपने अनेक आख्यानों, प्रज्ञापनों, संज्ञापनों और विज्ञापनों द्वारा जब श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को श्रमण निर्ग्रन्थ के सिद्धान्त से किसी तरह भी विचलित नहीं कर सका, तब श्रान्त और म्लान होकर पोलासपुर से बाहर निकल कर किसी अन्य देश में विहार करने चला गया।

इस प्रकार, शील, व्रत आदि द्वारा अपने को भावित करते हुए सद्दालपुत्र के चौदह वर्ष बीत गए। पन्द्रहवें वर्ष के बीच उसने श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्मप्रज्ञप्ति प्राप्त कर, पोषध-शाला में, तपो-विहार में लीन हो गया।

एक दिन आधी रात के समय एक देवता श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के सामने प्रकट हुआ।

देवता ने तथाकथित नीलकमल आदि के समान रंग वाली एक तलवार हाथ में लेकर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से उसी प्रकार की बेटों की दुर्गति कर देने की धमकी दी—जिस प्रकार की धमकी चुलनीपिता को दी थी। परन्तु, श्रमणोपासक सद्दालपुत्र इस धमकी-भरी बात से तनिक भी विचलित न हुआ।

श्रमणोपासक को इस प्रकार निश्चल देख देवता ने उस धमकी को दो-तीन बार कहा; फिर भी सद्दालपुत्र टस-से-मस न हुआ।

तब देवता ने चौथी बार उससे कहा—"यदि तुम अपना व्रत नहीं तोड़ोगे तो आज मैं तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या—जो तुम्हारी धर्मसहायिका है और जो स्वयं धर्म जानती है, धर्म में अनुराग रखती है, तथा सुख-दुःख में तुम्हें समान रूप से सहायता पहुँचाती है—को उसके अपने घर से निकाल बाहर करूँगा, उसकी तुम्हारे सामने हत्या करूँगा, उसके मांस के नौ बड़े-बड़े टुकड़े बनाऊँगा, उन्हें गर्म कड़ाह में उबालूँगा और उनके मांस तथा लहू को तुम्हारे शरीर में लगा दूँगा जिससे कि तुम अत्यधिक दुःखार्त्त होकर असमय ही प्राण-हीन हो जाओगे।"

फिर भी, सद्दालपुत्र निर्भय विहार में तल्लीन रहा। धमकी के चौथी बार कहने पर भी सद्दालपुत्र को निर्विकार देख देवता स्वयं आश्चर्यान्वित हो उठा। तत्क्षण, श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के मन में आध्यात्मिक चिन्ता से पूर्ण यह संकल्प उगा कि—"यह पुरुष अनार्य है, अनार्य आचरण रखता है। मेरे बेटों की दुर्गति करने के बाद भी यह,

मेरी धर्म-सहायिका तथा सुख-दुःख में समान सहायता पहुँचाने वाली अग्निमित्रा की वैसी ही दुर्गति करना चाहता है तो इसे पकड़ लेने में ही मेरा कल्याण है।" यह सोचकर वह उठा और देवता को पकड़ने दौड़ा। पर देवता के वदले स्तम्भ हाथ आया। घबड़ाकर उसने हल्ला करना शुरू किया।

हल्ला सुनकर अग्निमित्रा वहाँ दौड़ी आई। पूछने पर सारा पूर्व वृत्तान्त श्रमणोपासक ने उससे कह दिया।

अग्निमित्रा ने उससे उसके अपदर्शन की वात कही। श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने फिर से धर्मप्रज्ञप्ति उपलब्ध की।

इस प्रकार व्रत, उपवास द्वारा श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने अपने को समाधिस्थ कर 'अरुणभूय' भवन में देवत्व-प्राप्ति का अधिकारी बना लिया। गौतम के पूछने पर भगवान् महावीर ने कहा कि पूर्णता-प्राप्ति के लिए श्रमणोपासक सद्दालपुत्र महाविदेह देशमें पुनर्जन्म ग्रहण करेगा।

(अगले अंक में समाप्य)

——०——

(८ वें पृष्ठ का शेषांश)

कला की वहु-आलोचनीय किन्तु अनिवार्य दुरूहता का समाधान ढूँढ़ा जाय। यह दुरूहता दोष नहीं है, कठिनाई अवश्य ह। इसका मखौल उड़ाने से, सरलता की निरर्थक माँग दुहराते रहने से, कला का साधारणीकरण होने से रहा। आवश्यक यह है कि कला के स्रष्टा और कला के उपभोक्ता के बीच जो गहरी खाई बन गई है उसे पाट देने का उपाय ढूँढ़ निकाला जाय।

हमने इसीका प्रयास आज के वार्त्तालाप का लक्ष्य रखा है और जान-बूझ कर साधारणीकरण की प्रक्रिया के शास्त्रीय विवेचन से अपने को दूर रखा है।

तो, हमारी समझ में जिस समस्या का रूप हमने अभी-अभी उपस्थित किया है और जिसके समाधान का संकेत भी प्रसंग के अनुसार दिया है, उसका सहज और व्यापक समाधान यही है कि हम समझ से आगे रहने वाले प्रयोगों से घबराएँ नहीं; ऐसे प्रयोगों का साधारणीकरण नहीं हो सकता। यदि साधारणीकरण नहीं होता तो न तो कलाकार को जन-साधारण से निराश होना चाहिए न जन-साधारण को ही कलाकार की उपेक्षा या भर्त्सना करनी चाहिए। सभी सार्थक प्रयोग अप्रत्याशित शीघ्रता के साथ कला-कृतियों में अज्ञातरूप से व्याप्त हो जाते हैं और आज जो विशेषज्ञों और विद्वानों की भी घबराहट है वह कल साधारण लोगों के लिए सुपरिचित और सहज-ग्राह्य कलात्मक विशेषता बन जा सकती है।

यही कारण है कि दुरूह से दुरूह और अत्यन्त विलक्षण कलात्मक प्रयोगों का भी साधारणीकरण होना जरूरी है। इसके लिए धैर्य, जिज्ञासा और अभिरुचि की आवश्यकता अवश्य होती है।

—न०वि०श०

——०——

नवीन....और....उल्लेख्य

हिन्दी-सेवी संसार
सं०—श्री प्रेमनारायण टंडन
प्रकाशक—विद्या-मंदिर, रानीकटरा, लखनऊ
सजिल्द मूल्य—साढ़े सात रुपये।

आलोचक
श्री शिवपूजन सहाय
'साहित्य'—संपादक

वर्त्तमान काल के साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचयात्मक कोष पहले-पहल लखनऊ के विद्यामन्दिर (रानी कटरा) से श्री प्रेमनारायण जी टण्डन ने कई साल पहले निकाला था जिसका द्वितीय संशोधित-परिवर्द्धित नवीन संस्करण फिर निकला है। साढ़े छै सौ पृष्ठों का यह सजिल्द ग्रंथ पिछले कई साल के लगातार परिश्रम का फल ह। इसके प्रथम खण्ड में अक्षरानुक्रम से हिन्दी के लेखकों, कवियों, सम्पादकों आदि का परिचय संक्षेप में दिया गया है और दूसरे खण्ड में हिन्दी की प्रमुख संस्थाओं का विवरणात्मक परिचय है। तीसरे खण्ड में हिन्दी के प्रकाशकों का, चौथे खण्ड में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का, पाँचवें खण्ड में हिन्दी के पुरस्कारों और पदकों का और छठे खण्ड में हिन्दी-सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्यों का संक्षिप्त परिचय-विवरण है। विदेशों में हिन्दी का जो प्रचार और शोधकार्य हो रहा है उसका वर्णन सातवें खण्ड में है। उसके वाद परिशिष्ट में हिन्दी के साहित्य-सेवियों का अवशिष्ट परिचय तथा परिचयांश संकलित है। इसी तरह हिन्दी-संस्थाओं, हिन्दी-प्रकाशकों, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं, पुरस्कार-पदकों, अनुसन्धान-कार्यों आदि का भी अवशिष्ट परिचयांश अन्त के परिशिष्ट में दे दिया गया है। तदनन्तर प्रत्येक खण्ड की नामानुक्रमणिका दी गई है। सबके अन्त में परिशिष्ट सं० २ के अन्दर भी कुछ शेषांश सामग्री है। इससे पता लगता है कि श्रमशील ग्रन्थ-सम्पादक ने इस साहित्यिक कोष को सर्वांगपूर्ण वनाने का यथाशक्ति पूरा प्रयत्न किया है।

किन्तु फिर भी कुछ छूट और कुछ त्रुटियाँ रह ही गई हैं जिनके लिए सम्पादक दोषी नहीं जान पड़ता। ग्रन्थ-सम्पादक की सच्ची लगन निस्सन्देह सराहनीय है। जो कमी या अभाव खटकता है वह हिन्दी-जगत् की उदासीनता अथवा असावधानता के कारण है। यदि हिन्दी-संसार का वास्तविक सहयोग प्राप्त हुआ होता तो कोई कमी नहीं रह पाती। ग्रन्थ-सम्पादक ने अपने आरंभिक निवेदन में अपनी कठिनाइयों का जो वर्णन किया है वह अनुभवी सहृदय सज्जनों की सहानुभूति को स्वभावतः आकृष्ट करता है। इसमें जहाँ जो कुछ अधूरापन है, वर्णित विषयों में अशुद्धियाँ हैं, सब के लिए अकेला ग्रन्थ-सम्पादक ही उत्तरदायी नहीं हो सकता।

हम भली-भाँति ग्रन्थकार की कठिनाइयाँ समझते हैं, इसलिए हमारी राय में जानकार लोगों को इसकी भूलों का सुधार और इसके अभावों की पूर्त्ति करने में सहायक

होना चाहिए, नहीं तो हिन्दी संसार की बहुत-सी जानने-योग्य बातों में भ्रान्त धारणाएँ फैल जायँगी। ग्रन्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है। यह एक आकरग्रन्थ के रूप में बड़ा सहायक हो सकता है।

राष्ट्रभाषा-कोश
संपादक—पं० ब्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए०
प्रकाशक—हिन्दुस्तानी बुक-डिपो, लखनऊ
सजिल्द मूल्य—सवा ग्यारह रुपये।

आलोचक
श्री शिवपूजन सहाय
'साहित्य'-संपादक

लखनऊ के हिन्दुस्तानी बुकडिपो से यह नया कोष निकला है। लगभग डेढ़ हजार पृष्ठों के इस सुमुद्रित शब्दकोष का सम्पादन लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापक पंडित ब्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए० ने किया है। सहायक सम्पादक हैं पंडित मदनमोहनलाल दीक्षित। इसके संशोधक हैं 'माधुरी'-सम्पादक पंडित रूपनारायण पाण्डेय।

प्रकाशक ने इस कोष की चौदह विशेषताएँ गिनाई हैं। हमारी दृष्टि में सबसे नई विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त प्रचलित और सुपरिचित तथा अतीव दुरूह एवं अप्रचलित शब्द नहीं रखे गये हैं। इससे जितनी जगह की बचत हुई है उतनी जगह में मुहावरा-कोष, कहावत-कोष, संख्या-कोष, शुद्धाशुद्ध-कोष, प्रचलित विदेशी शब्दावली, संविधान-शब्दावली आदि का समावेश कर दिया गया है।

इसमें शब्दों के प्रयोगों के उदाहरण भी दिये गये हैं। पुराने और नये कवियों की रचनाओं से जो उदाहरण चुने गये हैं वे यद्यपि स्थानाभाव से अति संक्षिप्त हैं तथापि भावार्थ-द्योतक हैं। किन्तु अश्लील शब्द छोड़ दिये गये हैं और कवियों के द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का चयन मार्मिकता से किया गया है। जायसी आदि कवियों के ठेठ तथा अपरिचित शब्द भी मौलिक अर्थ के साथ संकलित हैं।

पारिभाषिक शब्दों के चुनाव पर भी ध्यान दिया गया है; पर वे अधिकतर शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी हैं। संविधान-शब्दावली के साथ अँगरेजी के मूल शब्द भी छपे हैं और कोष के अन्दर जहाँ-जहाँ अँगरेजी के चालू शब्द आये हैं वहाँ आवश्यकतानुसार उन शब्दों का उच्चारण भी नागरी-लिपि में स्पष्ट कर दिया गया है। कोषकार ने शब्द-संग्रह करने में काफी छान-बीन की है और 'राष्ट्रभाषा' के प्रकृत अर्थ का विचार करते हुए काम किया है।

अभी कोई कोष सर्वांग-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। जो भाषा विकास-पथारूढ़ है और जिसमें उत्तरोत्तर नित-नूतन शब्दों का प्रवेश एवं प्रचार बढ़ता जा रहा है उसका विराट् शब्दकोष कब सर्वथा पूर्ण होगा, यह निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन है। किन्तु यह स्वाभाविक है कि आगे चलकर तैयार होने वाले बड़े-से-बड़े कोष को भी

प्रस्तुत कोष—जैसे अनेक आधुनिक कोषों का सहारा लेना पड़ेगा ; क्योंकि इस कोष को और ऐसे अन्य नवीन कोषों को भी अपने पूर्ववर्त्ती कोषों का आधार ग्रहण करना पड़ा है। यह इस समय के नये कोषों में संग्रहणीय है।

—o—

उत्तर भारत की संत-परंपरा
लेo—परशुराम चतुर्वेदी
प्रकाशक—भारती-भण्डार, प्रयाग
मूल्य—बारह रुपये।

आलोचक
प्रोo श्री नलिनविलोचन शर्मा
'साहित्य'—संपादक

मैं आज, अन्त में एक ऐसी पुस्तक से आप का परिचय करा दूँ जो हिन्दी के उस विशाल क्षेत्र से संबद्ध है जिसको दर्शन, अध्यात्मा और साहित्य की त्रिपथगा कह सकते हैं। मेरा तात्पर्य है उत्तरी भारत की संत-परंपरा से जो वस्तुतः पुस्तक का समुचित शीर्षक भी है।

इसके लेखक हैं परशुराम चतुर्वेदी जिन्होंने किसी विश्व-विद्यालय से संबद्ध न होने पर भी इस पुस्तक में अभिनन्दनीय शोध प्रवृत्ति का प्रमाण दिया है। हिन्दी के विद्वानों में तात्विक शोध-कार्य (Fundamental Research Work) की रुचि कितनी कम है यह इसीसे समझा जा सकता है कि अभी तक इस विषय पर बँगला और अँगरेजी में क्षितिमोहन सेन की ही एक छोटी-सी किन्तु प्रमाणिक पुस्तक सुलभ थी। हिन्दी में भी बहुत-कुछ इसी के आधार पर लिखी एक पुस्तक अवश्य है पर उससे अभाव की थोड़ी भी पूर्त्ति नहीं होती।

परशुराम चतुर्वेदी ने स्पष्टतः अपनी पुस्तक के लिए दासगुप्त के Obscure Religious Cults नामक ग्रन्थ को आदर्श के रूप में रखा है। जिस प्रकार दासगुप्त ने पूर्वीय प्रदेशों के गौण धार्मिक संप्रदायों का विद्वत्तापूर्ण विवरण दिया है उसी प्रकार प्रस्तुत लेखक ने भी उत्तर भारत में बिखरे हुए साध संप्रदाय, लाल, दादू, निरंजनी, बावरी, मलूक, बाबालाली, धामी, सत्तनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, शिवनारायणी, चरणदासी, गरीब, पानप, रामसनेही, साहब, नँागी, राधास्वामी आदि गौण पंथों और सम्प्रदायों का गवेषणात्मक विवरण सुलभ कर दिया है।

शोध की वैज्ञानिक प्रणाली में दीक्षित न होने के कारण लेखक ने यत्र-तत्र अनावश्यक विस्तार कर दिया है और संत-परम्परा में महात्मा गाँधी को परिगणित करना तो सर्वथा युक्तिरहित ही कहा जायगा।

फिर भी लेखक के परिश्रम से भावी शोधकर्त्ताओं के कार्य की कल्पना बहुत कुछ सरल होगी यह निस्सन्दिग्ध है।

—o—

भारतीय श्रम-विधान
ले० डॉ० देवसहाय त्रिवेद
प्रकाशक—श्री प्र० ना० गौड़, एडभोकेट
पो० रोहतास, (शाहाबाद); मू०—डेढ़ रुपये ।

आलोचक
श्री भुवनेश्वर द्विवेदी, एम्० ए०
सह-संपादक, 'बिहार समाचार'

आलोच्य ग्रंथ के रचयिता डॉक्टर त्रिवेद ख्यातनामा इतिहासज्ञ हैं। 'भारतीय श्रम-विधान' प्रगाढ़ अध्ययन और अथक परिश्रम का फल है। हिन्दी में ही क्यों दूसरी भारतीय भाषाओं में भी इस विषय पर ऐसी प्रामाणिक पुस्तक का अभाव है। लेखक ने वैदिक काल से लेकर आधुनिकतम श्रम-विधान के इतिहास की रूपरेखा इस पुस्तक में सहज सुलभ बना दी है। इस पुस्तक की सहायता से मजदूर अपने अधिकारों और दायित्वों को अच्छी तरह समझ सकेंगे। पुस्तक में सत्रह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के आदि में श्रम-विधान की विभिन्न धाराओं का पूरा इतिहास प्रस्तुत कर दिया गया है। उनमें कब क्या संशोधन हुए तथा उनका वर्त्तमान रूप क्या है इन बातों का सम्यक् विवेचन डॉ० त्रिवेद ने किया है।'प्राचीन भारत की श्रम-व्यवस्था' नामक अध्याय डॉ० त्रिवेद की शोध-वृत्ति का परिचायक है। इसमें सिद्ध किया गया है कि प्राचीन भारत में भी 'पेन्शन', 'प्रोविडेण्ड फण्ड', 'बोनस' आदि की व्यवस्था थी। पुस्तक की उपयोगिता निस्सन्दिग्ध है। पुस्तक का बहिरंग सुरुचिपूर्ण है।

—o—

अर्चना के फूल
रचयिता—श्री मदनलाल नकफोफा,
प्रकाशक—मानसरोवर प्रकाशन, गया; मू०—सवा रुपये ।

आलोचक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

'अर्चना के फूल' बिहार के उदीयमान कवि श्री मदनलाल नकफोफा जी के १९४७ से १९५० तक के चुने हुए इकतालीस गीतों की एक संग्रह-पुस्तक है। संग्रह के गीले गीत यद्यपि व्यक्ति के गीत हैं, परन्तु जहाँ तक मानव के अन्तःस्थित चिरन्तन भावों का प्रश्न है, वे समष्टि के गीत हैं।

संगृहीत गीतों के विषय कवि की सर्वथा अपनी अनुभूतियाँ हैं, कदाचित् इसीलिए वे कोमल प्राणों के वेदना-विकम्पित तुनुक तारों को धीरे-से जाकर छू देते हैं। 'चिर-तृषित' 'विवश' का 'पाषाण' से यह 'अनुरोध' कि—'प्यास अगर दी तुमने तो अधिकार याचना का भी दो'—बड़ा ही मर्मवेधक बन पड़ा है। हालाँकि, कुछ गीतों में, कहीं-कहीं मिथ्या-चलचित्र-जगत् का भाषागत दिलजलापन 'हाय! हाय!' कर उठा है। कवि की आत्मा पर एक 'नियंत्रण' है; फलतः वह 'मन की पीड़ा' को खोल नहीं सका है। फिर भी, वह आशावादी है, यह संतोष का विषय है। वाग्देवता को कवि से और भी विविध सुन्दर-सुरभित अर्चना-कुसुमों की आशाएँ हैं।

बढ़िया कागज पर पुस्तक का मुद्रण निर्दोष तो है ही, साथ ही बहिरावरण नयनाभिराम है। पुस्तक के मूल्य में प्रकाशक का लोभ असंवृत लक्षित होता है। पुस्तक उपयोगी है।

संकलन

तब संपादक ही क्या करे ?

यद्यपि पत्रकारिता का सीधा संबंध संपादक से होता है, तथापि संपादक का सारा कार्य प्रधानतया लेखकों और पाठकों के अनिवार्य सहयोग पर ही निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में लेखकों और पाठकों की ओर से सम्पादक को जैसा सहयोग मिलना चाहिए, वैसा न मिले तो निस्सन्देह संपादक की स्थिति अत्यधिक विकट हो जाती है और पत्रकारिता की प्रगति रुकी रहती है। पिछले कुछ वर्षों में लेखकों, पत्रों और पत्र-पाठकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है; किन्तु इसके साथ पत्रकारिता के जीवन में आवश्यक स्थिरता, सुव्यवस्था अथवा कार्य-कुशलता नहीं आ पाई। वह कदाचित् इसीलिए कि हमारे यहाँ लेखक, संपादक और पाठक के बीच जैसा घनिष्ठ संबन्ध होना चाहिए, वैसा नहीं हो पा रहा है। परिणामस्वरूप आज लेखक, संपादक और पाठक परस्पर असन्तुष्ट रहकर या तो एक दूसरे पर आक्षेप कर रहे हैं या उदासीनता में जीवन काट रहे हैं। उनकी शक्ति नष्ट हो रही है और वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पा रही है। जो पत्र-पत्रिकाएँ किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए, कुछ विशेष लेखकों के सहयोग से, कुछ विशेष पाठकों के लिए निकलती हैं, उनका संपादन तथा प्रकाशन उतना कठिन नहीं होता, जितना व्यापक नीति और उद्देश्य को लेकर सर्वसाधारण के लिए निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं का होता है। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पत्रिकाएँ निस्सन्देह सर्वसाधारण की वस्तु होती हैं। अतः उनका संपादन तथा प्रकाशन-कार्य स्वभावतः अधिक कठिन होता है। ऐसे पत्र के संपादक को अपने सर्वहितैषी की पूर्त्ति के लिए अधिकाधिक तटस्थ नीति के अनुसार व्यवहार करने में सदा जो तलवार की धार पर चलना पड़ता है, उसकी आधारभूत कठिनाई तो होती ही है, साथ-साथ जब उसके व्यवहार के संबंध में अनेक लेखक एवं पाठक भ्रान्त धारणाएँ बना लेते ह और विना उसकी स्थिति को ध्यान में रखे ही, उसे भला-बुरा ठहराने लगते हैं, तो संपादन-कार्य कठिनतर हो जाता है। पाठक चाहता है कि उसे अपनी रुचि के अनुकूल एवं उसकी स्थिति के लिए उपयोगी सामग्री पढ़ने को मिले और लेखक चाहता है कि जो कुछ वह लिखता है, उसी को संपादक छापकर उसके यश को फैलावे और अधिकाधिक पारिश्रमिक द्वारा उसकी आर्थिक सहायता करे। तात्पर्य यह कि संपादक को एक ओर पाठक और दूसरी ओर लेखक, दोनों को ही एक साथ सन्तुष्ट रखते हुए, अपनी स्थिति का निर्वाह करना पड़ता है। पर बहुधा यह देखा जाता है कि लेखकों और पाठकों के दृष्टिकोण एवं स्वार्थों का समन्वय न होने के कारण या तो दोनों के संतोष और पत्रकारिता के निर्वाह की धुन में 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' होकर अन्ततोगत्वा सम्पादक अपने विकट कार्य को ही तिलांजलि देने के लिए विवश हो जाता है या पक्के दूकानदार के रूप में

लेखक और पाठक दोनों को ही ठगते रहकर अपना पोषण और पत्रकारिता की हत्या करने पर उतारू हो जाता है।

सच तो यह है कि संपादक, पाठक एवं लेखक रह कर ही सम्पादकत्व तक पहुँचता है और अपने इस पद पर भी पाठक एवं लेखक उसे बना ही रहना पड़ता है अतः संपादक का अस्तित्व न तो पाठक एवं लेखक के अस्तित्व की भाँति अपने-आप में मौलिक तथा स्थायी है, न स्वतन्त्र तथा स्वसत्तात्मक ही। फिर भी यदि लेखक एवं पाठक स्वतन्त्रता को भुलाकर, संपादक से व्यर्थ ही आतंकित हों और उसे अपना हितैषी न मानकर भ्रान्तिवश उसकी शिकायत करते रहें, तो यह स्थिति उनकी कर्त्तव्य-विमुखता एवं दुर्बलता की द्योतक होगी, न कि संपादक के किसी अनुचित व्यवहार की। जबसे हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों को उनकी रचनाओं के लिए कुछ न कुछ पुरस्कार या पारिश्रमिक मिलने लगा है—और हिन्दी के पाठकों का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो चला है, तबसे हिन्दी के लेखकों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि ही नहीं हो रही है, अपितु लेखकों में व्यावसायिक वृत्ति भी अमर्यादित रूप में निरन्तर प्रबल होती चली जा रही है, जिसका अधिकतर लाभ उठा रहे हैं प्रकाशक। लेखकों की भूख बढ़ रही है, पाठकों की जेब कट रही है। फिर भी संपादक के प्रति जितना आक्रोश सजग एवं ईमानदार पाठकों का नहीं है, उससे सौगुना असंतोष है उन अनधिकारी नये लेखकों को, जो देखा-देखी बहती गंगा में हाथ धोकर, धन और यश के भागी बन बैठने की मिथ्या लालसा लिये अपनी भीड़ बढ़ा रहे हैं और संपादक की नाक में दम किये हुए हैं। इन लेखकों को चाहे न तो लिखना आता हो, न लिखने के लिए ही उनके पास कुछ हो, पर वे अपनी व्यवहारिक व्यग्रता तथा उग्रता द्वारा सदा यही दर्शाते रहते हैं मानो सम्पादकों की निष्ठुरता एवं पक्षपातपूर्ण नीति के कारण संसार उनकी असाधारण प्रतिभा के चमत्कार से वंचित रह रहा है और उनके लिखे-लिखाये बिना कदाचित् संसार का काम ही न चलेगा। वस्तुतः जब कि इनसे अधिक शिकायत होनी चाहिए उन प्रतिभा-संपन्न अविख्यात लेखकों को, जो अपनी पूर्ण ईमानदारी के साथ साहित्य-साधन में रत रह कर भी एक ओर अनधिकारी लेखकों की धृष्टता से पीड़ित हैं और दूसरी ओर लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की ख्याति की चकाचौंध के प्रसार से आक्रान्त रहते हुए, भीड़-भड़क्के में सम्पादकों तथा पाठकों द्वारा अपने प्रति उचित न्याय कराने में असमर्थ हैं। जो लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक आज मैदान को अपना मानकर, अन्धाधुन्ध लिखने और जितना हाथ लगे उतना धन एवं यश बटोरने पर निस्संकोच भाव से उतारू हैं; उनसे तो आज वे सच्चे साधक और सुविख्यात फक्कड़ लेखक भी कुछ कम पीड़ित तथा उपेक्षित नहीं हो रहे हैं, जिनके आवश्यक सहयोगाभाव के कारण सरस्वती की उपासना का पवित्र कार्य निरा व्यापार हो चला है और हम सभी अपने जीवन में आवश्यक गौरव के बजाय एक प्रकार की हीनता का कटु अनुभव कर रहे हैं।

हमें यदि सबसे अधिक किसी के प्रति असंतोष है, तो वह इन्हीं यश और अर्थ के महत्वाकांक्षी तथा स्वजीवन-पोषक विख्यात धुआँधार लेखकों के प्रति है, जो न स्वयं

श्रेष्ठ लेखकों का कार्य कर रहे हैं, न गुरुजनों अथवा अपने से श्रेष्ठ लेखकों की योग्यता को सच्चे अर्थ में स्वीकार करते हैं, न नये अविख्यात अधिकारी लेखकों के आगे बढ़ने के लिए क्षेत्र छोड़ते हैं और न संपादकों को ही अपनी रचनाओं के प्रूफरीडर से अधिक कुछ मानते हैं। ये लेखक—कवि, कथाकार, नाटककार, निबन्धकार, साहित्य-समालोचक, कला-पारखी, रिसर्च-स्कॉलर आदि होने के साथ-साथ अन्य सभी विषयों पर सभी कुछ लिखते हैं और अपने लिखे को स्वयं ही बेजोड़ मानते हुए, सभी के साथ और सभी विषयों में सर्वशक्तिमान् तथा सर्वाधिकारी की भाँति मनमाना व्यवहार करते हैं। एक लेख के अनेक लेख बनाकर ही नहीं अपितु कभी-कभी एक ही लेख की एक से अधिक प्रतिलिपियाँ भिन्न-भिन्न पत्रों को भेजकर चुपके से छपवा लेना और फिर नाना प्रकार के हीले-हवालों द्वारा अपने को निर्दोष प्रमाणित कर देना, ये लेखक अपने बायें हाथ का खेल समझते हैं। ये जैसी भाषा में कुछ लिख देते हैं उसीको भाषा और जिस विषय पर कुछ लिख देते हैं, उसीको विषय मानते तथा मनवाना चाहते हैं। अपनी अशुद्ध एवं निरर्थक भाषा में किसी अनर्गल विषय पर भी लिखी हुई रचना को अस्वीकृत करने अथवा उसे आवश्यकतानुसार सुधारने का अधिकार सम्पादक का तो क्या स्वयं भगवान् का भी नहीं मानते। इसके अतिरिक्त इन महानुभावों में अधिकतर उच्च उपाधियों से विभूषित और पदों पर आरुढ़ होते हैं और उन्हीं के बल पर एक ओर ये संपादकों को आतंकित किये और दूसरी ओर पाठकों पर रोब-दाब जमाये रहते हैं। आज प्रचार और विज्ञापनबाजी के युग में जिसे कुछ ख्याति मिल जाती है, वह सातवें आसमान पर पहुँच जाता है, चाहे वह भीतर खोखला ही क्यों न हो और जिसके पास ख्याति प्राप्त करने के साधन अथवा सूझ या प्रेरणा नहीं होती, वह पिछड़ जाता है, चाहे वह ईमानदार और सभी प्रकार से योग्य ही क्यों न हो? ऐसी विषम दशा में साहित्य की श्रीवृद्धि और पत्रकारिता के विकास के लिए कितना उपयुक्त वातावरण तथा संपादन-संबन्धी कितनी विकट स्थिति रह जाती है, इसका अनुमान प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति स्वयं कर सकता है।

हमारे वस्तुस्थिति के उक्त विवेचन और विश्लेषण में संभव है, कुछ महानुभावों को, विशेषकर उन महानुभावों को, जिन्हें यह कटु सत्य कुछ अपने पर ही घटता हुआ-सा लगे; अत्युक्तिपूर्ण आक्षेप की गन्ध आये। किन्तु हमारी दृष्टि में तो यह स्पष्टवादिता भर ही है। जो कुछ हमने लिखा है और जिस विषम स्थिति की ओर अपने परिवार का ध्यान आकृष्ट किया है, वह स्वानुभूति तथा दबी जबान और खेद-सहित सर्वत्र प्रकट हो रहे लोकमत के आधार पर ही किया है। अतः हिन्दी-जगत् के लेखकों पाठकों तथा सहयोगी सम्पादक-बन्धुओं से हमारा विनम्र निवेदन और आग्रह है कि वे इस विषम स्थिति में आवश्यक सुधार के लिए अपनी स्वाभाविक सहृदयता और साहस के साथ प्रयत्नशील हों। जब लेखक, सम्पादक एवं पाठक को आवश्यक महत्व नहीं देते और पाठक भली-बुरी सामग्री को नहीं परख पाते, तब संपादक ही क्या करे?

—(सम्पादकीय) 'कल्पना',
हैदराबाद; (जून, १९५२ ई०)।

——०——

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से शीघ्र प्रकाशित होनेवाले

पाँच अमूल्य ग्रन्थ

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

स्वनामधन्य पुरातत्त्ववेत्ता—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने बड़ी ही सरस शैली में बिहार के महाकवि बाणभट्ट के समय की संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक वातावरण, मानव समाज की स्थिति आदि का सजीव चित्रण किया है। 'साहित्य' के आकार के लगभग तीन सौ पृष्ठ; अन्त में अनुक्रमणिका; दो दुरंगे और लगभग एक सौ एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र, असली आर्ट पेपर पर छपे हुए।

सार्थवाह

भारतीय संस्कृति के तत्त्ववेत्ता—डॉ० मोतीचन्द्र

इस सचित्र पुस्तक में, विद्याव्यसनी लेखक ने, प्राचीन काल में विदेशों से व्यापार करने की कौन-सी भारतीय पथ-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसका बहुत रोचक और अध्ययनपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। भारतीय भाषा में यह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। 'साहित्य' के आकार के तीन सौ से अधिक पृष्ठ; इसके अतिरिक्त अनुक्रमणिका और लगभग सौ अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र।

रामावतार शर्मा—निबंधावली

स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

यह पुस्तक विद्वान् लेखक के विभिन्नविषयक अलभ्य और बहुमूल्य निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबंध में ज्ञान की एक नई दिशा का संकेत है, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। ग्रंथ बड़ा पाण्डित्यपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है। लगभग चार सौ पृष्ठ; लेखक का सचित्र परिचय।

दरियासाहब—ग्रंथावली

संत-साहित्य-मर्मज्ञ—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

यह 'बिहार के कबीर' संत दरियासाहब के धर्म, दर्शन, सिद्धान्त और साहित्य का विवेचनापूर्ण बृहत् ग्रन्थ है। अधीती लेखक ने इसके लिखने के लिए रहस्यवादी कवि कबीर से लेकर अनेक कबीर-पंथी संतों के धर्म-दर्शन का अनुशीलन किया है। ग्रन्थ शोध, समीक्षा और गवेषणापूर्ण है। अनुमानतः चार सौ पृष्ठ।

भोजपुरी भाषा और साहित्य

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० उदय नारायण तिवारी।

इस पुस्तक में भोजपुरी भाषा और उसके साहित्य का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इसके लेखक भाषा-विज्ञान के विद्वानों में से हैं। जनपदीय भाषाओं का हिन्दी के विकास में जो सहयोग है इसका गंभीर अध्ययन इसमें है। हिन्दी भाषा में, अपने विषय पर यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। रॉयल साइज के चार सौ से अधिक पृष्ठ; साथ में भाषा की ध्वनियों के रेखा-चित्र।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

ले०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने हिन्दी के आदि युग का प्रामाणिक इतिहास लिखा है। भाषा और साहित्य के आरंभिक रूप का अध्ययन करने में यह पुस्तक अपूर्व सहायता देगी। डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) रुपया और अजिल्द का २।।।) रुपया है।

यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

स्व० शर्मा जी की यह अलभ्य पुस्तक बड़ी सजधज से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक १९०५ ई० में प्रकाशित होने के बाद बड़ी दुर्लभ हो गई थी। परिषद् ने एक दार्शनिक विद्वान् से पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखवा कर पुस्तक को आधुनिक पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक बनवा दिया है। १९०५ ई० के बाद से आजतक के पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास इसकी भूमिका में दे दिया गया है। दर्शन शास्त्र के स्वाध्यायी विद्वानों के लिए यह एक अमूल्य पुस्तक है। डेढ़ सौ पृष्ठों की सुमुद्रित सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) और अजिल्द का २।।।) है।

विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलियाविहारी लाल वर्मा, एडभोकेट

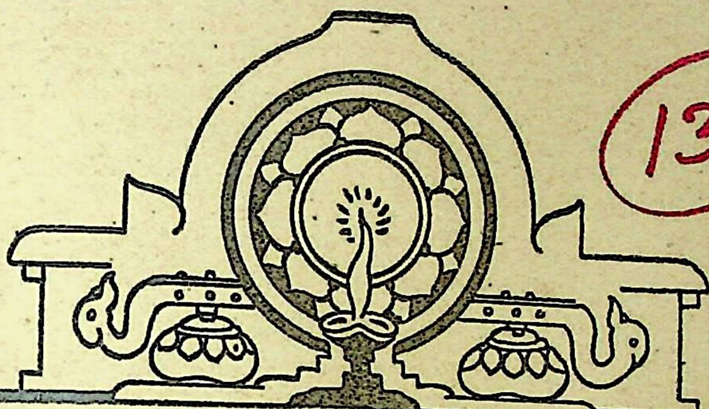
इस पुस्तक में संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस एक ही पुस्तक को पढ़कर केवल हिन्दी जाननेवाले पाठक भूमण्डल के प्रमुख धर्मों का परिचय पा सकते हैं। इसे लिखने के लिए स्वाध्यायी लेखक ने असंख्य प्रामाणिक पुस्तकों का मनन किया है और उनकी सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी है। सर्व-धर्म-समन्वय और धार्मिक एकता पर लेखक ने विशेष जोर दिया है। और सप्रमाण दिखलाया है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्व एक ही हैं। सात सौ पृष्ठों की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का दाम १३।।) रुपया और अजिल्द का १२) रुपया है।

मंत्री

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलन-भवन, पटना-३

मुद्रक :—फ्री प्रेस लिमिटेड, पटना—१



साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का

वार्षिक ७)] सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र [एक प्रति २)

वर्ष ३ | आश्विन, संवत् २००९ : अक्टूबर १९५२ ई० | अंक ३

संपादक

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

सम्मेलन के सभापतियों के भाषणों की आवश्यकता

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शुरू से आज तक जितने अधिवेशन हुए हैं, उनके सभापतियों के भाषणों का संग्रह प्रकाशित करने के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से तीन हजार रुपये मिले हैं। शुरू के पाँच भाषण पुस्तक के रूप में छप चुके थे। उन भाषणों के नवीन संस्करण इस समय छपवाये जा रहे हैं। छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण नहीं मिल रहे हैं। यदि हिन्दी-प्रेमी सज्जनों के पास किसी भाषण की मुद्रित प्रतिलिपि या कतरन हो तो वे निःसंकोच भेजने की कृपा करें। उनका नाम भाषण-संग्रह में सादर प्रकाशित कर दिया जायगा।

छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण—

६ राजाबहादुर कोर्त्यानन्द सिंह : १९२४ मुजफ्फरपुर; ७ देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद : १९२५ लहेरियासराय; ८ आचार्य बदरीनाथ वर्मा : १९२७ गया; ९ रायबहादुर रामरणविजय सिंह : १९२९ मुंगेर; १० स्वामी भवानीदयाल संन्यासी : १९३१ देवनाथ धाम; ११ डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल : १९३३ भागलपुर; १२ पं० जनार्दन झा 'द्विज' : १९३५ छपरा; १३ श्री यशोदानन्दन अखौरी : १९३६ पूर्णिया; १४ श्री व्रजनन्दन सहाय : १९३६ बेगूसराय; १५ श्री पोर मुहम्मद मूनिस : १९३७ आरा; १६ महापंडित राहुल सांकृत्यायन : १९३८ राँची; १७ आचार्य शिवपूजन सहाय : १९४१ पटना; १८ श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह : १९४२ मोतीहारी; १९ श्री रामधारी प्रसाद : १९४५ मन्दार (बौंसी); २० प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र : १९४[illegible] मुजफ्फरपुर।

व्रजशङ्कर वर्मा

मंत्री, सम्मेलन-भवन, पटना-३

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष ३	आश्विन, संवत् २००९ : अक्टूबर, १९५२ ई०	अंक ३

सम्पादकीय

पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवाद

१८८६ में, पेरिस की प्रसिद्ध पत्रिका Figaro में, एक साहित्यिक सम्प्रदाय के रूप में, प्रतीकवाद का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था। इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले ऐसे कुछ लेखक थे जो Decadents के नाम से, प्रायः बीस वर्षों से, अभिहित होते रहे थे।

प्रतीकवाद के घोषणा-पत्र में साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक ऐसी प्रणाली की स्थापना की गई थी जिसमें शब्दों का प्रयोग उनके वस्तुनिष्ठ विवरणात्मक या बौद्धिक तत्त्व के लिए नहीं किया जाता, बल्कि मन की दशाओं को संकेतित करने के निमित्त होता है।

प्रतीकवाद के इस घोषणा-पत्र की महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ हैं, 'प्रतीकवादी कविता विचार को रागात्मक रूप प्रदान करने का प्रयास करती है, यद्यपि यह उसका चरम लक्ष्य नहीं है। इस कला में, सभी स्थूल पदार्थ मात्र रागात्मक रूप से सम्पन्न हैं, और आद्य विचारों के साथ अपना गुह्य सामंजस्य प्रस्तुत करने में ही उनकी सार्थकता है।'

साहित्य का यह प्रतीकवादी आन्दोलन पाश्चात्य चित्रकला और संगीत के प्रभाववादी आन्दोलन Impressionist Movement का समसामयिक था। इन्हीं दिनों उपचेतन का दर्शन बर्गसाँ में अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुआ था। प्रतीकवाद, स्वच्छंदतावाद Romanticism से भी सम्बद्ध है। प्रतीकवाद वस्तुतः स्वच्छंदतावाद की एक उपशाखा है, और उससे अखंडित-

प्राय, हालाँकि कभी-कभी प्रच्छन्न, धारा से उद्भूत है। प्रतीकवाद, व्यापक रूप में, सृष्टि की वैसी रहस्यात्मक भावना से भी संपृक्त है, जो न्यूनाधिक मात्रा में नव-प्लेटोवाद, (Neo-Platonism) से आविर्भूत होती है।

प्लेटो ने प्रतीकों का इसलिए इस्तेमाल किया कि, स्वयं उसी के शब्दों में, 'यह कहना ज्यादा आसान है कि कोई चीज कैसी है बनिस्बत कि वह क्या है। अलेक्जांड्रिया के नव-प्लेटोवादियों ने इसके अपेक्षाकृत अधिक नियमानुमोदित और गुह्य प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई। M. Denis de Rougemout के मतानुसार, मध्यकालीन रूमानी रचनाएँ उसी भारत-योरोपीय परम्परा का दृष्टांत भी हो सकती हैं, जिसकी धारणा है कि संसार का सर्जन पहले आध्यात्मिक रूप में हुआ और बाद में उसे भौतिक रूप प्राप्त हुआ, जिसका निष्कर्ष होता है कि दृश्य पदार्थ एक लुप्त आध्यात्मिक जगत के प्रतीक मात्र हैं। पुनर्जागरण काल के नव-प्लेटोवादियों ने प्लेटो और उसके अलेक्जांड्रिया के अनुयायियों दोनों का ही अनुकरण किया, किन्तु उनके द्वारा प्रतीकों का प्रयोग अग्नि, सूर्य, पंख आदि स्रोतों से सम्बद्ध पदार्थों तक ही सीमित था। आगे चल कर अट्ठारहवीं शताब्दी के फ्रांस के Illuminati या Encyclopaedists ने, विशेष रूप से स्वेडेनबर्ग के सामंजस्यों (Correspondences) के सिद्धांत के माध्यम से, जिसे बादलेयर के Les Correspondences शीर्षक सानेट ने सुपरिचित बनाया था, समस्त वस्तुओं के प्रतीकों में रूपांतरण को, वैयक्तिकता-प्रधान अभिव्यंजना का एक समुचित साधन बनाया। इस वर्ग के साहित्यिकों की दृष्टि में प्रतीक उन दन्तकथाओं से भिन्न हैं जिनमें सामूहिक वैशिष्ट्य बना रहता है, और उन अन्योक्तियों से भी पृथक् हैं जिनका अर्थ बाह्यपरक और रूढ़िमुक्त है। इस प्रगति के बाद नव-प्लेटोवादी परम्परा की काव्यात्मक सम्भावनाओं का सचेष्ट विस्तार किया गया और उन्हें एक नवीन गीत्यात्मक भाषा का रूप दिया गया।

बादलेयर के सानेट में शब्द की समन्वित सौंदर्य भावना (Synaesthesia) के उस सिद्धान्त की ओर संकेत था, जिसके अनुसार नेत्र और श्रवण-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं में परस्पर सामंजस्य संभव है। सामंजस्यों की धारणा में आस्था रखने के कारण ही बादलेयर ने मनुष्य को 'प्रतीकों के जंगल' से गुजरते देखा था, जहाँ सभी भौतिक पदार्थों का ऐसी आध्यात्मिक वास्तविकताओं के साथ सामंजस्य रहता है जो अदृश्य जगत् के 'अंधकारपूर्ण और अस्त-व्यस्त ऐक्य' में घुल-मिल जाती हैं। बादलेयर की कविता ने इस प्रणाली के लाभ का उदाहरण उपस्थित किया, क्योंकि सामंजस्यपूर्ण प्रतीकों की परस्पराभिमुख स्थिति से अथवा परस्पर प्रतिकूल प्रतीकों के विरोध से उसकी कविता ने उस युग में अंतर्निष्ठता प्राप्त की थी, जो रूमानी गीत्यात्मकता के प्रति असहिष्णु था।

बादलेयर के बाद Arthur Rimbaud ने, प्रत्यक्ष यथार्थता का अतिक्रमण करने की चेष्टा में और देश-काल से निर्बंध क्रांतदर्शी बनने की कामना से, ऐसे अंतर्दर्शनों की शृंखला के माध्यम से अपना आध्यात्मिक इतिहास प्रस्तुत किया जिसमें तर्क-संगत पौर्वापर्य का सर्वथा अभाव था। Verlaine ने Rimbaud के माध्यम से ही संभवतः बादलेयर की कुछ विशेषताओं को

पाया था—व्यंजनात्मक महत्त्व और वातावरण के लिए शब्दों का प्रयोग, प्रसाद गुण की उपेक्षा, इस उद्देश्य से कविता की संगीतात्मक विशेषता पर जोर देना कि उसमें मस्तिष्क की वह गति पुनर्निमित हो सके, जो शायद ही कभी अकृत्रिम भावना के स्तर के ऊपर उठ पाती है। बादलेयर के दूसरे अनुयायी Mallarme ने वाक्य के विघटन द्वारा चित्रों की टकराहट पर और ज्यादा जोर देकर, और विलक्षण उपमाओं और जटिल विचारों की सहायता से, एक साथ ही अवगुंठित और अभिव्यक्त कर, ऐसी आयाससाध्यता और अस्पष्टता का समावेश किया जो अतीत की गुह्य काव्य-शैलियों की विशेषताएँ थीं। मलार्म चाहता था कि वह प्रत्येक पद को 'आकार ग्रहण करने के योग्य चित्र, विचार की अभिव्यंजना, अनुभूति के उद्रेक और दर्शन विशेष का प्रतीक' बना सके।

१८८६ का उल्लेख मैं प्रारम्भ में ही कर चुका हूँ। उसी वर्ष प्रतीकवाद का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था। बात यह थी कि १८८६ में फ्रांस के युवा साहित्यिक ऐसे व्यक्तियों की तलाश में थे जिनका नेतृत्व उन्हें स्वीकार हो पाता। ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने Mallarme और Verlaine को ढूँढ़ निकाला था।

इसी आधार पर प्रतीकवादियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—वे जो Verlaine के अनुयायी थे और वे जो Mallarme के पद-चिह्नों पर चल पड़े थे। Verlaine के अनुयायी अपनी सारी उदासीनता और विलक्षणता के बावजूद, सामान्य रूप से, भाव-चित्रण में सरलता और ऋजुता के पक्षपाती थे और अपनी अस्पष्ट मानसिक स्थितियों और उपचेतन विचारों की अभिव्यक्ति के लिए समुचित प्रतीकों का अवलंब लेते थे। इस वर्ग के प्रतीकवादियों में La Cordonnel, Samain, Mikhael, Rodenbach और Materlink उल्लेखनीय हैं। इनमें भी अन्तिम, Materlink तो काफी प्रसिद्ध भी हैं। प्रतीकवादियों का दूसरा वर्ग, जो Mallarme का अनुयायी था, Harmonistas या Vers Librestes के नाम से परिचित है। इसकी कला अधिक सचेष्ट, जटिल और संश्लेषणात्मक है। इस वर्ग के उल्लेखनीय कलाकार हैं—Ghil, Dulus, Mockel, Manelair, Merril, Verhaeren, Kahn, Laforgue, Viele-Griffin, Dujardin, Retle, Henri de Reguier, आदि।

प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रभाव फ्रांस के बाहर भी बहुत व्यापक सिद्ध हुआ। इङ्गलैण्ड के Decadents, अमेरिका के Imagists और Symbolists, जर्मनी के R. M. Rilke, और Stefan George जैसे साहित्यिक और स्पेन के Modernistas प्रतीकवाद से प्रभावित पाश्चात्य साहित्यिकों की विविध शाखाएँ और व्यक्ति हैं।

इनमें Decadents या परिणतिवादियों तथा Imagists अर्थात चित्रवादियों का ही उल्लेख यहाँ समीचीन होगा। परिणतिवादियों का प्रधान सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त था कि कला प्रकृति की अस्वीकृति है और प्रकृति कला की, कला मानवीय शिल्प है, नारी का सौन्दर्य प्रसाधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फ्रांसीसी साहित्य के परिणतिवादियों में Huysmans

सर्वाधिक उल्लेख्य है। इस दृष्टि से १८८४ में प्रकाशित उसका उपन्यास A Rebours बहुत ही प्रसिद्ध है। इस उपन्यास ने प्रमुख परिणतिवादी Oscar Wilde के उपन्यास The Picture of Dorian Gray को स्पष्ट ही बहुत प्रभावित किया था, जो १८८९ में पहली बार प्रकाशित हुआ था। बादलेयर का भी सिद्धान्त था कि प्रकृति ही कला का अनुकरण करती है। यह आन्दोलन विस्तृत तो था किन्तु स्थायी नहीं सिद्ध हुआ।

कुछ अमेरिकन और अँगरेज कवियों ने चित्रवाद का प्रवर्त्तन कर कविता में दृश्य चित्रों के सुनिश्चित प्रयोग की पुनः स्थापना की। इस आन्दोलन की बौद्धिक पृष्ठभूमि, अप्रत्यक्ष रूप से, T. E. Hulme से मिली, जिनकी अपनी कविताओं में चित्रों का शुष्क पर निश्चित रूप मिलता है, और जो चित्रवादियों के लिए आदर्श बनीं। १९१२ में एजरा पाउण्ड इस आन्दोलन के प्रमुखतम संगठनकर्त्ता थे। १९१४ में Amy Lowell ने इसका संगठन अपने हाथ में लिया और तब एजरा पाउण्ड आवर्त्तवाद (Vorticism) में सम्मिलित हो गए। इन पर चीनी और जापानी कविता तथा फ्रेंच और शास्त्रीय यूनानी साहित्य का प्रभाव था।

मार्च १९१३ की Poetry पत्रिका में F. S. Flint ने तीन चित्रवादी सूत्र प्रस्तुत किये थे—वस्तु का, वह बाह्य हो या आभ्यंतर, सीधा निरूपण, ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं करना जो चित्रण के लिए सहायक न सिद्ध हो, जहाँ तक लय का प्रश्न है, संगीतात्मक वाक्य के अनुसार रचना करना। १९१४ में Das Imagists, An anthology प्रकाशित हुआ था। Some Imagist Poets, 1915-1917 के नाम से Amy Lowell ने तीन चित्रवादी संग्रह प्रकाशित किये थे।

कालांतर में स्वयं प्रतीकवाद में भी अन्य धाराएँ समाविष्ट हो गई थीं, विशेष रूप से वैगनर का संगीत। इस विषय में Paul Valery ने कहा है—'हम संगीत से पोषित होते हैं और हमारा साहित्यिक व्यक्तित्व यही स्वप्न देखता है कि किस प्रकार भाषा से वे प्रभाव विजित किये जा सकते हैं जो विशुद्ध ध्वनियों से हमारे शरीर की स्नायविक प्रणाली में उत्पन्न होते हैं।' पाल वैलेरी इस उद्देश्य से ही अपने पद्यों की गणित-सम्मत योजना करता था। उसके विपरीत Paul Claudel ने प्रतीकात्मक रहस्यवाद को रूढ़िवादी प्रार्थना में परिणत करने का भी प्रयास किया। पीछे चल कर फ्रांस के बाहर प्रतीकवाद ने ऐसे सशक्त रूप ग्रहण किये कि उनसे स्वयं फ्रांसीसी प्रतीकवादी भी प्रभावित हुए। उदाहरण के लिए उत्तरकालीन Ibsen के प्रतीकवाद ने, जो कि इन्हीं स्रोतों से गृहीत हुआ था, अपनी ओर से न केवल Yeats, Synge और Paul Vincent Carroll जैसे आयरिश और Tchekov, Eugene O'neill, Philip Barry जैसे अन्यदेशीय नाटककारों को, बल्कि Materlink तक को प्रभावित किया।

सच तो यह है कि प्रतीकवाद ने आधुनिक काल में आकर आंशिक रूप में ही सही, साहित्य के सभी रूपों को प्रभावित किया है। James Joyce, Jules Romains, Richard Beer-Hofman जैसे उपन्यासकार और एलियट जैसे कवि इस साहित्यिक मान्यता से असंदिग्ध रूप से प्रभावित हुए हैं। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि

अभिव्यंजनावाद (Expressionism), अतियथार्थवाद (Surrealism) और अन्य अंतर्निष्ठ कलात्मक वादों में सन्निविष्ट होकर, प्रतीकवाद आज भी कला के क्षेत्र में बलवती धारा के रूप में वर्त्तमान है ।

—न० वि० श०

भाषा का प्रमाणीकरण

हिन्दी भारत की राज-भाषा भले ही मान ली गई हो, वह भारत की राष्ट्र-भाषा नहीं है, इस सूक्ष्म भेद पर भारत के मनीषी जोर देने लगे हैं ! हिन्दी के प्रेमियों को यह हितोपदेश बार-बार दिया जा रहा है कि अपनी भाषा को सचमुच ही राज-भाषा बनते देखना चाहते हो तो अपनी साम्राज्य-भावना का परित्याग करो; और यदि उसे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन पाना चाहते हो तब तो जरूरी है कि उसका विकास करो, उसे इस पद के योग्य बनाओ !

हिन्दी के प्रेमी अपने हितैषियों के उपदेशों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं और उनके सुझावों से लाभ उठाने के लिए कृतसंकल्प हो गये हैं। अब तो हिन्दी के प्रेमियों के भी दो दल हो गये हैं, जिनमें से एक अतिशय उदार बन कर दूसरे को सुना कर नारे लगाता है—हिन्दी को सरल बनाओ, हिन्दी को उन्नत बनाओ, अगर चाहते हो कि दूसरे हिन्दी सीखें तो तुम भी दूसरी भारतीय भाषाएँ सीखो, हिन्दी का प्रमाणीकरण होना चाहिए, हिंदी में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण होना चाहिए (निर्माण हो जाने पर भले ही उन्हें अस्वीकृत कर दिया जाय !), हिन्दी व्याकरण को सरल बनाओ, हिन्दी शब्दों की अनेकरूपता हटाओ, इत्यादि-इत्यादि ।

हमने इन्हीं पृष्ठों में कुछ पहले लिखा था कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के महामहिमामय पद के अनुरूप बनाने के लिए उसके शुभैषी खोखले नारे लगाते हैं और उसके प्रेमी उन नारों को बुलन्द कर अपनी विनय भावना का परिचय देते हैं। 'सरल हिन्दी' का ऐसा नारा कितना बेमानी और खोखला है इस पर हम अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं। 'हिन्दी का प्रमाणीकरण' भी एक ऐसा ही भ्रामक नारा है जिसकी अनिवार्यता का दूसरे उपदेश देते हैं और हम जिज्ञासुओं की तरह उसे सुनकर कृतार्थ होते हैं।

हम अवश्य यह नहीं चाहते कि हिन्दी में ऐसी 'अराजकता' स्थापित हो जाय कि व्याकरण का 'राज्य' पूर्णतः 'नष्ट' हो जाय। जब प्रदेश-विशेष के कुछ प्रसिद्ध लेखक 'स्तित्व' और 'मिझ', 'स्रष्टि' और 'सृष्टा' बोलते ही नहीं, धड़ल्ले से लिखते भी हैं, तो हम हैरान भी होते हैं और क्षुब्ध भी। लेकिन यह तो अज्ञानजनित अशुद्धि है, इससे और भाषा के प्रमाणीकरण, विशेष रूप से शब्दों की एकरूपता, की माँग से कोई वास्ता नहीं। जहाँ ऐसी अशुद्धियों को हम हिन्दी के प्रारम्भिक छात्रों के लिए भी लज्जाजनक समझते हैं, वहीं यह भी मानते हैं कि किसी जीवित भाषा का प्रमाणीकरण कुछ अंशों में, एक सीमा तक ही सम्भव है।

शब्दों की एकरूपता का प्रश्न ले लीजिए। अराजकता यहाँ भी अवांछनीय है, किन्तु यह माँग तो बिलकुल बेतुकी होगी कि शब्दों की द्विरूपता या बहुरूपता को निषिद्ध घोषित कर दिया जाय।

संस्कृत से अधिक व्याकरण-निगड़ित भाषा कदाचित् संसार में नहीं मिलेगी। उसके बारे में तो यह भी विवादास्पद है कि वह कभी साधारण बोलचाल की भाषा रही होगी। और फिर भी आप देखें शब्दों की अनेकरूपता संस्कृत में किस प्रकार पाई जाती है—आषाढ़-असाढ़, विषुव-विशुव, कषा-कशा, शबल-सबल, कुशल-कुसल, वासव-वाशव, वशिष्ठ-वसिष्ठ, मुशल-मुसल, सूकर-शूकर, सृगाल-शृगाल, कोष-कोश, अश्रु-अस्रु, शण्ड-षण्ड-सण्ड, शूर-सूर, किशलय-किसलय अली-अलि, वह्लीक-वाह्लीक, पारावत-पारवत, कवाट-कपाट, प्रतिकार-प्रतीकार, अवतंस-वतंस, यामाता-जामाता-यायाता, योषा-जोषा, तनु-तनू, हनु-हनू, परीषत्-परिषत्, विरञ्चि-विरिञ्च, वेष्या-वेश्या, भुजङ्ग-भुजग, कबन्ध-कवन्ध, विश्राम-विश्रम, पुरुष-पूरुष, गम्भीर-गभीर, अगस्ति-अगस्त्य, वातिल-वातुल-वातूल, चेटी-चेडी, ज्यैष्ठ-ज्येष्ठ, पौष-पुष्य, वाक्-वाचा, कुवर-कूवर, नारक-नरक कुटीर-कुटिर, ननन्द-ननान्दा, जटल-जटिल, निसित-निशित, क्षीत-क्षीण, पुष्ट-पुषित, पिष्ट-पिषित, तप्त-तपित, गुप्त-गोपायित, तडाग-तडग, निमेष-निमिष, लक्ष-लक्ष्य, भ्रुकुटि-भ्रुकुटी-भृकुटि, स्फुरन-स्फुरण, कर्षक-कृषक, मणि-मणी।

यह तो एक अत्यन्त संक्षिप्त द्विरूप-तालिका है। संस्कृत में द्विरूप-कोष भी वर्त्तमान है। उसे अन्य अनेकानेक शब्दों की बहुरूपता के लिए देखा जा सकता है। भ्रुकुटि और भृकुटि में कौन-सा रूप शुद्ध है इसे लेकर हाल में ही हम अपने एक विद्वान् सहयोगी के साथ उलझ पड़े थे और हमारे एक संस्कृतज्ञ मित्र अक्सर हो हिन्दी के शब्दों के अव्यवस्थित रूप का रोना रोते हुए कहते है कि देखिये, हिन्दी में कर्षक के बदले लोग कृषक लिखते हैं!

हमारा मुँह बन्द करने के लिए और तर्क के लिए तर्क करने के निमित्त कहा जा सकता है—ये ही तो कारण है कि संस्कृत कभी बोलचाल की व्यापक भाषा नहीं बन सकी! तर्क सारहीन है, और उत्तर अनावश्यक। छोड़िए संस्कृत को, अँगरेजी के बारे में तो आप ऐसी बात नहीं कह सकते। लेकिन खुद अँगरेज अपनी संसारव्यापी, समुन्नत, पर साथ ही साथ अजीबोगरीब भाषा को लेकर किस तरह परेशान हैं यह भी एक मनोरंजक और शिक्षाप्रद दृष्टांत है।

अँगरेजी के प्रमाणीकरण की समस्या तो और भी जटिल है। बर्नार्ड शा ने अपने वसीयतनामा में एक बहुत बड़ी रकम अँगरेजी की हिज्जे की विवेकशून्य प्रणाली के परिमार्जन के लिये छोड़ी थी और इस भाषा के कुछ प्रेमियों ने हाल में ही सरल हिज्जे के आन्दोलन की वैधानिक स्वीकृति के लिए हाउस आफ कामन्स में एक विधेयक तक उपस्थित कर डाला था, हालाँकि वह कुछ मतों से ही अस्वीकृत हो गया। अँगरेजी में 'Ce', 'ci', 'ti', 'te', और 'Si' सभी उस एक ध्वनि को संकेतित कर सकते हैं जो आसानी से 'Sh' के द्वारा व्यक्त होती है। 'Plough', 'Cough' और 'Dough' लगते एक-से हैं, पर 'बे-तुके' हैं!

यही हाल उच्चारण का है, जिससे खीझकर कुछ लोगों ने कुछ रोज पहले यह सुझाव रखा था कि प्रारम्भिक शिक्षा के समय से ही प्रत्येक शिशु को 'एटन'-शैली का उच्चारण सिखाया जाय! इसका मजदूर दल के नेताओं ने घोर विरोध किया था और समस्या को समाधान की

प्रतीक्षा करनी पड़ रही है। यह विश्व-भाषा अँगरेजी में ही सम्भव है कि लंदन से कुछ दूर पर लीड्स में 'You will be lucky to get a bus' को इस तरह उच्चरित करने का प्रचलन हो—'यू विल बी लुकी टू गेट ए बुस।'

किंबहुना, कहने का तात्पर्य यह है कि समृद्ध भाषाओं की भी अपनी कमजोरियाँ और त्रुटियाँ होती हैं। उनका विकास और प्रसार तब तक के लिए रुका नहीं रह सकता जब तक वे परिपूर्ण न हो जायँ। हिन्दी में भी अभाव और त्रुटियाँ हैं। उन्हें अणुवीक्षणयंत्र जैसी आँखों से देखने-दिखाने की चेष्टा उसके प्रति अन्याय करना है। —न० वि० श०

समय बड़ा बलवान् है

लोगों का कहना है कि समय बड़ा बलवान् है। संसार की दशा देखने से भी प्रतीत होता है कि सचमुच काल बड़ा बली है। उसकी चपेट में आने से कोई नहीं बचता—कुछ भी नहीं बचता। यह संसार ही काल का कलेवा है। किन्तु कहा जाता है कि वह नाम को नहीं खाता। फिर भी, ऐसे नाम, जिनको काल नहीं पचा सकता, संसार के इतिहास में बहुत कम पाये जाते हैं। अधिकांश नामों की चमक को वह धूमिल अवश्य कर देता है। जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र, मरुस्थल आदि भी काल-चक्र में पड़कर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। बड़े-बड़े साम्राज्य बड़े-बड़े सम्राट्, विश्व-विजयी वीर, विश्व-विश्रुत विद्वान् और कलाकार काल के गाल में समा कर नामशेष हो गये। उनकी कहानी और कीर्ति को समय कभी उदरस्थ न कर सका। क्योंकि संसार की जो वस्तु साहित्य की छत्रच्छाया में चली आती है वह कराल काल के प्रभाव से बच जाती है।

जो समय कभी पर्वत को पाताल पठाता, जंगल को जलाता, समुद्र को सुखाता और ऊषर को उर्वर बनाता है वही समय सच्चे साहित्य के सामने हार खाता है। साहित्य जिसको अपनी शरण में ले लेता है उसपर काल झपट्टा मारने का साहस नहीं करता। भले ही वह साहित्यकार के पार्थिव शरीर को अपनी विकराल दंष्ट्रा में दबाकर लील जाय, पर साहित्यकार की सच्ची साधना से सिरजे गये साहित्य पर उसके दाँत नहीं गड़ पाते। संभवतः साहित्य को काल स्वयं भी बचा रखना चाहता है। क्योंकि वह जानता है कि हमारी गतिविधि का लेखा-जोखा सुरक्षित रखनेवाला केवल साहित्य ही है। काल की शक्ति, उसकी महिमा, उसकी अजेयता उसकी दुर्लंघ्यता आदि का पता देनेवाला साहित्य ही है। यदि समय का गुणगान साहित्य नहीं करता तो समय का महत्व कदाचित् स्थिर नहीं रह पाता।

समय तो निश्चय ही बलवान् है; किन्तु यह भी अतिशयोक्ति नहीं की साहित्य भी समय से कुछ कम बलवान् नहीं है। शर्त्त इतनी ही है कि वह साहित्य तपी हुई साधना के गर्भ से प्रसूत हो, उसमें अनुस्यूत भाव विशुद्ध और पीयूषप्राय हों, उसमें गुम्फित विचार शाश्वत हों, उससे व्यक्त होने वाला अर्थ लोकरंजक और श्रेयस्कर हों। किन्तु ऐसे साहित्य की रचना 'न चाल्पस्तपसः फलम्।'

आज हमारे साहित्य में नाना प्रकार के 'वाद' प्रचलित हैं, अनेक प्रकार की धाराएँ चल पड़ी हैं और विविध भाँति की शैलियाँ भी गद्य और पद्य दोनों में चालू हैं। यह सब देखकर बहुत-से लोग काफी चिन्तित हो रहे हैं। कोई सोचता है कि साहित्य में अवाञ्छनीय रचनाओं की संख्या बढ़ रही है, कोई समझता है कि साहित्य में निरंकुश भाव से मनमानी चल रही है; कितनों की तो यह भी धारणा है कि कुछ लोग अप्रयोजनीय साहित्य गढ़ रहे हैं और कितने तो यहाँ तक आशंका करते हैं कि साहित्य की गति ही रुक गई है। यह 'गत्यवरोध' (डेड लाक) राजनीतिक क्षेत्र से आया हुआ एक हौआ है। वास्तव में साहित्य की गति न रुकती है—न रुक सकती है। जब तक गतिशील संसार और मानव समाज है तब तक साहित्य में गत्यवरोध की चिन्ता व्यर्थ है। संसार की गति भी समय के अनुसार मन्द और अमन्द होती रहती है। नदी की धारा भी मन्द और प्रखर हुआ करती है। साहित्य-सेवी जब साहित्य-साधना से विरत होकर फालतू बातें सोचने लगता है तब हिन्दी-साहित्य में उसे गत्यवरोध और स्वेच्छाचारिता का हौआ दीखने लगता है। साहित्य-साधक तो एकाग्र मन से साहित्य-रचना में और साहित्य के कल्याण-साधन में दत्तचित्त रहता है। वह इस चिन्ता में व्याकुल नहीं रहता कि कौन साहित्यसेवी अराजकता फैलाता है, परम्परा बिगाड़ता है, नया पंथ चलाता है अथवा साहित्य का सर्वनाश करता है। साहित्य कोई ऐसी चीज नहीं है जिसको कुछ लोग मिलकर हमेशा के लिए भ्रष्ट कर देंगे। जो साहित्य को भ्रष्ट करने का प्रयास करेंगे वे स्वयं ही कुछ दिनों में नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। साहित्य तो विराट् रूपमय ब्रह्म की स्वर-लहरी और भाव-धारा है। उसे जो दूषित और कलुषित करेगा वह स्वयं अधःपतित हो जायगा। यदि प्रत्येक साहित्य-सेवी शान्त मस्तिष्क और श्रद्धालु हृदय से साहित्य-साधना में सतत संलग्न रहे तो गत्यवरोध और निरंकुशता का भूत उसे नहीं लग सकता।

संसार की तरह साहित्य में भी नई-नई परम्पराएँ चली हैं और चलती आई हैं। समाज में कितने ही पन्थ और संप्रदाय उत्पन्न हुए और थोड़े-घने समय तक प्रभावशाली भी रहे। उन परम्पराओं और पन्थों के परिवर्त्तन के लिए साहित्य भी बना। ऐसी घटनाएँ अतीत में हो चुकीं हों, वर्त्तमान में भी हो रहीं हों, भविष्य में भी होंगी, बलवान् समय सब को परखता रहेगा। जिसमें कुछ दम रहेगा वही टिकेगा, नहीं तो समय के एक धक्के में ही चूर हो जायगा। जो चीज ठोस बन पड़ेगी वह समुद्र में अटल चट्टान की तरह काल-प्रवाह झेलती रहेगी। जिस साहित्य-साधक की रचना में कुछ तथ्य होगा, जिसमें लोक-हृदय को रमाने की शक्ति होगी, जिसमें जनगण-मंगल के तत्त्व होंगे उसको समय सदा अपने साथ रखेगा। जो कुछ निरर्थक और निष्प्रयोजन होगा उसे समय स्वयं विलीन कर देगा और जो तत्त्व महत्त्वपूर्ण होगा उसको लाख विरोधों के बीच भी समय बराबर कायम रखेगा।

—शिव०

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

प्रो० जगदीश पांडेय, एम्० ए०

[विगतांक से आगे]



'पिठरपाक' विकास शील के मूल बन्धुत्व धर्म की नहीं, बल्कि मूलबीजत्व धर्म की माँग है। परिवर्त्तन के साथ-साथ, जिस बीज-भाव, जिस आदि संकल्प, के तप से शील संवर्धित हुआ, उससे सर्वथा भिन्न शील के पल्लव, पुष्प या फल नहीं होने चाहिए। यह बीज-भाव (जैसे, प्रभुता का लोभ, ईर्ष्या, प्रतिशोध, प्रेम, महत्वाकांक्षा, यशःकामना) शील की आकृति में परिवर्त्तन लाने की स्वतंत्रता, परिस्थिति या आवेष्टन को देता तो है, पर यह स्वतंत्रता ब्योरों तक सीमित रहती है। व्यक्तित्व का पर्याय बातचीत के कामचलाऊ समझौते में व्यक्ति का मुखमण्डल या मुखाकृति भी होती है। प्रकृति को यह स्वतन्त्रता है कि शीतला का अभिशाप बनकर वह आये। परन्तु जिस विशिष्ट आकृति से व्यक्ति का व्यावर्तन होता है उसकी मूल रेखाओं, उसके आधार-मान को यदि मिटा दिया जाय तो हम कहेंगे यह दूसरा व्यक्तित्व है। आग में जले चेहरे को यदि हम बिल्कुल न पहचान पायें तो हमें विश्वास हो जायगा कि चेहरा दूसरा है। इस तरह अपनी प्रेयसी के जले चेहरे पर भी हम रो न सकेंगे, क्योंकि रोने के लिए यह आवश्यक है कि हम कह उठें 'आह, वह कमल-सा चेहरा, और उसकी यह दुर्गति! विधाता, यह तूने क्या किया?' जब तक हम अल्पातिअल्प सादृश्य से भ्रम में पड़े रहते हैं और हमारा निर्णय स्तम्भित रहता है तब तक की अनिश्चय-अवस्था भी हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े करती रहेगी। पर यदि हम बिल्कुल न पहचान सकेंगे तो हम आगे बढ़ जायेंगे और मनुष्य होने के नाते एक हल्की सी हमदर्दी ही दिखा सकेंगे। यह दया या सहानुभूति हमारे शील की अभिव्यक्ति होगी—उस जले व्यक्तित्व के अतीत की मधुर स्मृति के प्रति प्रतिक्रिया नहीं। यह अनुभव एक नये साक्षात्कार-सा होगा—पुराने परिचय की प्रेममयी स्मृति और वेदनामयी तुलना लिये नहीं। आकृति से यदि हम न भी पहचान सकें तो स्वर, शब्दों, या हावों से भी अभिन्नता का बोध हो सकता है। उसी तरह शील की आकृति में निराशा, विश्वासघात, भूगर्भराशिप्राप्ति, संस्कारकृतघ्न रति आदि आघातों से विप्लव-सा परिवर्त्तन हो सकता है, पर यह परिवर्त्तन सर्वथा भिन्न की सृष्टि नहीं होगा। व्यक्तित्व एक मांसल आकृति न भी हो पर हर शील की एक मानस मूर्ति हो जाती है। परिस्थितियों के बीच मनुष्य जो कर्म करता चलता है, जिन वचनों का व्यवहार करता चलता है और जिन भावों की दुविधा में पड़ा रहता है, उन सबसे शील की आकृति बनती चलती है। यह शील की गति-सापेक्ष अभिव्यक्ति होती है। पर शील के पीछे स्थिर, तात्विक रूप से जो प्रेरणा-संकल्प रहता है

वह शील की रूपाकृति की सामान्य रेखाओं को हृदय-पट पर अंकित कर छोड़ता है जिससे शील के विकास को हृदयंगम करने में सुविधा है। किसी रसिक का भक्त होना हम समझ सकते हैं पर निर्गुण या योगी होना शील का पीलुपाक विकास होगा। यही कारण है कि तुलसी और सूर के कामातुर पूर्व और सगुणोपासना के अपर को तो हम समझ सकते हैं, परन्तु स्त्री के मायके तक जानेवाले तुलसी तथा चिन्ता वेश्या पर मरनेवाले सूर, कबीर के निर्गुणवादी विरोधाभासों, प्रतीकों और पहेलियों के माध्यम से बोलने लगते तो इसे हम संभावना का बलात्कार कहते। कोई आवश्यक नहीं कि एक दयालु व्यक्ति सदा दया करता चले—डंक मारने वाले बिच्छू पर भी। पर संसार की दुःखानुभूति से विराग-विह्वल हो महाभिनिष्क्रमण करनेवाले बुद्धदेव के मार्ग में यदि कोई घायल पक्षी गिर पड़े और बुद्धदेव उसे एक बार अपनी गोद में न लें, उस पर करुणा के हाथ न फेर दें, उसकी रक्षा के लिये कातर न हो जायँ, बल्कि पैरों से टाल कर किसी विहार के एकत्र जिज्ञासु शिष्यों की टोली की ओर बढ़ जायँ तो हम समझेंगे, शील-विधान की चेतना ऊर्ध्वश्वास ले रही है।

उत्तरार्द्ध का विक्षिप्त नरद्वेषी टाइमन (Shakespear का पात्र) पूर्वार्द्ध के लोकप्रिय रसिक टाइमन से भिन्न नहीं, क्योंकि एकान्त में पलायन करनेवाला, घृणा और विद्वेष की भट्ठी में जलने वाला, विक्षिप्त टाइमन, मूलतः आत्मरत शील वाला टाइमन ही है। पूर्वार्द्ध का टाइमन कोई परोपकारी, करुणासबल, बन्धुत्व-भावुक हृदय वाला नहीं। वह तो चाटुकारी, मिथ्या उक्तियों और आत्मपूजन के चरणोदक का प्यासा है। हिरण्यकशिपु और टाइमन सगोत्र हैं। आत्मरति की बीजेच्छा से उत्पन्न उसके शील की दो आपाततः विपरीत अभिव्यक्तियाँ, उसकी सामाजिक सदस्यता के दो ध्रुव-सीमान्त, एक ही जीवित और अखण्ड निसर्ग-प्रवाह के भिन्न क्रम बन जाते हैं। संगीत से हम उदाहरण ले सकते हैं। राग असावरी को आप चाहें तो त्रिताल या झपताल या अन्य किसी ताल में गा सकते हैं। ताल, संगीत में, काल-तत्त्व का विधान है। मूल रागिनी देश-तत्त्व है। अब ताल के भेद से तानों के वितान, शब्दों की मात्रा की मर्य्यादा के भीतर अनुशासन आदि बातों में भेद हो सकता है। परन्तु स्वरों के उस गुणात्मक-ध्वनियोग में, जिससे मूल रागिनी अन्य रागिनियों से पृथक् पहचानी जाती है, हस्तक्षेप करना, उस गति के सतीत्व को ही नष्ट करना नहीं है, उसके अस्तित्व को खण्डित करना है। फिर ताल का कठोर से कठोर निर्वाह इस संकर-सन्तति को अपांक्तेय बनाने से नहीं रोक सकता। वही हालत शील के भोक्तृत्व पक्ष के इस बीज-संकल्प की है। स्वतंत्र से स्वतंत्र स्वधर्म-शील में भी इसका निर्वाह आवश्यक है। डायोजनिज और मृत्यु दण्ड वाले व्यक्ति के उदाहरण जो पहले दिये गये हैं, उनमें भी इसका निर्वाह है। डायोजनिज को, प्रकृति के सरल जीवन और संतोष की शांति से उत्कृष्ट या अतिरिक्त, क्या मिल पाता सिकन्दर के वैभव और पराक्रम से? विश्व-विजेता शारदीय सूर्य की सुनहली धूप नहीं दे सकता—जिसे हर गरीब मुफ्त पाता है और जिसका आनंद उसी को अधिक मिलता है जिसके तन पर जाड़े में वस्त्र नहीं। उसी तरह आलस्य-विलास की बीज-तालिका से, बन्दी की अतुलनीय चिन्ता-मुक्ति का रहस्य-द्वार खुल जाता है। इससे एक बात होती है। हमें घटना-

वैचित्र्य या शील-वैचित्र्य के लिए एक अंकुश मिल जाता है और साथ-साथ एक अस्पष्ट आशा भी हमको गुदगुदाती रहती है। इस आशा के कलेवर को हम निश्चित नहीं कर सकते पर इसकी गति-दिशा की एक मार्मिक पूर्वानुभूति करते चलते हैं। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद मथा अन्य स्थलों में जब हम लक्ष्मण के शील से इस तरह परिचित हो जाते हैं कि वे राम के विरोध में प्रलाप, दर्प आदि का सहन नहीं कर सकते और तर्कस से तर्क करनेवाले हैं, तो शूर्पणखा के भाग्य का पूर्वाभास हमें मिल जाता है, और भरत पर उन का बिगड़ना भी खलता नहीं। केवट भी भय से कहता है—"चाहे लक्ष्मण हमें तीर से मार दें पर हम बिना पैर धोये पार न ले जायँगे"—जिसमें लक्ष्मण इस दीन के कठिन आग्रह पर पिघल जायँ। कुत्ता कभी-कभी छड़ी देख कर ही भूँकता है, सजा खाने तक नहीं रुकता। छड़ी तथा कुत्ते का सामीप्य देख हम कुत्ते की असुविधा या भय का पूर्वाभास कर लेते हैं, चाहे उसका स्वरूप—केवल भूँकना, आक्रमण करना या भागना आदि—भले ही निश्चित न कर सकें। इस बीजभाव को पुष्ट करने के लिए, ऐसी घटनाओं की आवृत्ति की जाती है जो प्रच्छन्न अभिन्नता से शील की मूल रागिनी को गुँजाती चलती हैं। इससे लाभ यही होता है कि विभिन्न कर्मों और वचनों के बीच भी हम पहिचानते चलते हैं कि पात्र न तो केवल 'यह' है न केवल 'वह', बल्कि, यह 'वही' है। प्रत्यभिज्ञा की माँग इस पिठरपाक विकास का एक निष्कर्ष हो जाता है। आजकल हम सिनेमा में पहले नायक में शृङ्गार का स्त्रैण आग्रह पाते हैं, फिर अचानक दृश्य बदलते ही शील का 'क्लैब्य', 'शौर्य' में बदल जाता है। कंघी के कामी जब अचानक मुष्टिक के महावीर और मल्ल के भीम बन जाते हैं तो पहिचानना थोड़ा कठिन हो जाता है। देश में पूर्ववत् स्थिति बनी हुई है। परिस्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं। फिर भी एक ही शील दो मूलतः भिन्न तत्त्वों से निर्मित-सा प्रतीत हो तो प्रत्यभिज्ञा में बाधा होती है। मान लें किसी गाँव में दो भाई रहते हैं। छोटा भाई बड़े भाई के प्रति श्रद्धा रखता है, क्योंकि बड़ा भाई रुपये-पैसे के मामले में घोर ब्रह्मचारी है और खुद छोटे भाई को कुछ पैसों के लिये कमजोरी है। गाँव भी बड़े भाई को देवता मानता है। अब मान लीजिये, बडा भाई किसी स्त्री से प्रेम करता है। प्रेयसी को, इस प्रणय-भेद को जानने वाले एक मद्यप से पिण्ड छुड़ाने के लिए ५०) की जरूरत है। बड़ा भाई गाँव के एक समृद्ध पर श्रद्धालु निवासी के घर चोरी करता और पकड़ा जाता है। अब यदि छोटा भाई ईर्ष्या या द्वेष से प्रेरित हो, साधुता के ब्रह्मचारी के अचानक स्खलन से उत्पन्न आनन्द से कहता फिरे—'जानते हैं कि नहीं? ब्रह्मचारी जी व्यभिचारी निकले। मुझे नहीं मालूम था कि मेरे भाई साहब एक ही साथ दो-दो थे'—तो यूरप के वैज्ञानिक और उनके पट्टशिष्य शील-निर्माता कहेंगे—'छोटे भाई की श्रद्धा जिस भाँति समाज में परम्परा से प्रतिष्ठित आचार-मूल्यों के संस्कार के कारण स्वाभाविक थी, उसी भाँति द्वेष का यह पित्त-वसन भी स्वाभाविक है। छोटा भाई सदा अपने को बुरा समझता था। आज उस अभाव-भावना से उत्पन्न ग्लानि, संकोच या विघात की निसर्ग-सम्मत मुक्ति-वेला है। उसी की मुक्ति ने इस अश्रद्धा का रूप धारण कर लिया है। यह मनोवैज्ञानिक यथार्थ का उदाहरण है, क्योंकि इसमें मनुष्य के रसातल में सोये बर्बर-विशुद्ध विसर्ग का विस्फोट है,

जो सभ्यता के कृत्रिम हठयोग और प्रतिबंधों से बाधित नहीं। पर शील के इस रहस्यवाद को दूर से ही प्रणाम। श्रद्धेय के प्रति पूज्य भावना और ईर्ष्या की अमंगल कामना, दोनों ही एक ही आलम्बन के प्रति दिखलाने से, शील की प्रतिक्षण नूतन सृष्टि होती रहती है और तब पहचानना कठिन हो जायगा कि व्यक्तित्व एक ही है। स्वाभाविक प्रतिक्रिया तो ऐसी होनी चाहिए कि छोटा भाई लज्जित होता। यही नहीं, वह जाकर अपने हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा को खण्डित करने वाले उस पतित बड़े भाई के प्रति क्रोध भी करता, भर्त्सना करता—पर इस क्रोध के पीछे उसे आराध्य की प्रतिमा खण्डित होने का विषाद होता; मोह और आसक्ति अब भी उसका पीछा नहीं छोड़तीं; वह स्तब्ध हो जाता; स्वप्न-भंग के कारण उसकी आँखें पथरा जातीं! पर अपने बड़े भाई के कलंक और पतन पर आह्लाद प्रकट करना—यह तो एक नये शील की अभिव्यक्ति होगी!

प्रतिनिधित्व करने वाले या दायित्व-वाहक शीलों में प्रत्यभिज्ञा की कठिनाई बहुधा देखी जाती है। मैथिलीशरण गुप्त की 'पञ्चवटी' में भी शूर्पणखा की यही हालत है। परम्परा से प्रतिष्ठित और पञ्चवटी में पहले-पहल आनेवाली शूर्पणखा एक कामी नारी है। वह वासना से अंधी है और अपने रूप-जाल में वह वीरव्रती लक्ष्मण को फाँसना चाहती है। रूप, लावण्य या भय से प्रीति उत्पन्न करना शायद उसके शील का केन्द्रीय संकल्प है। परन्तु शनैः शनैः यह शूर्पणखा बर्नार्ड शा की अर्वाचीन नारी हो जाती है, और स्त्री-जाति की असहायता, पुरुषों के अन्याय, आचार-शील की मीमांसा, पाप-पुण्य आदि के पक्ष-विपक्षों को लेकर वाद-विवाद शुरू करती है और त्रेता की शूर्पणखा के नाखून बीसवीं शताब्दी के पुरुषों के मुँह नोचने लगते हैं। बात यह थी कि मैथिलीशरण जी की ऐतिहासिक बुद्धि असंतुलित हो गई और अतीत को वर्तमान-सा सजीव बनाने की अपेक्षा वे वर्तमान को ही अतीत में ले गये। शील का यह विपरीतालोकन समीचीन नहीं। गुप्त जी की शूर्पणखा पर तिथि की मुहर लग जाती है। मिल्टन का शैतान प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा अपने अहंकार और द्वेष आदि प्रवृत्तियों के कारण स्वर्ग से निष्कासित होता है। आगे चल कर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समानता का, न्याय का, वह धर्म-योद्धा बन जाता है। हैमलेट जहाँ जंगम मंचों की लीला-मण्डली वालों से बातें करता है, वहाँ महारानी एलिजाबेथ के राज्यकाल के मंचों और अभिनेताओं के अभिनय की त्रुटियों की आलोचना, संशोधन और मार्ग-निर्देशन करने लगता है। स्पष्ट मालूम होता है कि यह डेनमार्क का कोमल-प्रकृति राजकुमार नहीं, विक्षिप्त पुत्र नहीं, बल्कि शेक्सपीयर का ध्वनि-दत्तक है। Merry Wives of Windsor के फाल्सटाफ और Henry IV के फाल्सटाफ की तुलना की जाय तो इसी खण्डित प्रतिमा और बाधित प्रत्यभिज्ञा के उदाहरण मिलेंगे।

संश्लिष्ट-विविधता शील को स्तूप-निःस्पंदन से बचाती है। यह शील में मूलबीजत्व की नहीं बल्कि पल्लव, पुष्प आदि की व्यापक सघनता, प्राण-हरीतिमा और शाखा-स्वातंत्र्य की माँग है। Ben Jonson के नाटकों में यदि पति एक बार पत्नी के सतीत्व के प्रति सशंकित हो जाता है तो बराबर छिद्रों से देखता है, प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक दृश्य में, भय और शंका से मरता

रहता है। ऐसा न हो कर—किसी पात्र को केवल पति के रूप में न रख कर—उसे भाई के रूप में, मित्र के रूप में, शासक के रूप में, नेता के रूप में रख कर उसके हृदय की विविधता का साक्षात्कार करना चाहिए। किसी प्रोफेसर का शील यदि दिखाना हो तो केवल बुद्धि-पुरस्सर व्याख्या, ओजस्वी भाषणों, गंभीर मुद्रा, नीले-मोटे फ्रेम के चश्मे के भीतर से झाँकती आँखों, प्रतिभा की यहूदी या अरबी जिद के रूप में नुकीली दाढ़ी, और विचित्रवीर्य की भाँति निस्सन्तान होने की दयनीयता आदि दिखाना ही पर्याप्त न होगा। सिनेमा में प्रोफेसरों का शील-निर्माण इन तत्त्वों से होते मैंने देखा है—(१) विद्यार्थियों की निरंकुशता और प्रोफेसर के अनुशासन की असामर्थ्य (२) मोटी किताब को चश्मे के भीतर से पढ़ना—भरसक लेटे-लेटे (३) अब्बर बोका जब्बर बोकी का व्यंग्य-दाम्पत्य या (४) प्रोफेसर की स्त्री का वन्ध्या होना। प्रोफेसर का शील उसे उसकी कल्पना और विचार के संसार तथा नग्न एवं निर्मम वास्तविकता के संसार के द्वन्द्वों के बीच रखने से देखा जा सकता है। उसे विद्यालय की प्रतीक-सत्ता के बीच लीला करते देखें, फिर उसके मानवीय मूलबन्धुत्व के मर्म का स्पर्श करें। माता के लिए कोने में अनाथ बच्चे की भाँति रोते उस विद्वान् की कराह सुनी जाय। उसकी कामुकता के साथ सम्पृक्त मूल्यों और आदर्शों का ध्रुव तप देखा जाय, वितर्क-जाल में फँसे, आस्था की उत्तुंग भव्यता के लिए घुट-घुट कर मरते उसे देखा जाय; सूक्ष्म से सूक्ष्म सौन्दर्य के रसास्वादन की क्षमता रखनेवाले उस चिन्तक को कोई मूर्ख, वज्र-जड़ पदाधिकारी तुंदिल वणिक्, संतोष और ऋषि-जीवन की विरक्ति का पाठ पढ़ाने लगे तो देखिये, घृणा के बलगम के साथ कितने कीड़े, कितने ताप में खौलते, इन उपदेशकों के मुख पर पड़ते हैं। और, पहली तारीख को मधुकरी की लज्जा और ग्लानि से भरी प्रोफेसर की झोली जब विद्या की वेश्या-वृत्ति पर पश्चात्ताप करती है तो संस्कृतशील के उस रस-शिलाजीत के स्राव की कल्पना कीजिये। और, दुनिया में सुन्दर से भी सुन्दरतम प्रोफेसर के उस अहंकार को देखा जाय जो साधारण जनों, परित्यक्तों, अपने ही शिष्य-पुत्रों के चरण-रज छू अपने को धन्य समझता है और इस तरह बलशालियों और धनिकों के मुँह पर तमाचे लगाता है। आप देख सकेंगे कि विविधता के प्राण-पल्लव किस तरह अपना वसन्तोत्सव मनाते हैं। नहीं तो शायद व्यक्तित्व के शिशिर का ठूँठा पीपल ही हाथ लग सकता है।

इससे पहला लाभ यह होता है कि ऐसे शील के सौन्दर्य में रुचि-पोषण अन्त तक बना रहता है, प्रेक्षक जगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त, आवश्यक रूप से जिन भिन्न परिस्थितियों की उद्भावना करनी पड़ती है उनसे शील संघटित ही नहीं घटित भी होता चलता है। टीका की कम आवश्यकता पड़ती है। शील का वर्णन नहीं होता, उसका सक्रिय साक्षात्कार होता चलता है। ऐसा शील स्वयं-सिद्ध-सा हो जाता है—हम साक्षी और न्यायाधीश दोनों होते हैं। जीवन के सत्य का प्रस्तार और शील का वर्द्धमान देश-विस्तार होता चलता है। संश्लिष्ट से आग्रह इस बात का है कि क्षण भिन्न हो, क्षेत्र भिन्न हो, पल्लव की दिशायें भिन्न हों, पर बीज की भिन्नता न हो, नहीं तो प्रात्यभिज्ञा में बाधा पहुँचेगी।

विकल्प-क्लिष्ट शील सामान्य-प्रत्यय हो सकते हैं, सत्ताभिव्यक्त व्यक्ति नहीं। उनके शील की अभिव्यक्ति नहीं होती, ज्यामिति होती है। यह बीच का गणित होगा। विचार वस्तुगत हो सकते हैं पर व्यक्तित्व वस्तुगामी होता है। विकल्प-शील वस्तुगत होता है। कौतुक-शील जीवन के साथ क्रीड़ा करनेवालों का होता है। विकल्प-क्लिष्ट शील ग्रन्थों से सशरीर उठाये गये विचारों से निर्मित होता है। मार्लो का मेफिस्टफालिस स्वर्ग से निष्कासन की वेदना के कारण मानवीय हो जाता है पर गेटे का वही पात्र कहता है—'मैं अवयवी से पृथक् वह अवयव हूँ जो अहंभावना और विरोध-निषेध के मूल में है।' . यहाँ दर्शन की दुरूह, चट्टानी, बर्फीली धारणा हृदय को स्पर्श नहीं कर पायी है। Priestley के Dangerous Corner नामक खेल में Stanton स्त्री-पुरुषों की एक पूरी टोली के बीच सम्बन्धों के रहस्य और आँखमिचौनी को इस आसानी से, लापरवाही और स्पष्टता से भाँप लेता है मानों वह दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न हो। पति-पत्नी एक साथ बैठे हैं और पूरी मण्डली में वह कुछ घटनाओं और मुलाकातों के आधार पर कह देता है कि देखो तुम्हारी पत्नी अमुक पुरुष से प्रेम करती है। वैवाहिक जीवन की पूज्य भावना को ठेस लगाता वह इस निर्ममता से एक के बाद दूसरे रहस्य का उद्घाटन करता चलता है कि खेल के अन्त तक पात्रों की दुनिया खण्ड-खण्ड हो जाती है। स्वयं उसने चोरी की है। सभी कोसते हैं, तुम्हारे कारण अमुक आदमी ने आत्म-हत्या कर ली, पर वह चोरी की परिस्थिति, घटनाओं के कर्म और हत्या के दूसरे कारणों की ओर संकेत करता, सबको चौंकाता चलता है, मानों भावुकता उसे छू तक नहीं गई हो। जिन्दगी एक गेंद है और वह खिलाड़ी—हार-जीत चाहे जिसकी हो। जिन्दगी में बहुत से रहस्यों के खतरनाक कोने होते हैं, उनसे झाँकने से अप्रिय सत्य भी हाथ लग जाते हैं। सत्य का स्थान 'कुंभकरण सम सोहत नीके'। उसे जगाना नहीं चाहिए। पर एक Stanton है जो बातों को समझ भर लेता है। वह आचरण की कार्य-कारण-अनिवार्यता को जान लेने के बाद अधिक माथापच्ची करना नहीं चाहता। ऐसे कौतुकशील का वही महत्त्व है जो सौन्दर्य की रुचि में फैशन का। कौतुकशील की विशेषता यह है कि उसकी सामूहिक पैमाने पर अनुकृति हो सकती है। उसका सर्जन नहीं होता है। अनुकृत कौतुकशील, हृदय की अवकाश-दशा में बुद्धि का धूमपान है।

अट्ठारहवीं शताब्दी की अँग्रेज नारियों का कुत्तों के प्रति असाधारण राग, पति का नाम सभ्य समाज में लेने को अश्लील समझना, नरम तकियों में धड़कन के बीमार की भाँति धँस जाना और सांस्कृतिक सिर-दर्द के विलास में रत रहना; एलिजाबेथ के समय नाटकों में आये लड़कों का घर बैंच झगड़ा करने की शिक्षा लेना; पञ्जाब में शोक-समारोह के रीति-निर्वाह के लिए पेशेवर वियोगिनियों का करुण क्रन्दन करना; किसी के मरने पर शोक का लिखित प्रस्ताव पास करना आदि इस कौतुकशील के अन्दर ही आयेंगे। पर विकल्प-शील तो जैसे कौओं को डराने के लिये चूना और कालिख से पुती हाँड़ी है। विकल्प-क्लिष्ट शील वादमूलक है। कहीं-कहीं हृदय का पुट भी दे दिया जाता है, जैसे पुआल पर पानी का। अचेतन तथा विरल-विशेष के अणुवादी जेम्स ज्वायस के युलिसिस में तो विचार, भावना, स्मृतियाँ, पण्डित्य से भी

आगे जा कर आविष्कार तक पहुँच गई हैं और लेखक भाषा का भूतनाथ हो गया है। माध्यम का यह 'अगड़बमबमवाद' साबरमन्त्र की सनक है।

जब पात्र बोलने लगते हैं तो ऐसा नहीं मालूम होता कि उनसे कहे बिना रहा नहीं जाता, बल्कि यह कि उनके बिना नाटककार या उपन्यासकार से कहा नहीं जाता। विकल्पक्लिष्ट शीलों के व्यापार वाणी (स्वगत या संभाषण) तक सीमित रहते हैं। ऐसे शील सभ्य-शील, शिक्षित-शब्द-शील होते हैं और उनके ऊपर भाषा का भूत सवार रहता है, जैसे अपने ही पैरों की धूलि उड़ कर अपने सर पर पड़ने लगे। उदाहरण के लिये Priestley के Time and the Conways और I have been Here Before को लें। Time and the Conways में Alan नाम का पात्र कहता है—'नहीं, समय एक सपना है, यदि सपना नहीं होता तो यह सभी वस्तुओं का सर्वनाश कर देता—सारे विश्व का। और, फिर उसे हर दस सेकण्ड पर पुनर्निर्मित करता। पर यह मिटाता नहीं। हम वास्तव में अपने अस्तित्व के क्षेत्र-विस्तार की सम्पूर्णता हैं; अस्तित्व के काल की सम्पूर्णता हैं; और जब हमारे इस जीवन का अन्त होता है तो हमारे सभी अस्तित्व, सभी समय-खण्ड हम से मिल जायँगे और तब हम, शायद, दूसरी 'काल-सरणि' में प्रवेश करेंगे और इस तरह दूसरा सपना शुरू होगा।" उसके बाद कुछ पीने और खाने की निरर्थक गप करने के अतिरिक्त Alan का कोई विशेष महत्त्व नहीं। बात यह है कि 'सरणिवाद' वाले सिद्धान्त से Priestley चमत्कृत हुए। इसलिए इस पात्र को माध्यम बनाया। ऐसी माध्यम-सत्ता में, प्रतिनिधि-पात्रत्व में, शील नहीं। I have been Here Before में Dr. Gorther और आगे बढ़ जाते हैं। वे साधारण स्मृतियों की चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि कभी-कभी भविष्य की बात हम वर्तमान में देख लेते हैं और वास्तव में यह भविष्य का साक्षात्कार नहीं बल्कि अतीत का साक्षात्कार है। "हम एक नहीं, हमारी चेतना के कितनें खण्ड हैं। हर चेतना-खण्ड के साथ काल की एक विशेष सरणि लगी रहती है। कभी चेतना का दूसरा खण्ड अतीत और वर्त्तमान के संधि-स्थल को मिला देता है, आदि-आदि।" Priestley के इस नाटक से काल के 'सरणिवाद' का एक अस्पष्ट संकेत भले ही मिल जाय, उनके पात्र तो बैठ कर गप करते हैं और बीच-बीच में कोई दार्शनिक विवेचन प्रारंभ कर देते हैं। ऐसा शील सजीव नहीं। हम किताब पढ़ते हैं, उसकी दुनिया साकार नहीं होती। 'सहमति' या 'मतभेद' की ही संभावना रहती है—मन का तो स्पर्श तक नहीं होता।

× × ×

शील रूप-प्रधान न हो कर जहाँ संस्कार-प्रधान होते हैं उनका सौंदर्य श्रृङ्खला-सापेक्ष होने से अर्थसबल हो जाता है, परन्तु संस्कार को काव्य में निसर्ग-सिद्ध होना चाहिए। निसर्ग+संस्कार अशुद्ध, तथा संस्कार=निसर्ग शुद्ध तालिका है। जब मनुष्य को परिवेष्टन, समाज और सभ्यता की एक विशेष जल-वायु और प्रगति-क्रम के बीच रख उसके शील का सहानुभूति द्वारा विकास दिखाया जाता है तो उसकी सार्थकता और सापेक्षता बढ़ जाती है और साथ-साथ एक विराट् साम्राज्य की ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है जिससे शील की नितान्त आकस्मिकता भी नियंत्रित

हो जाती है। वासनाओं के अतिरिक्त संस्कार भी व्यक्तित्व के सूक्ष्म निर्णायक हो जाते हैं। जहां अशिक्षित ग्रामीण अट्टहास करता है वहाँ अर्थ की सूक्ष्म असंगति की परख रखनेवाला संस्कृत व्यक्ति केवल अधरों के स्मित प्रस्फुटन से अपने को अभिव्यक्त कर लेता है। अंग्रेजों के बच्चे भावुकता-प्रदर्शन के प्रति अभद्र भावना लेकर ही पलते हैं। इसलिए उनके मूक कम्पित अधरों में घुटती वेदना इसी संस्कार की देन है। बहुत फेन फेंकनेवाले वक्ताओं के प्रति वहाँ एक अविश्वास और विरुचि-सी हो जाती है। यह क्रिया बुद्धि की नहीं, बल्कि उस अनवरत संस्कार की है जिसने अब भय और जुगुप्सा के संयोग से हृदय में एक अयत्नज मिश्र-भाव की प्रतिष्ठा कर दी है। इस तरह संस्कार प्रेम, क्रोध, घृणा, द्वेष आदि सरल भावों के अतिरिक्त मिश्र-भावों की सृष्टि करते हैं। यह सही है कि संस्कारवाद जहाँ वर्जित अति तक पहुँच जाता है, वहाँ इसकी क्रिया भौतिक और यान्त्रिक हो कर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को हर लेती है। मनुष्य को केवल उसकी शिक्षा, उसकी आर्थिक दशा, उसके पूर्वजों की विचार और स्वास्थ्य-परम्परा का एक परिणाम दिखाना संस्कारों को स्थूल और भौतिक बना देना है, और तब उनका काव्यमय सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। किसी पौत्र के अस्वस्थ विचारों और दाम्पत्य जीवन की झिझक को उसके पितामह के उपदेश का परिणाम दिखाना विज्ञान के भीतर आता है, कला के भीतर नहीं। उसी तरह यदि आर्थिक व्यवस्था को भाज्य मान लें, और व्यक्ति की प्राप्त सुविधाओं को भाजक, तो उसके शील की लब्धि प्राप्त करना बच्चों का अङ्कगणित होगा। इसी तरह के स्थूल प्रारब्धवाद के हाथों में Kipps (Wells का एक पात्र) एक कन्दुक बन जाता है। Galsworthy के Loyalties में ऐसी ही वर्ग-निष्ठा का स्थूल आग्रह है। पर जहाँ प्रकृति का मधुर और शान्त अथवा भयानक और निष्ठुर श्रृङ्गार मूक प्राण-प्रवाह द्वारा मनुष्य का शील-निर्माण करता चलता है, वहाँ संस्कार-शील का रूप दिखाई पड़ता है। जहाँ शताब्दियों की समाधि में सोयी पूर्वजों के नैराश्य और करुण-विनाश की स्मृतियाँ भग्नावशेषों में वर्तमान हैं, वहाँ के वातावरण में पले व्यक्ति के शील में स्वभावतः ही प्रारब्ध की ध्रुवता की अनुभूति और तज्जन्य चित्त की विषादमयता रहेगी। हम एक विराट् सातत्य, एक रहस्यमयी विधातृशक्ति की कल्पना से एक ही साथ ऊँचा उठते और भय खाते हैं, साथ ही व्यक्ति की लघुता में एक उदात्त व्याप्ति और सर्वकालीनता का साक्षात्कार करते हैं। शान्ताराम के 'आदमी' नाम के चित्र में नायक वेश्या को वधू बनाकर लाता है। उसकी माता पूजा करनेवाली, भगवान के निकट सात्त्विक वैष्णव सरलता से भरे हृदय की उपासना में सदा लगी रहनेवाली वृद्धा है। ऐसे परिवार में माता के सान्निध्य से वेश्या-वधू के हृदय में अपने बीते जीवन की स्मृतियाँ जग जाती हैं और अतीत के संस्कार वर्त्तमान के निष्कलुष पूतस्नेह संस्कार से टकराते हैं और तब वर और वधू के हृदय की पीड़ा मर्म की चीज हो जाती है। संस्कार-प्रधान-शील स्मृति-प्रधान-शील है। स्मृति में ही अमरत्व, मनुष्य का शाश्वत व्यक्तित्व है। जहाँ कठिन, कँकरीली पहाड़ी भूमि पर व्यक्तित्व का पोषण होता है, वहाँ यदि शील में कुछ कठिनाई आ जाय तो यह उस मिट्टी में साहचर्य की युग-युग से चली आनेवाली स्मृति, या अपने ही जीवन-काल के बीते कालों की स्मृति से निर्मित होगी।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के सिंहरण में विनम्रता के साथ निर्भीकता का योग, चन्द्रगुप्त में पराक्रम के साथ उदारता और शील-माधुर्य संस्कार की देन हैं। प्राकृतिक मौलिकता की अवस्था में तिल अलग और चमेली अलग है, पर संस्कार का कैसा निराला सौंदर्य तिल की अन्तरात्मा में चमेली की गन्ध के बस जाने में है। एक आतंकवादी तथा साथ ही सिद्धान्तवादी पिता के परिवार में जो कलह, क्रोध तथा विस्फोट का वातावरण हो जाता है, उस वातावरण में पलते किसी सत्य-शील की दलित आत्मा यदि मिथ्या की शरण ले, फिर पिता की सिद्धान्तवादिता के प्रति आदर की भावना से उत्पन्न ग्लानि के कारण निर्भीकतापूर्वक दोष स्वीकार करे, और इसके बीच दण्ड आदि के प्राकृतिक भय, अपनी नीचता, और सत्य के प्रकट होने पर पिता की क्या दशा होगी, इसकी आशंका से उत्पन्न लज्जा आदि भावों के आपस में टक्कर होते चलें, तो शील का सौन्दर्य दसगुना बढ़ जायगा, जब कि भय और साहस के स्थूल चित्रण वाले शील में उतनी कोशिश नहीं होगी। ऐसा शील कर्म और वचन तक ही सीमित रह कर रूप-प्रधान बन जायगा। मूल्यों की भावना संस्कार-सापेक्ष है। संस्कारों से प्राण को धारणा भी मिल जाती है। कहीं-कहीं संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि प्रवृत्ति दब-सी जाती है। संस्कार-प्रबल शील में धारणाओं की हार्दिक अनुभूति और प्रभाव का सौन्दर्य देखने योग्य होता है—चाहे वह प्रभाव शिव हो या अशिव।

देश-भक्ति, वंश की मर्यादा का अभिमान ('प्राण जाइ बरु वचन न जाई' इसमें बुद्धि नहीं, प्रबल स्मृतियाँ हैं, जो हृदय की भावना बन गयी हैं), अपने महत्त्व को और दूसरों की विनम्र दासता को एक सरल न्याय के रूप में देखना ('टेढ़े-मेढे रास्ते' के ताल्लुकेदार और जमींदार रामानन्द तिवारी), शिक्षक की उपदेश देने और मान-सजग होने की प्रवृत्ति, हिन्दुस्तानी कचहरियों का रिश्वत को दस्तूरी कहना और यह सोचना कि वह मुवक्किल के साथ एहसान कर रहा है, और इधर मुवक्किल की भी उपकृत, अनुगृहीत मनोवृत्ति आदि संस्कार-शील के अन्तर्गत आयेंगे। कोई वेश्यापुत्र यदि अपनी बहिन के साथ किसी मद्यप को मनमानी करता देखे और उसके हृदय में उसी क्षण रोष उत्पन्न हो, तो शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक और सहज होगी। पर वही यदि शिक्षित और जागरित चेतना का व्यक्ति है और इस वृत्ति-मात्र की जघन्यता और गलित अभिमान-दयनीयता के साक्षात्कार से घृणा की जीवित कुम्भीपाक-अनुभूति करता, घुटता चले तो उसका शील अमोघ होगा।

जहाँ माता, पिता, नेता, भाई, स्त्री, मित्र अपने संस्कार हमें देते चलते हैं, वहाँ वे सभी गुरु हो जाते हैं। गुरु हमें स्मृतियों द्वारा द्विज बनाता है। संस्कार गोविन्द के नहीं, गुरु के होते हैं। कोई हताश बालक आहत पक्षी की भाँति गुरु की शरण लेता है और कहता है, 'गुरुदेव, मेरा जीवन निरर्थक है। लोगों ने कह दिया तुम विक्षिप्त हो और मेरी साधना छिन गई।' गुरु कहता है, 'कौन बेहूदा कहता है कि तुम अयोग्य हो? ईसा को भी उन्माद का रोग था। तुम अपने भविष्य की कल्पना शिखर से करो' और बालक की रीढ़ तन जाती है। प्रतिभा को सुप्त स्मृतियाँ जगमगा जाती हैं, और विश्वास के नाभिकुण्ड से निकला आशीर्वचन शील के पार्थ का सारथी बन जाता है।

मेरे एक मित्र बहुधा कहा करते हैं—'भई, राम में अविश्वास करना तो सम्भव हो भी सकता है पर 'रामचरितमानस' की भक्तिवाले गोस्वामी जी में अविश्वास करना तो मेरे बस की बात नहीं।' यह संस्कार-शील की उक्ति है। 'रामचरितमानस' पढ़ कर किसी में राम के प्रति भक्ति हो जाय, इस शील में स्वाभाविक भावुकता होगी, पर साक्षी के प्रति सत् से भी अधिक आस्था या आसक्ति उन मित्र के उस साहित्यिक संस्कार का सौंदर्य है, जिसके द्वारा वे काव्य में भाव और उसकी अभिव्यक्ति की सचाई के उदाहरणों में वर्षों से रमण करते चले आ रहे हैं। यह उक्ति बुद्धि की नहीं। यह एक ही साथ रसशील, स्वलक्षणशील और संस्कारशील का उदाहरण है।

रूपप्रधान शील से मेरा तात्पर्य उस शील से है जिसकी छवि हम केवल उसके रूप, कर्मों या वचनों की शारीरिक स्थूलता या बौद्धिक प्रवीणता के आधार पर बनाते हैं। रूप-प्रधान शील बाह्योन्मुखी होता है। दूसरी बात जो अधिक महत्त्व की है, वह यह कि ऐसे शील का निर्माण प्रकृति से, जन्म-मात्र से मिली वासनाओं या शक्ति-कोष से ही होता है। किसी रण-क्षेत्र में कोई योद्धा साहस से अनेक कर्म दिखाता है, किसी कूटनीतिक गत्यवरोध में कोई लाल-बुझक्कड़, शत्रु की वास्तविक शक्ति का सही अनुमान कर ऐसे-ऐसे दाँव-पेंच लगाता है कि विरोधियों को मुँह की खानी पड़ती है, तो ऐसे शील को रूप-प्रधान शील ही कहेंगे। अभिमन्यु गर्भ से ही व्यूह-भेदन का पण्डित हो कर निकला। पर, उसके व्यूह-विज्ञान के अद्भुत कौशल या उसकी मृत्यु में उतना करुण सौंदर्य नहीं, जितना गुरु, संबंधी, बंधु, गोत्रज आदि को सामने देख कर अर्जुन के धनुष-बाण धर देने में है। साधारण बात के लिए, आखेट के लिए मृगों का, पशुओं का वध करना क्षत्रियों के लिए कुछ बात नहीं। पर, गुरु के प्रति नतमस्तक आदर, श्रद्धा तथा अनुग्रह के जो संस्कार हृदय के नैवेद्य बन गए हैं, उनके सामने वैभव के सुहाग-शृंगार निःस्वाद ही नहीं अरुचि के वमन से मालूम होते हैं। अर्जुन का शील स्मृतियों का शील, अंतर का शील हो जाता है। रूप-प्रधान शील की प्रत्येक अभिव्यक्ति वर्त्तमान के 'तत्क्षण' की होती है। संस्कारशील की अभिव्यक्ति से हम व्यक्तित्व के जीवित अतीत और वर्त्तमान के संगम का साक्षात्कार करते हैं। यदि शील का कोई व्याकरण हो सकता है, तो हम कहेंगे कि वह संस्कार-शील व्यक्तित्व के भूत के तात्कालिक वर्त्तमान की योजना है। संस्कारशील में कोई आवश्यक नहीं कि सदा उसकी आकृति अन्तर के द्वंद्व या पेट के मरोड़ के रूप में रहे।

किसी मनुष्य के यहाँ फक्त चन्दे की आशा वाले कोई कौम के खादिम साहिब पहुँचते हैं। चंदे वालों के मारे वह परेशान है। उसे चन्दा का प्रस्ताव करनेवालों की सूरत से ही नफरत हो गई है। खैर, तो खादिम साहिब फरमाते हैं, 'मैंने आपकी बड़ी शुहरत सुनी है, हमें आपके इमदाद का भरोसा है',—और वे एक छपी रसीद उसके सामने रख देते हैं। वह झुँझला कर रसीद फेंक देता है और कहता है—'रास्ता नापिए'। पर, खिदमत के बन्दे खामोश कब होने लगे। आप भी कहते जाते हैं—'आपके पैसों से विधवाओं की परवरिश होगी—आप हिन्दू विधवाओं की हालत जानते हैं।' 'बस, बस, अब कहना बंद कीजिए, दीजिए रसीद।' और, वह पचास रुपये की रसीद ले लेता है। कारण, उसने अपने परिवार में विधवाओं की

दुर्दशा, उपवास, गाली, केश पकड़ कर घसीटे जाने आदि के दृश्य—देखे हैं और 'विधवा' नाम के प्रति, रूप सामने रहे या न रहे, उसके हृदय में करुणा का 'संस्कार' (मात्र का विवेक नहीं) बन गया है। उसके हृदय में यह द्वंद्व होता ही नहीं कि 'पैसे देता हूँ तो ठग को देता हूँ, नहीं देता हूँ तो विधवा के लिए कुछ नहीं किया। भटके से होने वाले इस काम में संस्कार या स्मृतियों की वह तीव्र-शक्ति है जो संस्कार-विहीन व्यक्तित्व में शायद रूप के साक्षात्कार पर भी न जगे। जैनेन्द्र की 'पत्नी' नामक कहानी की नायिका के शील का सौंदर्य संस्कारों की हार्दिक स्वीकृति में है। इसीसे पत्नी की आसक्ति और पीड़ा इतनी मार्मिक हो गई है। जौहर की परंपरा, लड़कियों के वध करने की प्रथा वंश-संस्कार की प्रबलता के उदाहरण है। पर, जहाँ जौहर की प्रथा पति के प्रेम से प्रेरित नहीं (और कोई आवश्यक नहीं कि पति की मृत्यु के बाद हर पत्नी के हृदय में साहचर्याभाव इतना खले कि मृत्यु सुखद मालूम हो) वहाँ वह आत्मरति या मान का रूढ़ रूप धारण कर लेती है, और रीति शिष्टाचार हो जाती है। जहाँ मान की यह भावना बड़ी ही उग्र होती है वहाँ संस्कारों का जीवित गौरव देखने में आता है, जिसके सामने जीने की प्राकृतिक वासना का कोई चारा नहीं। पूर्वजों और कुल के गौरव की स्मृति, भविष्य में नीच कहलाने की लज्जा—भविष्य भी संस्कार के अंतर्गत आता है पर अतीत के ही रंग में रँग कर—सती को लपटों की गोद में झोंक देगी। सती का जलने के पहले अभिसार-शृङ्गार, आग की सेज की भयंकर कल्पना को दबाता है। उसका उत्सर्गोन्माद संस्कारशील की सूक्ष्म मनोहरता के अन्दर आयेगा। संस्कार जहाँ हमें वज्रजड़ बना देते हैं—जैसे लड़कियों के वध में—वहाँ शील ऐसा लगता है मानों मनुष्य की स्वाभाविक या सामान्य प्रकृति का ही नाश हो गया। ऐसे निसर्ग-प्रणाश दोष से शील को मुक्त होना चाहिए जिसमें साधारणीकरण हो सके।

———

(क्रमशः)

प्रेमाभाव रोगोत्पत्ति का कारण

"देखा गया है कि बूढ़े लोग अपने नातियों को खिलाने में विशेष प्रकार की रुचि दिखाते हैं। वे इस प्रकार बच्चों का कल्याण तो करते ही हैं, अपने आपका भी वे कल्याण करते हैं। बच्चों के भाव उनके भावों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार वे बुढ़ापे के बोझ से बच जाते हैं। जो लोग अपने बुढ़ापे में बच्चों के साथ बातचीत करना और उनके खेलों में भाग लेना नहीं सीख लेते वे अपने जीवन को भार रूप बना लेते हैं। ऐसे लोग चिड़चिड़े हो जाते हैं। जिस व्यक्ति से बच्चे सहज भाव से आकर्षित नहीं होते वह भीतर से दुःखी मन का रहता है। बच्चों को आकर्षित करने के लिए, अपने अभिमान का त्याग करना नितान्त आवश्यक है और यह तभी होता है जब मनुष्य का मन प्रेम के भावों से पूरित रहता है। अभिमान मनुष्य को बाहरी बड़प्पन भले दे, मानसिक शान्ति नहीं देता। सभी प्रकार के रोगों का जन्म प्रेमाभाव और मानसिक अशान्ति से होता है। बच्चों के प्रति प्रेम मनुष्य को दूसरों का प्रिय बना देता है। इससे उसे अनायास शान्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रेम से मानसिक विभाजन का अन्त हो जाता है। इससे मानसिक आरोग्य की वृद्धि होती है।"

"बच्चों के प्रेम से मानसिक लाभ"—प्रो० लालजीराम शुक्ल, एम्० ए०

('अजन्ता', हैदराबाद, अक्टूबर १९५२)

गाँवों में कबीर

श्री नगेन्द्र कुमार, बी० ए०



दर्वाजे-दर्वाजे घूमनेवाले भाँट-भिखमंगों को समाज में उपेक्षित एवं नगण्य समझा जाता है। हम उन्हें मुट्ठी-भर भीख दे कर, अपने को दयालु, धर्मात्मा और सम्पन्न समझने लगते हैं। हमारे बीच कम ही ऐसे लोग हैं जिनका ध्यान भिखमंगों की विभूति की ओर जाता है। उनके पास कुछ ऐसी सम्पत्ति है जो केवल उन्हीं के पास है। गीतों को गा-गा कर भीख माँगने के उनके परम्परागत व्यवसाय ने हमारे ऐसे साहित्य को बचा रखा है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यों तो भाँटों के मुँह आप 'बगरो बसंत हैं' भी सुन सकते हैं। पर, इस वर्ग का विशेष महत्त्व, आल्ह-खण्ड और कबीर की रचनाओं को कंठगत कर, परम्परागत सम्पत्ति के रूप में, बचाये रखने के लिए है। जनता के बीच रामचरितमानस और सूरदास की रचनाओं को जो समादर प्राप्त है उसमें तो कोई शंका है ही नहीं, फिर भी जिस रूप में जनता के कंठ का हार बन कर कबीर की रचनाएँ जीवित हैं, उस तरह कम ही प्राचीन रचनाएँ आज तक रक्षित हैं। प्रस्तुत निबंध गाँवों में रक्षित कबीर की रचनाओं पर ही आधारित है।

कबीर गाँवों को नजदीक से जानते थे। उनका प्रवेश गाँवों की आत्मा की तह तक था। अपने मत का प्रचार उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा किया था। जनसाधारण में प्रचार के लिए जिस गँवारू भाषा की आवश्यकता थी, उसे ही कबीर ने ग्रहण किया। लेकिन कबीर ने अपने साहित्य के साथ केवल जन-भाषा का ही सम्बन्ध नहीं स्थापित किया था; उन्होंने अपने साहित्य को भी जन-प्रवृत्तियों के समीपतम पहुँचाने की चेष्टा की थी।

गाँव की एक साधारण-सी बात है। रात के अन्तिम प्रहर में गाँव के कुछ व्यक्ति जाग कर प्रभाती गाने लगते हैं। प्रभाती में एक अजीव आकर्षण है। लोग उठ कर खड़े भले न हों, पर जग कर बड़े ध्यान से प्रभाती की पंक्तियों का मनन करने लगते हैं। भोर का समय होने से चित्त स्थिर रहता है और प्रभाती, जिसमें सन्देशों की ही प्रमुखता रहती है, हमारे मन पर गहरा प्रभाव डालती है।

कबीर गाँव की इस मनोवृत्ति को पहचानते थे। उनके सामने भी जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव था। इसीलिए उन्होंने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए प्रभातियों की रचना की—यद्यपि अब गाँवों में कबीर की एक आध कड़ी ही लोग गाते हैं।

मैं बचपन से ही गाँव के पहरुए के मुँह से सुनता आया था—

'कंकड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा है,
ना घर मेरा ना घर तेरा पंछी लिया बसेरा है।'

मुझे यह भी पता लग गया था कि यह कबीर की रचना है। कालांतर में यह जिज्ञासा बनी रहती थी कि कबीर ने प्रभाती के रूप में अन्य रचनाएँ की हैं या नहीं। मेरी जिज्ञासा का समाधान इस बार घर पर हुआ।

लंबा चोला पहने, झोला लटकाए और हाथ में लालटेन लिए भिखमंगों का एक वर्ग मेरी ओर के गाँवों में मकई की फसल के महीनों में पहुँचता है। लोग इन्हें 'मौला के प्यारे' के नाम से जानते हैं। ये साल में एक बार ही आते हैं; दुबारा इनके दर्शन गाँववालों को नहीं होते। रात जब ढल जाती है तब लालटेन जलाकर ये गाँव के हरेक मुहल्ले में दो-दो, चार-चार के दल बाँध कर गाते हुए घूमते हैं। दिन में वे झोला फैला कर दर्वाजे-दर्वाजे घूमते हैं और अपना झोला भर कर ले जाते हैं। ये अपने को कबीरपंथी कहते हैं और कबीर की प्रभातियाँ गा-गाकर कबीर का सन्देश गाँवों में साल में एक बार पहुँचा आते हैं।

इनके पदों में बहुत बड़ा दोष यह है कि उनका शुद्ध रूप नहीं मिलता और कहीं-कहीं तो एक-आध पंक्तियां ही गायब रहती हैं। कबीर का नाम भी इन रचनाओं में प्रायः नहीं मिलता। हां, उनके सिद्धांत इन पदों में साफ झलकते हैं।

अब यहाँ कुछ प्रभातियाँ नीचे दी जाती हैं, जिन्हें मैंने इन मौला के प्यारों से पूछ-पूछ कर संगृहीत किया है—

'खासा जायगा, मलमल जायगा, जायगा साल-दुसाला।
मौला बनाया सूरत जायगा, जंगल होगा बासा।
हो मौला के प्यारे कोई सौदा रब का कर लो जी।
कोई ओढ़े खासा मलमल, कोई साल-दुसाला।
बसा सिकन्दर ओढ़े पटम्बर फिर मिट्टी का आसा।
हो मौला के प्यारे कोई सौदा रब का कर लो जी।'

दुनिया की सारी सम्पत्ति नश्वर है। आज जहाँ नगर है कल वहाँ वीरान हो जाएगा। जंगल वासस्थान बनेगा। धनी से धनी व्यक्ति को भी अन्त में मिट्टी की ही शरण लेनी है। इसीलिए कबीर ईश्वर के प्यारों को प्यार का सौदा करने की सलाह दे रहे हैं। यह सत्य नीचे की पंक्तियों में और भी स्पष्ट है—

'क्या लेकर आये हो बंदे, क्या लेकर जाओगे
मुट्ठी बाँधे आये बन्दे, हाथ पसारे जाओगे
प्रेम नगर की हाट लगी है ग्राहक है बहुतेरा।
उठ गइ हाट बिसर गये लोग हंसा चला अकेला।
हो मौला के प्यारे दुनिया मौला का नाम लो प्यारा जी।'

न आदमी कुछ लेकर आया है और न कुछ लेकर जाएगा ही। दुनिया तो प्रेम का बाजार है। इस बाजार में केवल तुम्हीं नहीं आए हो, बहुत ग्राहक आए हैं। सौदा ले लो, नहीं तो बाजार उठ जाने पर आत्मा (हंसा) अकेली चल देगी।

कितने मार्मिक शब्दों में उन्होंने संसार की नश्वरता को नीचे की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—

खाओ-पिओ धन-भोग विचर लो, कर लो मन का सौदा
पंछी बोले, रहा मुसाफिर थोड़े दिन का आसा।

'पंछी बोले' लिख कर उन्होंने मौत के इशारों को कितना सुन्दर रूप दिया है!

जौ लगि तेल, दिया घर बाती, तौ लगि जग उजियाला है।
जलि गये तेल निमर गय बाती छूटा जग से नाता है।
मौला मालिक आप खयाली कली-कली कर जोरा जी
कच्ची-पक्की का मरम न जाने, मनमाना सो तोरा जी।
हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।

यह देह दिया है, आत्मा तेल। जब तक तेल है तभी तक दिया का प्रकाश है। आत्मा ज्योंही शरीर का त्याग करती है, संसार से नाता टूट जाता है। भगवान् कली-कली को देखता है। पर वह कच्ची और पक्की कलियों का भेद नहीं मानता। उसके जी में जिसे तोड़ने की इच्छा होती है उसे तोड़ लेता है। फिर जीवन का क्या भरोसा! इसीलिए कबीर मौला का नाम जपने को कहते हैं।

यहाँ हम कबीर की एक विशेषता पाते हैं। कबीर जानते थे कि भोर में जनसाधारण भगवान् का नाम लेकर उठता है। इसीलिए उन्होंने भी भगवान् का नाम लेने को ही कहा। ऐसे उपदेश से जनसाधारण यह सोचने लगता है कि कबीर हमारे मन की बात ही कहते हैं। एक बार जब यह धारणा लोगों के मन में स्थिर हो जाती है, तो कबीर को उन पर अपने उपदेशों का रंग चढ़ाने में सुविधा होती है। उसके बाद प्यार का सौदा, संसार की नश्वरता, कबीर का निर्गुण तत्त्व आदि जनता के मनन के विषय बन जाते हैं। कबीर पत्थर की पूजा की भर्त्सना, मन की श्रद्धा और दया का महत्त्व, गहरी नदिया आदि सब को जनसाधारण के सामने उपस्थित करने लगते हैं:—

पत्ती तोड़ पथल को पूजा दे चावल छिटकाया!
दया धरम का मरम न जाने कैसा धरम तुम्हारा।
गहरी नदिया नाव पुरानी, खेवनवाले मौला।
घर में थे सो पार उतरि गे पापी गिरा बिचधारा।
हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।
दादे आदम बाग लगाया, फूल रही फुलवारी।
कच्ची कलियाँ तोड़ मँगाया लाद चला व्यापारी।
हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।
नवचक चोला हुआ पुराना, कब तक सीये दरजी।
मौत पकड़ ले जायगा, कुछ न सुनेगा अरजी।

हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।
मट्टी ओढ़न मट्टी पहिरन मट्टी का सिरहाना।
मट्टी का कलबूद (देह) बना है उसमें पवन लुभाना।
हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।

कबीर की इन प्रभातियों में हम देखते हैं कि संसार की नश्वरता पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। संसार कुछ नहीं है, मायामात्र है। जनसाधारण में जीवन के प्रति ये विचार, जीवन के संघर्षों से पलायन का सन्देश नहीं सुनाते। कबीर घोर यथार्थवादी थे-इतने कि मन्दिरों और मस्जिदों के कंकड़-पत्थर से चक्की को अधिक महत्त्व देते थे। उनके निर्गुणवादी विचार तो केवल भटकते हुए जीवन की ओर इशारा भर करते हैं। जीवन के दिन गिने-गुँथे हैं, इसलिए संसार में कुछ कर के जाना चाहिए। जाने के बाद तो दुनिया में यश और अपयश ही हमारी याद बनाये रखते हैं। इस तथ्य को नीचे की पंक्तियों ने कबीर ने स्पष्ट किया है—

साथ न जायगा दौलत, दुनिया सम्पत माल खजाना।
दिया लिया ही संग चलेगा नेकी नाम-निसाना।
हो मौला के प्यारे दुनिया कोइ सौदा रब का कर लो जी।
हो मौला के प्यारे दुनिया, लो मौला का नाम प्यारा जी।

ऊपर उद्धृत इन प्रभातियों की एक अपनी विशेषता है। कबीर की शैली यहाँ पर आ कर बदली दीखती है, जो वस्तु के अनुरूप ही है। कबीर की शैली को लाठीमार शैली समझनेवालों को यहाँ निराशा होगी। प्रभातियों में कबीर अगर आलोचकों की शैली अपनाते तो सारा मजा किरकिरा हो जाता। यहाँ तो कबीर एकदम शांत भाव से सबेरे-सबेरे उठ कर भगवान् का नाम ले रहे हैं और दुनिया को भी भगवान् का नाम लेने को कह रहे हैं। वे दुनिया को प्यार का सौदा करने की सलाह दे रहे हैं, जिसके सिवा कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

भाषा की दृष्टि से एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कबीर के पहले या बाद लोग क्षेत्रीय भाषाओं में रचना करते थे—चाहे वह अवध की हो, चाहे व्रज की या मिथिला की। किन्तु कबीर की भाषा के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह किस क्षेत्र की है। वस्तुतः कबीर की भाषा में समूचे देश की एक भाषा, खड़ी बोली, की परम्परा जन्म ले रही थी। इन प्रभातियों में यह परम्परा जितनी दृढ़ दिखती है, कबीर के काल में उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। कबीर के बहुत दिनों बाद खड़ी बोली का सुव्यवस्थित प्रारम्भ हुआ, पर उसका पूर्वाभास हमें कबीर में ही मिल जाता है।

हम जानते हैं कि कबीर भाव की दृष्टि से समय से बहुत आगे थे, पर इन प्रभातियों को देख लेने से यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि उनकी भाषा भी समय से बहुत आगे थी।

———

साहित्य और दर्शन

प्रो० रामखेलावन पाण्डेय, एम्० ए०

◆

साहित्य और दर्शन का अटूट सम्बन्ध है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु साहित्य न तो परम्परागत बौद्धिक दार्शनिक मतवाद है और न दर्शन साहित्य। दार्शनिक साहित्योचित भाषा और प्रणाली का प्रयोग करता है और साहित्य के वास्तविक मूल्यांकन के लिए तत्कालीन दार्शनिक चिन्ता और संस्कार की अपेक्षा होती है। साहित्य और दर्शन के पारस्परिक-सम्बन्ध-निर्णय में दोनों के विस्तार और सीमा का ज्ञान अपेक्षित होगा। इन दोनों का सहयोग और सम्पर्क साधारण नहीं। साहित्य और दर्शन का सम्बन्ध मानव-जीवन से है; अतः जीवन और उसकी समस्याओं और समाधानों का विवेचन इनमें होता रहा है।

प्रारम्भिक युगों में ज्ञान के क्षेत्रों की सीमाएँ मिली-जुली थीं, धर्म; आचार, नीति, राजनीति, विज्ञान और दर्शन परस्पर सम्बद्ध थे। ज्ञान के विकास के साथ-ही-साथ इनकी सीमाएँ स्पष्ट और निर्धारित होने लगीं; और प्रत्येक विषय को अन्य सम्बन्धों से विच्छिन्न करके देखने का प्रयास होता रहा। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह अपेक्षित था। अपेक्षाकृत आधुनिक काल में ज्ञान के क्षेत्रों का संश्लेषण प्रारम्भ हो गया है। ऐसी अवस्था में साहित्य के विद्यार्थी के लिए इतिहास, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अन्य विज्ञानों का ज्ञान आवश्यक है। यह कोई आवश्यक नहीं कि इन सभी क्षेत्रों में उसका अधिकारपूर्ण प्रवेश हो। वह सभी विषयों का निष्णात विद्वान् और विशेषज्ञ नहीं हो सकता, किन्तु इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा ही कि आलोचक की यह आवश्यक शिक्षा होगी।

विषय को पूर्णतया और उचित भूमिका में समझने के लिए दर्शन और साहित्य दोनों की परिभाषाओं पर विशेष रूप में ध्यान देना पड़ेगा। परिभाषाएँ पूर्ण नहीं होतीं किन्तु वे अध्ययन और विवेचन के लिए उपयुक्त आधार अवश्य उपस्थित करती हैं। 'दर्शन' शब्द का तात्पर्य वह तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी विद्या या शास्त्र है जिसमें प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जगत् के नियामक धर्म और जीवन के अन्तिम लक्ष्य आदि का निरूपण रहता है, सृष्टि के व्यक्त स्वरूप और नानात्व की विवेचना के साथ एकता की स्थापना ज्ञान का विषय रही है। 'जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्विक ज्ञान जानो।'† दर्शन का अर्थ तत्त्व ज्ञान, अध्यात्म अथवा ब्रह्म-जिज्ञासा लिया जाता रहा है। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने दर्शन को 'आन्वीक्षिकी विद्या'* और

---

† सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ [गीता—१८।२०]

* आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता। [अर्थशास्त्र १।२]

अन्य ज्ञानों का प्रदीप* कहा है। आन्वीक्षिकी विद्या का तात्पर्य अन्तर्दर्शन और सूक्ष्म ज्ञान है। ऐसी अवस्था में दर्शन केवल अध्यात्मवाद का पर्यायमात्र नहीं। मनु के इस कथन के अत्यन्त समीप यह कथन है—'दर्शन मानवीय ज्ञान की सभी शाखाओं में प्रमुख है और वास्तविक अर्थ में यही ज्ञान है। अन्य (मानवीय) विज्ञान दर्शन के विषय हैं। कारण, यह इनका नियमन और निर्णय करता है और इनकी स्वीकृतियों की प्रतिवादियों से रक्षा करता है।' † सम्भवतया दार्शनिकों से लोगों का तात्पर्य वैसे व्यक्तियों से रहता है जो जीवन और जगत् का तिरस्कार कर एकान्त में आध्यात्मिक तत्त्व-चिंतन में लीन रहते हैं। यूनानी चिंतकों की दृष्टि में और प्रचलित पाश्चात्य धारणा के अनुसार दर्शन का अर्थ विद्या का अनुरागमात्र रहा है; ऐसी अवस्था में बौद्धिक क्रिया जीवन का सम्पर्क खो बैठती है। बौद्धिक विलासमात्र दर्शन नहीं। कुछ लोगों की दृष्टि में दर्शन का यही मूलभूत स्वरूप है। कलाकार रूढ़ और शास्त्रीय अर्थ में दार्शनिक नहीं है और न हो सकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—'मेरा धर्म वास्तव में कवि का धर्म है। मेरे संगीत की प्रेरणा जिस अज्ञात और अलीक स्रोतों से आती है, उन्हीं से इसका स्पर्श प्राप्त होता है। काव्यगत जीवन का विकास जिस रहस्यात्मक रूप में हुआ है, उसी रूप में मेरे धार्मिक जीवन का। किसी प्रकार दोनों अविच्छिन्न सूत्र में बँधे हैं, यद्यपि अवधि लंबी और मुझसे अज्ञात रही।'*

तर्कमूलक तत्त्वज्ञान और औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का महत्त्व दर्शन-शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। दर्शन-शास्त्र की शास्त्रीयता से भिन्न दार्शनिक चिन्ता-धारा का अनुक्रम है। दर्शन का सम्बन्ध मानव जीवन से है, अतः जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इसकी विवेचना-परिधि में आता है। इस प्रकार दार्शनिक चिन्ता जीवन और जगत् के बिखरे और विच्छिन्न नानात्व में एकत्व स्थापित करती है। जीवन की एक-देशीय व्याख्या और व्यवस्था समस्या का सुचारु हल नहीं हो सकती। सम्यक् दृष्टि के लिए विकास-क्रम के सभी आवश्यक उपादानों पर विचार करना पड़ता है। मानव-जीवन पूर्णतया सत्य है, अद्वैतवादियों की दृष्टि में भले ही यह विवर्त्त और माया का फल जान पड़े। जीवन के विकास-क्रम में समस्याएँ आती हैं, उनका हल मनुष्य चाहता रहा है। दर्शन सजीव और प्राणवंत चेतना है, जीवन का दृष्टिकोण है, समग्रता का प्रतीक है। दर्शन हमारे विचारों और संकल्पों, एषणाओं और आस्थाओं के संतुलित आधार का अन्वेषण करता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है—'साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का ही

* प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

†Philosophy is the highest of all branches of human knowledge and is in the true sense wisdom. The other (human) sciences are subject to philosophy in the sense that it judges and governs them and defends their postulates. Philosphy on the other hand is free in relation to the sciences.—Maritain jacques : An Introduction to Philosophy.

*Contemporary Indian Philosophy पृ०—३३

मिलना नहीं है, वल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है।'

भामह ने काव्य की व्यापकता के सम्बन्ध में कहा है—'ऐसा कोई शब्द नहीं, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नहीं, कला नहीं जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।'

काव्य के लक्षणों की जो व्याख्या-विवेचना होती रही है उसका जीवन के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दीखता, किन्तु व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने पर जीवन की अवहेलना नहीं की गई है। काव्य 'रसात्मक वाक्य' है अथवा 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द?' रमणीयता अथवा रसात्मकता सापेक्ष है, मानवीय वासना और संस्कार, रुचि और भावना की भूमिका में इन्हें देखना चाहिए। इनकी अभिव्यक्ति जिन प्रतीकों के माध्यम से होती रही है, उनके विकास-क्रम का इतिहास जीवन-विकास का आधार-संकेत है। सांस्कृतिक चेतना के इस आधार-स्वरूप इनकी विवेचना साहित्य में नहीं हुई है। 'साधारणीकरण' को भी इसी अनुबन्ध में देखना होगा। 'साधारणीकरण' वास्तव में उन प्रतीकों और माध्यमों का होता है जिनके द्वारा अनुभूति और विचारों की अभिव्यक्ति होती है। युग-विधायक कवि का महत्त्व प्राचीन माध्यम के नवीन स्वरूप-विधान में लक्षित होता है, जिसमें नवीन प्रतीकों द्वारा भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति का आवेश है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ, मीरा और महादेवी, शैली और एलियट के स्वरूप-विधान की विवेचना इसे स्पष्ट रूप देगी। शुक्ल जी के शब्दों में—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।'[1] 'मनुष्य की···कविता कहते हैं'—आचार्य शुक्ल के इस कथन का तात्पर्य अभिव्यक्ति से है। कला अभिव्यक्ति द्वारा ही अपना स्वरूप-विधान करती है।

अभिव्यक्ति का माध्यम सामाजिक है। कलाकार इस माध्यम को नई क्षमता और समर्थता देता है। भाषा और विधान केवल कवि की अनुभूति और विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम नहीं, बल्कि पाठकों तक अक्षुण्ण रूप में पहुँचाने के माध्यम भी हैं। भाषा जहाँ एक ओर अभिव्यक्ति का माध्यम है, वहाँ भावना और विचारों की सीमा भी। 'हृदय की मुक्तावस्था' में जीवन को क्षुद्र स्वार्थों, अहंभावना और साधारण आवश्यकता-पूर्ति से विच्छिन्न करके देखने का प्रयास है, उससे 'पलायन' करने की मनोवृत्ति नहीं। काव्य के चार उपकरण स्वीकृत हैं, भावात्मक तत्त्व, बुद्धितत्व, कल्पना-तत्व और स्वरूप-विधान। इनमें समग्र जीवन के आग्रह का अभाव नहीं। व्यक्ति की भावात्मकता, बौद्धिकता और कल्पनात्मकता के विकास के मूल में उसका जीवन ही है। 'प्रसाद' ने लिखा है—आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, जो मानव-ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी, प्रवाहित रही। काव्य की धारा लोक-पक्ष से मिलकर अपनी आनंद-साधना में लगी रही। यद्यपि शास्त्रों की परम्परा ने आध्यात्मिक विचार का महत्त्व उससे छीन लेने का प्रयत्न किया, फिर भी अपने निषेधों की भयानकता के कारण, हृदय के समीप न होकर वह अपने शासन में

१ चिंतामणि।

रूप ही प्रकट कर सकी।'[२] आध्यात्मिक शब्द को यदि उसके विस्तृत अर्थ में देखा जाय तो साहित्य दर्शन से अधिक भिन्न नहीं रह जाता। मानव-जीवन से वैयक्तिक जीवन का सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन और प्रकृति से सम्बन्ध समझना चाहिए। साहित्यकार इस सम्बन्ध को कलात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देता है। न्यूमैन के अनुसार साहित्यकार प्रतिनिधि है और उसकी वाणी में युग की भावना, अनुभूति और निर्णयात्मक संकेतों की व्याख्या रहती है।[१] कलाकार, इस प्रकार, वह व्यक्ति है जो एक ओर कलात्मक सृष्टि करता है और, दूसरी ओर, अपने समान विचार रखनेवाले व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है।

दार्शनिक मतवाद का आग्रहपूर्ण आरोप साहित्य को अक्षुण्ण नहीं रहने देता। साहित्यकार की सफलता कलात्मक आवेश में हैं। कालिदास, रवीन्द्रनाथ, दान्ते, शेक्सपीयर और तुलसीदास का महत्त्व दार्शनिकता के बौद्धिक आरोप के कारण नहीं, अपितु उन आस्थाओं, मान्यताओं और चिंताओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में है जिसे प्रसाद 'हृदय की समीपता' के रूप में स्वीकार करते हैं। काव्य यदि जीवन की अभिव्यक्ति है तो वह जीवन के सत्यों और तथ्यों की अभिव्यक्ति है। इस अर्थ में जीवन की अनुभूति और ज्ञान आवश्यक है।

सत्य की उपलब्धि वैज्ञानिक प्रक्रिया के फलस्वरूप है। प्रातिभ ज्ञान द्वारा सत्य की उपलब्धि का आवेश कलाकार की मान्यता है। दर्शन की शास्त्रीयता कलाकार का दर्शन नहीं है किन्तु अर्थशास्त्र की आन्वीक्षिकी विद्या और साहित्य की व्यापकता में अभेदकत्व है।

प्रणाली और प्रक्रिया की भिन्नता के कारण दोनों नितांत भिन्न नहीं। दार्शनिक मतवाद का प्रचार ही साहित्य द्वारा नहीं हुआ है, बल्कि दार्शनिक मतवादों से साहित्य अनुप्राणित भी होता रहा है। आदर्शवाद, यथार्थवाद आदि दर्शन के क्षेत्र से आए हैं, जिनकी साहित्यिक व्याप्ति में अभी तक मत-भेद है। दार्शनिक क्षेत्र का निरपेक्षवाद ही कला की निरपेक्षिता स्वीकृत करने वाला 'कलावाद' बन गया है। दार्शनिक अमृत-तत्त्व जीवन की आनन्द-धारा में निमज्जित होता हुआ काव्यात्मक 'रसवाद' बना। अद्वैतवाद की साहित्यिक परिणति अभिनवगुप्त की व्यञ्जना शक्ति है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की विवेचना पर अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत का प्रभाव है। काव्यात्मक रमणीयता वस्तु-गत मूल्य की समर्थिका है। इसी प्रकार साहित्यिक रमणीयता ने दार्शनिक अभिव्यक्ति को रम्यता और काव्यात्मकता प्रदान की है, उसकी कल्पना को भावावेश और सजगता दी है। सीमाएँ विभिन्न हैं, किन्तु दोनों का अन्तरावलम्बन चेतना की जागरूक प्राण-धारा है।

---

२ काव्य और कला पृ० ६३।

1 Literature consists in the enunciation and teachings of those who have a right to speak as the representative of their kind, and in whose words their brethren find an interpretation of their own sentiments, a record of their own experience and a suggestion for their own judgments. Newman, J. H., The Idea of a University, part 2

कालिदास

श्री व्रजविहारी शरण

[१]

भारत के श्रेष्ठ कवियों के शिरोमणि, महाकवि कालिदास ने आर्यपरम्परा के अनुसार, अपने विषय में एक बात भी नहीं लिखी। सैकड़ों वर्षों से संस्कृत साहित्य के भारतीय और विदेशी प्रेमी इस प्रयत्न में लगे हैं कि उनके विषय में हमारा ज्ञान कुछ और बढ़े, परन्तु अभी तक उनके समय, जन्म-स्थान, निवास-स्थान, जीवन, चरित्र आदि विषयों में न तो कोई नई बात मालूम हुई है, और न ज्ञात बातों पर ही सभी एकमत हो पाये हैं। भारतीय किंवदन्तियों और प्रचलित विश्वासों के अनुसार, कालिदास, किसी 'विक्रमादित्य' नामक राजा के दरबार के एक रत्न थे। यह भी कहा जाता है कि उस 'विक्रमादित्य' की सभा में, नौ विख्यात, साहित्य, कला, और विज्ञान के पारंगत पुरुष थे, जिन्हें 'रत्न' की उपाधि मिली थी। कालिदास भी उन्हीं में से एक थे। निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु—
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

(विक्रम की सभा के ये नवरत्न थे—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि।)

आधुनिक विद्वानों ने इस श्लोक को अप्रामाणिक माना है और उनकी धारणा है कि किसी ने बहुत बाद में, किंवदन्तियों के बल पर, बहुत आगे-पीछे के विख्यात मनुष्यों को एक साथ जोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, सोमदेव के 'कथासरित्सागर' से मालूम होता है कि वररुचि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के पहले हुए थे, और 'बृहत्कथा' का समय, गुप्तों के राज्य-काल के कम से कम सौ वर्ष पहले माना जाता है। वराहमिहिर का समय, कालिदास के पीछे प्रमाणित हुआ है। धन्वन्तरि के विषय में कुछ मालूम नहीं है। धन्वन्तरि देवताओं के वैद्य का भी नाम था। इसी तरह अमरसिंह को छोड़ कर सभी नामों के विषय में सन्देह है।

यद्यपि उपर्युक्त श्लोक अप्रामाणिक है, फिर भी कालिदास की रचनाओं में ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि उनका किसी 'विक्रमादित्य' नामक राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में 'विक्रमादित्य' का स्पष्ट उल्लेख है—'...विक्रमादित्यस्य...

भिरूपभूयिष्ठा परिषत्...' (विक्रमादित्य की बड़े विद्वानों से भरी सभा)। इतना होने पर भी कालिदास के समय का निर्णय नहीं हो पाया है, क्योंकि राजा विक्रमादित्य के विषय में भी अनेक विचार प्रचलित हैं। परन्तु विद्वानों की दो ही मुख्य श्रेणियाँ हैं—एक, जो कालिदास को, विक्रम सम्वत् चलाने वाले विक्रमादित्य का समसामयिक बताती है, और दूसरी, जो उन्हें गुप्तवंश के प्रसिद्ध द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समसामयिक बताती है। पहली के अनुसार कालिदास का समय होगा ईसा पूर्व पहली शताव्दी, और दूसरी के अनुसार वह समय ईसा के बाद चौथी-पाँचवीं शताव्दी होगा। इस वाद-विवाद से यहाँ मतलब नहीं; इतना ही पर्याप्त है कि अभी तक ईसा पूर्व ५७ वर्ष के लगभग किसी प्रतापी विक्रमादित्य राजा के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिला है और इसीलिए अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

कालिदास के समय के विषय में इतना भी तो मालूम है! किन्तु उनके निवास-स्थान, जन्म-स्थान, कुल, परिवार, चरित्र आदि आवश्यक विषयों पर तो कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता। ऐसे तो अनेक दन्तकथायें हैं: एक कथा तो उन्हें निपट मूर्ख बताती है, और उनकी सब कृतियों का यश उनकी स्त्री को देती है, क्योंकि उसीके तिरस्कार के कारण वे शिव की पूजा करते हैं और वर पाते हैं। परन्तु इन दन्तकथाओं पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उनकी रचनाओं के अध्ययन से हम इतना ही कह सकते हैं कि (१) उनका सम्बन्ध राजा विक्रमादित्य से था; (२) उनकी प्रीति उज्जयिनी पर बहुत थी (पूर्व मेघ २७-४२, रघु० ६-३२-३४); सम्भवतः वे वहीं के रहनेवाले थे; (३) उनका जीवन सुख से कटा, क्योंकि उनके लेखों में वह दर्द नहीं है जो दुखी हृदय से निकलता है—जैसे भवभूति के; और (४) वह पूर्ण विद्वान थे। राजदरबार से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा, क्योंकि उन दरबारों की सभी रीतियाँ वे भलीभाँति जानते हैं। वे भारत के सभी प्रदेशों में घूमे और रहे होंगे क्योंकि वे जहाँ का भी वर्णन करते हैं, ठीक और प्रत्यक्ष-सा करते हैं। उदाहरणार्थ, 'कुमारसम्भव' में हिमालय का वर्णन, रघुवंश के चौथे और छठे सर्गों में भारत के सभी प्रदेशों का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक विवरण देखे जा सकते हैं। इन्दुमती के स्वयम्वर के वर्णन में (रघु० सर्ग ६) वे सभी राजाओं में प्रथम स्थान मगध के राजा को देते हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि उनके समय में मगध ही सर्वश्रेष्ठ था और सम्भवतः उनकी जीविका उसी साम्राज्य से चलती थी। उन्होंने मगध की साधारण प्रशंसा नहीं की है—

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिं
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥

(ये परन्तप नामक मगध के राजा हैं, जिन्होंने प्रजा का रञ्जन करके ख्याति पाई है, शरण के इच्छुकों को शरण दी है, अपने नाम—परन्तप—को (शत्रुदमन करके) यथार्थ बनाया है और जिनका स्वभाव अत्यन्त गम्भीर है, (इस पृथ्वी पर) भले ही सहस्रों दूसरे

नृप हुआ करें, किन्तु पृथ्वी इन्हीं के कारण 'राजन्वती' (राजा से शोभनेवाली) कहाती है, जैसे नक्षत्रों, तारकों और ग्रहों से भरी हुई रात्रि केवल चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती कहाती है।)

उपर्युक्त उद्धरण को जब हम चतुर्थ सर्ग में दी हुई रघु की दिग्विजय-यात्रा के साथ पढ़ते हैं, तो यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि गुप्तों के साथ कालिदास का उनके अभ्युदय के दिनों से ही सम्बन्ध था, क्योंकि उस यात्रा का वर्णन पढ़ने पर समुद्रगुप्त की दिग्विजय और दिल्ली के लौह-स्तम्भ पर खुदी हुई उनकी प्रशस्ति स्मरण हो आती हैं। इन दो बातों के कारण कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास, समुद्रगुप्त के विख्यात पुत्र, द्वितीय चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य के सम-सामयिक थे। यह कुछ अन्य तथ्यों से अधिक दृढ़ होता है। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य के पुत्र का नाम था कुमारगुप्त। उनका राज्य-काल था ४१३ ई० से ४५५ ई० तक। रघु के पुत्र, अज, के जन्म के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद मिलता है—'कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्' (कुमार के समान कुमार को जन्म दिया)। कहा जाता है कि यह कुमारगुप्त के जन्म की ओर संकेत है। फिर 'कुमारसम्भव' शीर्षक में कार्त्तिकेय के स्थान पर 'कुमार' शब्द के व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास का संकेत किसी विशिष्ट कुमार की ओर है।

विद्वानों की राय है कि कालिदास की सब से पिछली कृतियाँ 'रघुवंश' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' हैं। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में विक्रमादित्य के दरबार का स्पष्ट उल्लेख और 'विक्रमोर्वशीय' में विक्रम की ओर स्पष्ट संकेत है। यदि 'विक्रमोर्वशीय' कालिदास की युवावस्था की कृति और 'शाकुन्तल' और 'रघुवंश' उनकी प्रौढ़ावस्था की कृतियाँ हैं, तो हमें मानना पड़ेगा कि कालिदास का समस्त जीवन विक्रमादित्य के ही राज्य-काल में बीता। यह राज्य-काल ई० ३८० से ४१३ तक प्रमाणित हुआ है।

संसार के सभी साहित्य परखने वालों की धारणा है कि कालिदास संस्कृत-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार हैं। जर्मनी का श्रेष्ठ कवि गेटे (Goethe) तो 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' पढ़ कर इतना प्रभावित हुआ कि उसने लिखा—'क्या तुम वर्ष के आरम्भ के पुष्पों और उसके अवसान के फलों को, और, जिनसे आत्मा मुग्ध, उल्लसित, तृप्त होती है उन सभी पदार्थों को चाहते हो? क्या तुम स्वर्ग और पृथ्वी को एक ही नाम में मिला देना चाहते हो! ऐ शकुन्तला, मैं तेरा नाम लेता हूँ और सभी कहना एक ही साथ समाप्त हो जाता है।'

समालोचकों के एक दल की दृष्टि में कालिदास ने तो भवभूति के समान भावों की गंभीरता अंकित की न शेक्सपियर के समान जीवन के संघर्षों और मानवता की विरोधी प्रवृत्तियों के समक्ष विवशताओं और सत्प्रयत्नों की निष्फलताओं का ही चित्रण किया। इस दल की राय में कालिदास का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। मध्यकालीन समालोचक, संस्कृत कवियों की परस्पर तुलना करके, निम्नलिखित सिद्धांत पर पहुँचे हैं—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

'कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव और नैषध का (श्रीहर्ष-रचित) पदलालित्य (श्रेष्ठ है)। माघ में तीनों गुण हैं।'

इस श्लोक पर विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि इन समालोचकों की कितनी संकुचित दृष्टि थी और वे केवल बाहरी रूप को ही कविता का सार समझ बैठे थे, क्योंकि ऊपर के तीनों गुण तो कविता के अलंकार हैं, कविता का सार तो रसोत्पादन और भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति में है। इस दृष्टिकोण से देखकर, आधुनिक विद्वानों ने भारत के कवियों और नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ पद कालिदास को ही दिया है। कालिदास की कविताओं को पढ़ने से ही इस बात की पुष्टि हो जाती है। यही दिखाने का प्रयत्न प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य है।

[२]

कालिदास की रचनाओं के विषय में अत्यधिक मतभेद है। कालिदास की ख्याति के कारण पीछे के अनेक कविलांछनों ने अपनी दुष्कृतियों पर उनके नाम की मुहर लगाने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनको विलग करने में कोई कठिनाई नहीं होती। सभी विद्वानों ने एकमत हो कर निम्नलिखित रचनाओं को ही उनकी लिखी मानी हैं—१. ऋतुसंहार, २. कुमारसम्भव, ३. रघुवंश, ४ मेघदूत, ५. मालविकाग्निमित्र, ६. विक्रमोर्वशीय, और ७. अभिज्ञान-शाकुन्तल। आगे बताये हुए ग्रंथों के विषय में मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये पुस्तकें उनकी लिखी हुई नहीं हैं, परन्तु कुछ लोग विपरीत मत के ही समर्थक हैं। ये पुस्तकें हैं—१. श्रुतबोध, २. शृङ्गार-तिलक, ३. शृङ्गार-रसाष्टक, ४. सेतु-काव्य, ५. कर्पूरमंजरी, ६. पुष्पबाण-विलास, ७. श्यामलादण्डक, ८. प्रश्नोत्तर-माला, और ९. ज्योतिर्विदाभरण। इनमें से पाँच से नौ संख्या तक की रचनायें स्पष्ट ही अनाड़ियों की लिखी हैं। कालिदास की प्रामाणिक पुस्तकों में ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, रघुवंश और मेघदूत काव्य हैं; मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक हैं।

ऋतुसंहार कालिदास की पहली कृति समझी जाती है। यद्यपि उसकी रचना अप्रौढ़ है, परन्तु जिन गुणों की पूर्णता मेघदूत आदि काव्यों में और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक में पाई जाती है, और जिनके लिए कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, वे सभी इस काव्य में बीज रूप में पाए जाते हैं। षट् ऋतुओं का वर्णन सजीव, रोचक और युवावस्था के अनुकूल शृंगार रस से भरा है। प्रकृति का वर्णन, जिसमें कालिदास पीछे अद्वितीय हो गये, अपने भावी गौरव का संकेत करता है। जैसे काव्यों में ऋतुसंहार प्रथम समझा जाता है वैसे ही नाटकों में मालविकाग्निमित्र। परन्तु काव्यों और नाटकों का परस्पर अनुक्रम बताना कठिन है।

[३]

ऋतुसंहार छै सर्गों का, और मेघदूत दो खण्डों का, खण्ड-काव्य हैं। ऋतुसंहार के प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन है। प्रथम सर्ग में ग्रीष्म का और अन्तिम में वसन्त का वर्णन है। इस में पुनरुक्तियों की बहुतायत है, और वर्णनों में न तो वह पूर्णता है न दक्षता है जो पीछे

के काव्यों में पाई जाती है। इन कारणों से कुछ विद्वान इसे भी कालिदास की बनाई मानने में हिचकते हैं। यहाँ दो ही उद्धरणों का समावेश हो सकता है जो नीचे दिये जाते हैं—

नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसंनिभैः।
क्वचित् सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितव्योमघनैः समन्ततः॥

(चारों ओर आकाश भिन्न प्रकारों के मेघों से भर गया है—कुछ तो अञ्जन-चूर्ण के ढेर के रंग के समान, कुछ अत्यन्त नील कमलों के पत्तों के समान, और कुछ गर्भवती स्त्रियों के स्तनों के समान हैं।)

ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः।
कुर्व्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्य्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम्॥

(आम के वृक्ष लाल पत्तियों के गुच्छों से नम्र हैं और उनकी शाखाओं पर मञ्जरी भर गई है, जिसके कारण स्त्रियों के हृदय में उत्सुक कल्पनायें जग रही हैं।')

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि विचार और भाव में प्रौढ़ि नहीं आई है और कवि को भाषा पर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त हुआ है।

पाश्चात्य विद्वानों ने मेघदूत को संसार भर के इस प्रकार के काव्यों में अनूठा और अद्वितीय बताया है। कालिदास की कवित्व-शक्ति इसमें पूर्णता प्राप्त कर गई है। भाषा पर अधिकार, विचारों और वर्णनों की स्वाभाविकता और स्पष्टता, और भावों की प्रौढ़ता और हृदय और मन को मोह लेने की शक्ति उत्कर्ष पर पहुँच गई है। कवि की कल्पना इतनी पुष्ट हो गई है कि एक दिवा-स्वप्न को प्रत्यक्ष-सा बना कर पाठकों के सामने खड़ा कर सकी है। कथा तो कुछ भी नहीं है—एक यक्ष के कर्त्तव्यच्युत होने से कुबेर ने उसे एक वर्ष का निर्वासन-दण्ड दिया है और वह युवती पत्नी से अपनी जुदाई के दिन रामगिरि पर बिता रहा है; जब आषाढ़ का प्रथम नील-मेघ दृष्ट होता है, तो उसके हृदय की पीर रोके नहीं रुकती और वह पागल-सा होकर उत्तर की ओर जाते हुए मेघ को चैतन्य समझ लेता है और उसमें मैत्री-भाव उत्पन्न करके अपनी पत्नी के पास संदेश ले जाने की प्रार्थना करता है; कहीं मेघ को अलकापुरी की राह मालूम न हो, अथवा वहाँ पहुँच कर यक्ष का घर न मिले, या उसकी पत्नी पहचानी न जाय, इसलिए वह राह का, अलकापुरी और अपने घर तथा स्त्री का वर्णन करता है। इस काव्य के एक-एक श्लोक में एक-एक चित्र और भाव का इस दक्षता से अंकन किया गया है कि शब्द-शब्द से रस छलकता-सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥

(जैसे धीरे-धीरे अनुकूल बहता हुआ पवन तुम्हें आगे बढ़ाता है और तुम्हारे बाईं ओर

चातक गर्व के साथ मधुर बोली बोल रहा है उसी तरह सरसों की पंक्ति प्रियदर्शन तुम्हारी सेवा करेगी क्योंकि वे सारस तुम्हें गर्भादान के समय से जानते हैं।'

'श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।'

'मैं तुम्हारे अंगों का सौंदर्य प्रियंगुलता में, तुम्हारे चंचल नयनों का सादृश्य हरिणियों की आँखों में, तुम्हारे मुख का सौंदर्य चन्द्रमा में, तुम्हारे केशों का सादृश्य मयूरों के परों में और तुम्हारी चंचल भौंहों का सादृश्य पतली नदियों की लहरियों में देखता हूँ। परन्तु, तुम्हारा पूर्ण सादृश्य किसी एक भी वस्तु में नहीं पाता हूँ।'

ऊपर के उद्धरणों में एक दृश्य-प्रधान और दूसरा भाव-प्रधान है। पहले में यक्ष मेघ को प्रसन्न करने और दूर अलकापुरी की यात्रा के लिए उसे उत्कंठित बनाने का प्रयत्न करता है। इस अभिप्राय से वह एक सुन्दर दृश्य उसके सामने उपस्थित करता है। पवन, जो मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है, धीरे-धीरे बह कर मेघ को आगे बढ़ा रहा है; यह शुभ शकुन है। फिर बाईं ओर चातक बोल रहा है। आगे चल कर मेघ के पुराने परिचित सारसों की श्रेणी उससे मिल कर उसकी शोभा बढ़ायेगी। यात्रा के लिए इससे बढ़ कर समय हो नहीं सकता। इस श्लोक में किस चातुरी से मनोहर प्राकृतिक दृश्य के सहज वर्णन के साथ यक्ष के भावों को गूँथ दिया गया है!

दूसरे श्लोक में यक्ष का प्रेम-संदेश है, जिसे मेघ को उसकी पत्नी के पास पहुँचाना है। इस श्लोक में और इसके नीचे और ऊपर के कतिपय श्लोकों में यक्ष अपने हृदय की व्यथा को दरसाता है। वह विरह के दुःख में और अपनी प्रेयसी से मिलने की उत्सुकता में उसका सादृश्य चारों ओर खोजता है, परन्तु कहीं पाता नहीं। इससे उसकी व्यथा बराबर बढ़ती ही जाती है।

कालिदास की यह विशेषता—चित्रांकन के साथ भावों का गूँथना, गूँथना ही नहीं, उन्हें तीव्रतर बनाना—कुमारसम्भव तथा रघुवंश में भी स्थान-स्थान पर चमत्कार उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ, कुमारसम्भव में हिमालय, वसंत, शिव की ध्यानमुद्रा, पार्वती का तप; रघुवंश में दिलीप और सुदक्षिणा की यात्रा, वशिष्ठ के आश्रम का वर्णन, रघु की दिग्विजय-यात्रा, त्रिवेणी की झाँकी आदि के वर्णनों में यह विशेषता पाई जाती है। कालिदास के वर्णनों में किसी भी वस्तु का सांगोपांग चित्रण भवभूति अथवा वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के समान नहीं होता। उनकी कला कुछ चुने अंगों को ले कर उन्हीं में कुछ ऐसे संकेतों को भर देती है कि पाठकों के सामने एक अत्यंत आकर्षक और पूर्ण चित्र खड़ा हो जाता है। उदाहरणार्थ—

'यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागां अकालसंध्यामिव धातुमत्ताम्॥

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते, शृङ्गानि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥
भागीरथीनिर्झरशीकराणां, वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥

जो (हिमालय) अपने शिखरों पर अनेक प्रकार की धातुओं को, जिनसे अप्सराओं का शृङ्गार संपादित होता है और जिसकी लालिमा बादलों से विभक्त हो जाती है, अकालसंध्या की तरह धारण करता है।

जिसके कटि-भाग में चलते हुए मेघों के नीचे चट्टानों की छाया का सेवन करके सिद्ध लोग वृष्टि से उद्विग्न हो जाते हैं और धूपवाले शिखरों पर आश्रय लेते हैं।

जहाँ की वायु भागीरथी के निर्झरों के जलकणों को ढोती, देवदारुओं को धीरे-धीरे हिलाती, मृगों की खोज से थके हुए किरातों के मस्तकों पर स्थित मयूर-पंखों को चलायमान करती हुई उनकी सेवा करती है।'

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में हिमालय की एक-एक झाँकी दी गई है और उनमें सजीव चित्र गूँथ दिये गये हैं, जैसे कोई श्रेष्ठ चित्रकार अपनी तूलिका के दो एक संचालन में ही ऐसे चित्र का संकेत कर दे जिसकी पूर्ति दर्शक स्वयं कर ले। पहले श्लोक में कवि ने हिमालय के गैरिक रंग के शृङ्गों और मिट्टी के साथ अप्सराओं का संध्या के भय से शीघ्रता से शृङ्गार करने का संकेत कर, उसकी आकाशचुम्बी ऊँचाई पर एक मनोहर जीवन का चित्र प्रत्यक्ष-सा कर दिया है। इसी तरह दूसरे श्लोक में उसकी ऊँचाई को बताते हुए यह भी बता दिया है कि मेघ उसके शृङ्गों तक नहीं पहुँचते, और यहाँ भी भागते हुए सिद्धों का उल्लेख कर एक सजीव चित्र खड़ा कर दिया है। तीसरा श्लोक भी वैसा ही है।

रघुवंश के प्रथम सर्ग में वशिष्ठ के आश्रम का वर्णन देखिये—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिवनीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्यानां तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥

'जो आश्रम ऋषियों की पत्नियों की संतान की तरह बने हुए, जंगली धान का भाग पाने के अभ्यस्त, झोपड़ों के द्वारों को घेर कर खड़े हुए मृगों से भरा था।'

जिस आश्रम के वृक्षों को सींचने के बाद मुनिकन्यायें चली गई थीं, जिससे वृक्षों की जड़ों की क्यारियों में दिये हुए जल को पीने की इच्छा रखने वाली चिड़ियों_ में विश्वास उपजे।

जिस कौशल से ऊपर के श्लोकों में पवित्रता और सर्वव्यापी प्रेम और शांति के भाव गूँथ दिये गये हैं उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, उचित ही होगी। ऐसे-ऐसे वर्णन रघुवंश में बिखरे पड़े हैं। त्रिवेणी के वर्णन में तो कवि अपने उत्कर्ष का भी अतिक्रमण कर देता है। इस वर्णन में उपमाओं और चित्रों की धारा-सी बह चली है। यमुना का कृष्ण जल जब गंगा की

स्वच्छ धारा से टकराता था तो कैसी छटा की सृष्टि होती थी, इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास के दिनों में न यमुना में और न गंगा से ही नहरें बनी थीं और कृष्ण तथा श्वेत का सम्मिश्रण अधिक स्पष्ट और मोहक होता ही होगा।

प्राचीन समालोचकों ने कालिदास की उपमा की ही प्रशंसा की है। यह स्पष्ट है कि वे उनके उससे भी उच्च गुणों को समझने में असमर्थ रह गये हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, उपमा आदि केवल शृङ्गार हैं, भावों की अभिव्यक्ति से रसों का उद्रेक करना ही कविता की विशेषता है। कालिदास के सभी वर्णनों में भावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट और ओजस्वी होती है और रसों का पूर्ण और असंदिग्ध उत्पादन होता है। उनकी उपमायें कभी केवल आभूषण का काम नहीं करतीं। प्रत्येक उपमा एक जीता-जागता चित्र है जो रस की निष्पत्ति में सहायक होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

कुमारसंभव में समाधिस्थ शिव का वर्णन है—

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहं अपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥

'भीतरी वायुओं—प्राणों—के निरोध के कारण, वृष्टि की हलचल से मुक्त मेघों, बिना तरंग के जलाशय और वायु के अभाव में निष्कंप दीपक की तरह स्थित—शिव को देखा।'

ऊपर की सभी उपमायें एक-एक चित्र उपस्थित करती हैं और शांत रस को स्पष्ट और गहरा बनाती हैं। उसी कुमारसंभव से एक शृङ्गारार्थ उपमा देखिये—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

जैसे तूलिका के संचालन से चित्र प्रकट हो उठता है, सूर्य की किरणों से कमल फूट पड़ता है उसी तरह नवयौवन से उस उमा का सर्वाङ्गसुन्दर शरीर विभक्त हो गया—खिल उठा—प्रत्येक अङ्ग अपने स्वाभाविक विकास को प्राप्त कर गया।'

यहाँ कवि का ध्येय परिवर्त्तन की स्वाभाविकता, अप्रयासता और आकस्मिकता को प्रकट करना है। चित्रकार के मस्तिष्क में एक चित्र का आभास हुआ है और वह एक नया पट ले कर बैठता है। उसकी तूलिका चलती है और जहाँ कुछ भी नहीं था वहाँ एक सुन्दर चित्र सहसा प्रकट हो जाता है। कमल में कली लगी हुई है, वह बंद है परन्तु सूर्य निकलता है, उसकी किरणें छूटती हैं, उस कली का स्पर्श करती हैं और वह खिल उठती है। इसी तरह नये यौवन के आगमन से पार्वती के सभी अंग पूर्णता को प्राप्त कर गये। यौवन का आगमन एक दिन या क्षण में नहीं होता, परन्तु वह भी सूर्य-किरणों की मूकता के साथ आता है और दर्शकों में एक आकस्मिकता का बोध होता ही है। घरवाले बालक-बालिका को प्रतिदिन देखते हैं, उन्हें बालक-बालिका ही समझते रहते हैं परन्तु एक दिन उनकी आँख खुलती है और वे देखते हैं कि बाल्यावस्था कूच कर गई। ये सब भाव ऊपर की उपमाओं में आ जाते हैं।

यहाँ कुमारसंभव से एक और श्लोक दिये बिना नहीं रहा जाता। यद्यपि इसमें उपमा की विशेषता नहीं है परन्तु यह श्लोक कालिदास की कला की सरलता, व्यापकता और अद्वितीय कुशलता को व्यक्त करता है। पार्वती हताश होकर तपस्या कर रही हैं, काम जल चुका है, शिव पार्वती को अपमानित कर अन्तर्धान हो गये हैं। वह तप कैसा कठिन, रोमाञ्चकारी, और गौरी के अयोग्य था, इस श्लोक से स्पष्ट होता है और उस एकाकिनी बाला की दशा पर करुणा की धारा बहा देता है—

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु।
व्यलोकयंस्तून्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः॥

'बीच-बीच में हवा के झोंकों से मिली हुई अविराम वृष्टि में भी, बे-घर की शिलाओं पर सोनेवाली उमा के महातप के साक्षी की तरह रात्रियाँ विजली रूपी विस्फारित नयनों से उसे देखा करती थीं।'

कैसा हृदय को द्रवित कर देनेवाला चित्र है! किस चातुरी से हिमालय की सुनसान, निबिड़ अँधियारी, जिसमें विजली की चमक से ही कुछ दीख पड़ता है और अविरत वर्षा और आँधी का संकेत किया है कवि ने! नयनों को विस्फारित कर साक्षिणी रात्रि आश्चर्य से इस विचित्र दृश्य को देखती है—एकाकिनी उमा का सौन्दर्य, यौवन और सुकुमारता और प्रकृति का यह भयानक रूप!

काव्य की दृष्टि से कालिदास के नाटकों में भी कम कविता नहीं मिलती। कुछ उद्धरण तो आगे नाटकों पर विचार करते समय दिये जायँगे। नीचे उनके वर्णनों की सजीवता का एक उद्धरण शाकुन्तल से दिया जाता है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।

'वह मृग क्षण भर अपनी गर्दन को पीछे घुमा कर इस रथ को देखता हुआ और तीर लगने के भय से अपने पीछे के अंग को आगे के अंग में घुसा कर, यानी सिमट कर, और थकावट के कारण खुले हुए मुँह से गिरती हुई आधी कुचली हुई घासों को रास्ते पर गिराता हुआ फिर तेजी से भागा जा रहा है।'

इस श्लोक में मृग के पीछे तेजी से जाते हुए रथ पर बैठे दुष्यंत ने सामने भागते हुए मृग का चित्र किस पूर्णता से अंकित किया है। इसे पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपनी आँखों से मृग की विकट अवस्था देख रहे हैं।

जब कण्व ऋषि शकुन्तला को बिदा करने लगते हैं तो उनके हृदय में जो दुःख होता है उसका चित्रण देखिये—

'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

'आज शकुन्तला जायगी—यह सोच कर मेरा हृदय उत्कंठा से भर गया है, मेरा कण्ठ रुलाई से बन्द-सा हो रहा है और आँखों से चिंता के कारण दिखाई नहीं देता। यदि मुझ जंगल के रहने वाले की ऐसी बेचैनी की हालत हो गई तो लड़कियों को बिदा करते समय गृहस्थों को कैसा दुःख होता होगा!'

ऊपर के वर्णन में जीवन की एक साधारण अनुभूति का पूर्ण और भाव-भरा चित्रण हुआ है।

(४)

ऊपर कहा गया है कि कालिदास का प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र है। यह एक साधारण राजदरबार की कथा है जिसमें दरबारों की कूट-युक्तियों का ही प्रदर्शन है। प्रेम का अंकन तो अवश्य है, परन्तु वह कूट-युक्तियों के जाल में इस तरह जकड़ा है और राजदरबारों के अस्वाभाविक जीवन से ऐसा बद्ध है कि उसकी यथोचित अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम का चित्रण है। यद्यपि कविता की दृष्टि से यह उत्तम है, परन्तु नाटक की दृष्टि से इसमें अधिक विशिष्टता नहीं है।

उपर्युक्त दोनों नाटकों और अभिज्ञानशाकुन्तल में बहुत बड़ा अन्तर है। शाकुन्तल के शब्द-शब्द से, कथा के परिवर्त्तनों से और दृश्यों की रचना और प्रतिपादन से कवि की कुशलता और प्रौढ़ता टपकती है। जहाँ मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में, नायक और नायिका का चित्रण, विशेषतः आज के वातावरण में, खटकता है और प्रेम का अंकन भारतीय रूढ़ियों और नागरिक छल-छद्म से दूषित हो गया है, वहाँ शाकुन्तल में आदि से अन्त तक स्वाभाविकता, पवित्रता और भावों तथा विचारों की उच्चता पूर्णरूप से निभाई गई है। विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र में नायक कहीं-कहीं आदर्श से गिरा-सा प्रतीत होता है और दर्शकों की सहानुभूति व्यक्त सामग्री की ओर हो जाती है। विक्रमोर्वशीय के दूसरे और तीसरे अंकों में तो साम्राज्ञी के समक्ष पुरूरवा एक मिथ्याचारी और संकुचित हृदय के मनुष्य-सा दृष्ट होता है। उर्वशी का निरर्थक क्रोध और मान, जिसके कारण वह विवेकहीन हो कर लता में बदल जाती है, पुरूरवा को साम्राज्ञी के समक्ष, उसे नीच स्वभाव का सिद्ध करते हैं। परन्तु शकुन्तला का प्रत्येक कर्म स्वाभाविक और अनिंदनीय होता है और उसके स्वभाव की उच्चता को प्रत्यक्ष करता है। जब सप्तम अंक में दुष्यंत से उसका पुनर्मिलन होता है और दुष्यंत उसके पैरों पर गिर कर क्षमा की प्रार्थना करता है, तो वह भारतीय आदर्श पत्नियों की तरह अपने भाग्य को ही दोष देती है—

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो णूणं मम सुअरिदप्पडिबंधअं पुराकिदं तेसु दिअसेसु परिणामाहिमुहं आसी। जेण साणुक्कोसोवि अज्जउत्तो मइ तहविहो संवुत्तो।

'आर्यपुत्र, उठिये। निश्चय उन दिनों मेरे सुख के प्रतिबन्धक पूर्व-कर्म फलीभूत होने पर आये थे, जिसके कारण आर्यपुत्र दयावान हो कर भी मुझ से विमुख हो गये।'

इस वाक्य की सहजता, सारगर्भिता और मधुरता अद्वितीय है। शेक्सपियर की पोर्शिया, जूलियट और मिरैंडा अपने प्रेम को लम्बी वक्तृताओं के बिना नहीं दरसा सकी हैं। परन्तु शकुन्तला ने अपने प्रेम, आत्मसमर्पण और उदारता को इन कतिपय मर्मभेदी शब्दों में ही भर दिया है। इस दृष्टिकोण से, तृतीय अंक की प्रेमाभिव्यक्ति असाधारण कुशलता से की गई है। वहाँ कहीं भी लम्बे भाषणों की अस्वाभाविकता नहीं है, प्रत्युत शब्दों का चुनाव और विन्यास भाव-भंगियों के साथ इस प्रकार गूँथ दिया गया है कि रस बह चला है।

इस उद्धरण से रघुवंश के चौदहवें सर्ग का स्मरण हो आता है। लक्ष्मण ने सीता जी को वाल्मीकि के आश्रम तक पहुँचा दिया है। वे सारी बातें समझाते हुए उनके चरणों पर गिर पड़े हैं और क्षमा मांगते है। सीता जी उन्हें उठाती हैं और कहती हैं—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य॥
कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥

हे लक्ष्मण, मेरे शब्दों में राम से कहना कि सामने अग्नि में शुद्ध हुई मुझे तुमने लोकापवाद से छोड़ दिया, यह क्या तुम्हारे विख्यात वंश के योग्य है? परन्तु नहीं, कल्याण-कारिणी बुद्धि वाले तुम में मुझे स्वेच्छाचार की शंका नहीं करनी चाहिए; मेरे ही पूर्व जन्मों के असह्य पातकों का यह विपाक-वज्र-निर्घोष फूट पड़ा है।

कैसा मर्मस्पर्शी पर साथ ही साथ संयत उपालंभ है! शब्द से कैसी महिमा टपक रही है! उदार-हृदय दूसरों का नहीं, अपना ही अवगुण देखता है; द्वेषमय नहीं क्षमामय होता है। हिंदू पत्नी समस्त अहंभाव पति में विलीन कर देती है। कैसी सरलता, स्वाभाविकता और पूर्णता से यह आदर्श ध्वनित किया गया है! सबके ऊपर 'स राजा' पद आश्चर्यजनक प्रभाव से भरा हुआ है—जैसे सीता जो कहती हों, 'तुमने राज-धर्म को पति-धर्म से श्रेष्ठ समझा है, मेरे पत्नीत्व का अन्त करके मेरे प्रति राजा-सा व्यवहार किया है। यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो यह भी मुझे मान्य है। अब हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध राजा-प्रजा का ही रहे!'

शेक्सपियर के नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्रचुरता है। उसने नाना प्रकार की स्त्रियों का चित्रण किया है—दुष्ट स्वभाव की गणिकाओं और कुटनियों से लेकर लेडी मैकबेथ, गौनरिल और रीगन तक; पवित्र आत्माओं वाली जूलिया और सिल्विया, से ले कर कौर्डीलिया, इमोजेन, हर्मियोनी, पर्डिटा और मिरैंडा तक। कालिदास के नाटकों में भी तीन नायिकाओं—मालविका उर्वशी और शकुन्तला—और अनेक दूसरी स्त्रियों का चित्रण हुआ है। यह आशा करना कि दोनों कवियों का चित्रण समान होगा, उचित नहीं है। चित्रण की चातुरी और चित्र की शोभा और स्वाभाविकता की ही तुलना की जा सकती है। शकुन्तला की तुलना कुछ अंशों में, सिम्बेलिन की इमोजेन, कुछ अंशों में विंटर्सटेल की हर्मियोनी और कुछ में टेम्पेस्ट की मिरैंडा से की जा सकती है। परन्तु शकुंतला की पृष्ठभूमि और उसके जीवन का वातावरण तो शेक्सपियर की

नायिकाओं को अलभ्य थे। फिर भी मिरैंडा की बाल्यावस्था की पृष्ठभूमि शकुन्तला की पृष्ठभूमि से कुछ मिलती-जुलती है। मिरैंडा है मिलन के ड्यूक प्रास्पेरो की पुत्री। जब वह छोटी बच्ची थी तभी प्रास्पेरो, अपने छोटे भाई के षड्यन्त्र से, मिलन से निकाल दिया जाता है और एक सुनसान छोटे द्वीप पर शरण पाता है। वह बहुत बड़ा जादूगर है। वह उस द्वीप पर बँधे हुए एक परी को छुड़ा कर अपने वश में करता है। उस द्वीप में केवल एक मनुष्य है—कैलिबन। एक दुष्ट जादूगरनी का पुत्र होने के कारण उसका रूप विकृत है। वह पूर्ण मनुष्य भी नहीं है। ऐसे वातावरण में वह पली है। वह संसार से अनभिज्ञ है और उसने अपने पिता को छोड़ कर किसी दूसरे मनुष्य को देखा तक नहीं है। इधर शकुन्तला, मेनका-विश्वामित्र की पुत्री, नदी किनारे फेंकी हुई कण्व को मिलती है और वह उसे अपने आश्रम में पालते-पोसते हैं। इस तरह दोनों का पालन-पोषण मानव-समाज से दूर, प्रकृति की गोद में और प्रेम के वातावरण में हुआ है— एक को पिता का अनन्य प्रेम और दूसरे को निःस्वार्थ, विरक्त मुनियों और मुनि-कन्याओं का विशुद्ध प्रेम मिला है। दोनों ही सुन्दर और कपट-छल से अनभिज्ञ हैं। दुष्यंत और फर्डिनेण्ड में इतना ही साम्य है कि दोनों राज-समाज में पले हैं, परन्तु एक राजा है, दूसरा नवयुवक राजा होने वाला है। मिरैंडा और फर्डिनेंड का अचानक मिलना होता है। फर्डिनेण्ड जब मिरैंडा के दृष्टि-पथ में आता है तो प्रास्पेरो कहता है—'उधर देखो। क्या देखती हो?' मिरैंडा कहती है— 'What is it ? A spirit ? Lord, how it looks about ! Believe me, sir, it carries a brave form—but it is a spirit !' (यह क्या है ? क्या एक प्रेतात्मा है ? भगवन्, किस तरह यह इधर-उधर देख रहा है। आर्य, इसका शरीर तो अत्यन्त सुन्दर है, परन्तु है तो यह प्रेतात्मा ही !)

इसमें आश्चर्य के साथ-साथ सौंदर्य का प्रभाव बड़ी स्वाभाविकता से अंकित किया गया है। जब प्रास्पेरो बताता है कि वह भी मनुष्य है, तो वह कहती है—

'...I Might call him
A thing divine, for nothing natural,
I ever saw so noble'

(मैं उसे दैवी कह सकती हूँ क्योंकि मैंने प्रकृति में कोई चीज ऐसी सुन्दर नहीं देखी।)
तब फर्डिनेण्ड मिरैंडा को देखता है और कहता है—

'Most sure, the goddess
on whom these airs attend......
......My prime request......
......is you wonder !
If you be maid or no ?'

(अवश्य यह वही देवी है जिसके लिए यह गाना बजाना हो रहा है...हे आश्चर्य की मूर्त्ति ! मेरा पहला निवेदन यह है कि तुम मानवी हो या नहीं !)

इस रीति से कवि ने दोनों का परस्पर आकर्षण बड़ी खूबी से चित्रित किया है।

जब दुष्यंत पहली बार शकुन्तला को देखते हैं तो कहते हैं—

शुद्धांतदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥

'तपोवन में रहनेवाली इस बाला को यदि ऐसा रूप मिला है जो रनिवासों में दुर्लभ है तो यही कहना पड़ता है कि जंगल की लताओं ने उद्यानलताओं को बहुत पीछे छोड़ दिया।'

इस वाक्य में भी वैसा ही आश्चर्य है जैसा फर्डिनेण्ड की बातों में है, परन्तु इसमें नागरिकता और दाक्षिण्य अधिक है। शकुन्तला के वल्कल को देख कर दुष्यंत कहता है—

काममननुरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति । कुतः
सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा-वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

'छाल तो इसके वयस के अनुरूप नहीं है फिर भी यह बात नहीं है कि यह उसके अलंकार की श्री नहीं बढ़ाती क्योंकि अविकसित कमल शैवाल के साथ भी सुन्दर लगता है। चन्द्रमा का अङ्क मलिन होने पर भी ज्योति बढ़ाता है। यह वल्कल के कारण अधिक सुन्दर लगती है जो सुन्दर है। उसके लिए सभी कुछ अलंकार बन जाता है।'

ऊपर के उद्धरणों से फर्डिनेण्ड की उमर के अनुकूल अलहड़पन और दुष्यंत की प्रौढ़ावस्था का सौंदर्य-निरूपण स्पष्ट हो जाता है। एक में नवयुवक के हृदय के सहज उद्गार और दूसरे में प्रौढ़ रसिक की सौंदर्य को परखने की दक्षता प्रकाशित की गई है। अपने-अपने स्थान पर दोनों ही श्रेष्ठ रीति से अङ्कित किये गये हैं।

जब दुष्यंत शकुन्तला के जन्म की कथा सुनता है तो कहता है—

'मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य संभवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥'

'भला मनुष्यों से ऐसे रूप का उत्पन्न होना कैसे सम्भव हो सकता है? तरल ज्योति से भरे हुए चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथ्वी से नहीं होती।'

इस श्लोक में भी शकुन्तला के सौंदर्य को असाधारण बता कर वही आश्चर्य प्रकट किया गया है जो फर्डिनेण्ड ने 'O, wonder' करके प्रकट किया है; परन्तु यहाँ भी दुष्यंत और फर्डिनेण्ड की बातों में एक अनाड़ी युवक और एक अनुभवी प्रौढ़ मनुष्य का उपर्युक्त अंतर देखा जाता है।

प्रेम के अंकुरित होने का वर्णन देखिये। मिरैंडा और फर्डिनेण्ड में प्रेम पहली दृष्टि में ही अंकुरित हो जाता है। प्रास्पेरो जान जाता है और कहता है 'At the first, they have

changed eyes (पहलो दृष्टि में ही उनकी आँखें बदल गई हैं) और जब प्रास्पेरो इस प्रेम को गहरा बनाने के लिए कुछ रूखेपन का स्वांग रचता है तो मिरैंडा चकित होती है और सोचने लगती है कि उसके पिता क्यों इस रूखेपन से बोल रहे हैं। उसी समय उसके मन में होता है कि फर्डिनैंड के लिए उसके हृदय से आह उठ रही है। तब से वह फर्डिनैंड की सिफारिश में लग जाती है। वह कहती है—'There's nothing ill can dwell in such a temple' (ऐसे मन्दिर में बुराई नहीं रह सकती।) जब फर्डिनैंड जादू से हार जाता है और प्रास्पेरो उसे कैद करने की धमकी देता है तो वह कहता है—

……nor this man's threats,
To whom I am subdued, are but light to me
Might I but through my prison once a day
Behold this maid……

(इस मनुष्य की धमकियाँ, जिससे मैं हार चुका हूं मेरे लिए सह्य होंगी यदि मैं अपने कारावास से उसे एक बार प्रति दिन देख सकूँ।)

ऊपर के उद्धरणों से प्रत्यक्ष है कि शेक्सपियर ने प्रेम की इस क्रमिक वृद्धि का चित्रण बड़ी चतुरता से किया है।

कालिदास का चित्रण किसी तरह कुशलता में कम नहीं है। दुष्यंत का प्रेम शकुन्तला को देखते ही प्रस्फुटित होता है, परन्तु वह धर्मभीरु भारतीय राजा है और उसके मन में यह संशय उठता है कि शकुन्तला कहीं ब्राह्मणी न हो। जब यह संदेह हट जाता है तभी वह कहता है;

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥

(हे हृदय, अब तुम साभिलाष हो सकते हो क्योंकि तुम्हारे सन्देह का निर्णय हो गया जिसे तुम अग्नि समझ कर भय करते थे वह तो स्पर्श-योग्य रत्न है ।)

इसके पहले ही शकुन्तला की सखियों ने दोनों की चेष्टाएँ भाँप ली थीं। और, शकुन्तला के प्रति संकेत-भरी बातें कहने लगी थीं। जब शकुन्तला सखियों से रूठ कर चल देती है, तो दुष्यंत उसे रोकते-रोकते सम्हलता है। जब सखियाँ शकुन्तला से ऋण चुकाने की बात कहती हैं, तो वह उसकी थकावट की बात बताता हुआ ऋण की पूर्ति में अपनी अँगूठी देता है। शकुन्तला का हृदय दुष्यंत की सहानुभूति—'स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ' आदि—को सुन कर भर जाता है और वह मन-ही-मन कहती है;

'न एदं जणं परिहरिस्सं जइ अत्तणो पहविस्सं।' (यदि अपनी स्वामिनी रही तो इस जन को न छोड़ूँगी।)

यहाँ पर कहा जा सकता है कि शकुन्तला के प्रेम का चित्रण वैसा स्पष्ट नहीं हुआ है जैसा शेक्सपियर ने किया है। परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों के वातावरण भिन्न

हैं। जो बातें मिरैंडा को शोभा देती हैं वे शकुन्तला में अवगुण हो जातीं। कालिदास उर्वशी से वैसे शब्द कहला सकते थे, किन्तु शकुन्तला से कदापि नहीं।

इस दृश्य से मिलता-जुलता एक दृश्य टेम्पेस्ट में भी है। प्रास्पेरो ने फर्डिनैंड को लकड़ी ढोने की आज्ञा दी है और वह ढो रहा है। मिरैंडा आती है और देखकर दुःखी होती है और स्वयं ढोने के लिए तैयार हो जाती है। फर्डिनैंड इसे प्रेम-पगे शब्दों में अस्वीकार करता है और अपना प्रेम और विस्मय अनेक प्रकार से प्रत्यक्ष करता है। उसने अनेक सुन्दर स्त्रियों को देखा है परन्तु मिरैंडा के समान का किसी को नहीं पाया। वह कहता है :

'......but you, o you!
So perfect and so peerless are created
of every creature's best.'

(किन्तु तुम, ऐ तुम, जो इतनी पूर्ण और अद्वितीय हो, वह सभी जीवों के श्रेष्ठतम भाग से बनाई गई हो।)

इस उद्धरण की तुलना के लिए शाकुन्तल के कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं। शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन करते हुए दुष्यंत कहता है—

'स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे'।

(शकुन्तला स्त्रीरत्नों की सृष्टि में विशिष्ट प्रतीत होती है) और

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम् ॥'

(उसका निर्दोष रूप बिना सूँघे हुए फूल, अछूते किसलय, अविद्ध रत्न, नये मधु और अनंत पुण्यों के फल, की तरह है।)

विक्रमोर्वशीय में भी रूप का ऐसा ही वर्णन मिलता है—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।

(हे सखा, उर्वशी का शरीर गहनों का भी गहना, शृङ्गार की विधियों में भी विशेष विधि और उपमानों का भी प्रत्युपमान है।)

जब हम फर्डिनैंड और दुष्यंत की तुलना करते हैं तो मानना पड़ता है कि फर्डिनैंड के विशुद्ध प्रेम से दुष्यंत का प्रेम नीचे ही रह जाता है। फर्डिनैंड कहता है—

'...I,
Beyond all limit of what else in the world
Do love, prize, honour you.'

(मैं, जगत् की सभी चीजों से अधिक तुम्हें प्यार करता हूँ, तुम्हारा आदर करता हूँ और तुम्हें सबसे अधिक मूल्यवान् समझता हूँ।)

इसकी तुलना में दुष्यंत इतना ही कह पाता है—

'तपति तनुगात्रि मदनः
त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव '

'हे तन्वि, यदि मदन तुम्हें परितप्त कर रहा है, तो मुझे तो दिन-रात भस्म ही कर रहा है।)

स्पष्ट है कि दुष्यंत का प्रेम लौकिक है और भारतीय रूढ़ियों के अनुसार ही चित्रित है। परन्तु शकुन्तला का प्रेम और आत्मसमर्पण अत्यंत कौशल से अंकित किया गया है। आश्रम-वासिनी बालिका के हृदय में प्रेम का अंकुरित होना असाधारण स्वाभाविकता से बताया गया है। अपनी अवस्था में परिवर्तन देख कर शकुन्तला सोचती है—

'कधं इमं जणं पेक्खिय तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीआह्मि समवुत्ता ?'
(इस मनुष्य को देखकर मैं कैसे तपोवन के विरोधी विचारों के वश में हो गई हूँ ?)

इसके अनंतर दुष्यंतविषयक सभी बातों में उसकी उत्सुकता, सखियों और राजा की बातों में तन्मयता और बढ़ते अनुराग की भावभंगिमा सहजता और स्पष्टता से दरसाई गई है। तृतीय अंक में हृदय-साक्षात्कार के बाद, जब पूर्ण आत्मसमर्पण के साथ शकुन्तला कहती है—"लज्जेमि उण अणबआरिणी प्रियआरिणो अज्जउत्तस्स" (उपकार करने वाले आर्यपुत्र के सामने कोई उपकार नहीं करनेवाली मैं लज्जित होती हूँ। और फिर 'लदावलअ सन्दावहारअ, आमन्तेमि तुमं भूओ वि परिमोअस्स ।' (ऐ लतागृह, हे सन्ताप के हरने वाले, तुम्हें फिर से निमंत्रित करता हूँ सुख के लिए।) तो इन कतिपय शब्दों से विशुद्ध प्रेम और समर्पण की तरंगें उठने लगती हैं। शकुन्तला को मिरैंडा की तरह लंबी वक्तृता की आवश्यकता नहीं। जब फर्डिनैंड अपना प्रेम जताता है तो मिरैंडा रो पड़ती है, और पूछने पर कहती है:

'At mine unworthiness, that dare not offer
What I desire to give; and much less take
What I shall die to want—,
I am your wife if you will marry me.'

(अपनी अयोग्यता पर मैं रोती हूँ। जो मैं देना चाहती हूँ उसे देने की हिम्मत नहीं और जिसे मैं पाये विना मर जाऊँगी उसे लेने की भी हिम्मत नहीं। यदि तुम विवाह करोगे तो मैं तुम्हारी पत्नी हूँ।)

यह बात नहीं है कि कालिदास पुरुषों का विशुद्ध प्रेम नहीं जानते थे उनके सामने वाल्मीकि रामायण में उस विशुद्ध प्रेम का वर्णन था जो संसार की किसी भी भाषा में वर्णित विशुद्ध प्रेम-वर्णन से हीन नहीं है:

'प्रिया तु सीतारामस्य दारा पितृकृता इति।
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयो विवर्द्धते।

तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्त्तते ।
अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।'

(यह जान कर कि सीता उनके पिता को भी प्रिय थी राम को और अधिक प्रिय थी। गुण और रूप के कारण उनकी प्रीति बराबर बढ़ती गई। सीता के हृदय में पति सदैव व्याप्त रहते थे। भीतर की बातें भी एक हृदय दूसरे हृदय के सामने व्यक्त कर देता था।)

परन्तु कालिदास को समाज में साधारणतः जैसे पुरुष हुआ करते थे, वैसे ही पुरुष का चित्र खींचना था।

शकुन्तला का पाँचवाँ अंक, विन्टर्सटेल के अंक दो, दृश्य एक, और अंक तीन, दृश्य दो से मिलाया जा सकता है। वहाँ राजा लियौंटिस रानी हर्मियोनी के पातिव्रत्य पर आक्षेप करता है। परन्तु हर्मियोनी और शकुन्तला की पृष्ठभूमि एक दूसरे से उल्टी है—हर्मियोनी रानी और एक बच्चे की माँ है, और शकुन्तला हरिणों के साथ खेली हुई आश्रमवासिनी नववधू। परन्तु दोनों ही जब अपने पति से तिरस्कृत होती हैं तो उनका व्यवहार धीर और गौरवान्वित होता है। हर्मियोनी कहती है—

"There some ill planet reigns,
I must be patient till the heavens look
With an aspect more favourable."

कोई दुष्ट ग्रह प्रबल हुआ है। जब तक आकाश का रूप अधिक अनुकूल नहीं होता, मुझे धैर्य धारण करना चाहिए।"

जब शकुन्तला को भूल कर दुष्यंत उसे स्वीकार नहीं करता तो गौतमी के प्रोत्साहन से शकुन्तला दुष्यंत को मीठा उलाहना देती है। तब दुष्यंत पापभीरु होकर शकुन्तला को उस नदी के समान बताता है जो तटों को तोड़ती स्वयं कलुषित होती है और दुष्यंत के समान वृक्षों को भी गिराती है। शकुन्तला अब भी दुष्यंत में गुण देखती है। वह कहती है—यदि तुम सचमुच पापभीरु हो तो तुम्हें मैं 'अभिज्ञान' दूँगी। परन्तु अभिज्ञानस्वरूप अँगूठी तो गिर गई है। तब वह कहती है—'एत्थ दाव विधिणा दस्सिदं पउत्तणं अवरं दे कहइस्सं।' (यहाँ तो भाग्य ने अपना प्रभुत्व दिखलाया, तुम्हें दूसरी बात कहूँगी।) दुष्यंत उसकी प्रेम-कहानी पर व्यंग्य करता है; उसमें छल-कपट रखता है। तब उसका क्रोध जगता है। फिर भी वह दुष्यंत को 'अनार्य' भर कहती है। इसमें सन्देह नहीं कि हर्मियोनी आत्मसंयम में शकुन्तला से बढ़ी है, परन्तु वह आत्मसंयम शकुन्तला की पृष्ठभूमि में असंगत हो जाता। बात यह है कि शकुन्तला का पाँचवाँ अंक इस चातुरी से लिखा गया है कि उसका एक शब्द अथवा एक वाक्य भी निरर्थक नहीं है, प्रत्येक बात से द्रष्टा और पाठक की उत्सुकता बढ़ती जाती है और अन्त में तो करुणारस की बाढ़ ही आ जाती है। पाठक जो शाप की बात जानता है, दुष्यंत और शकुन्तला की असहाय अवस्था और निरर्थक दुःख पर द्रवित हो जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि समान अवस्थाओं के चित्रण में कालिदास किसी तरह शेक्सपियर से कम नहीं हैं, परन्तु इसमें संन्देह नहीं कि शकुन्तला के सप्तम अंक में कालिदास बहुत ऊपर उठ गये हैं। हर्मियोनी और लियोंटिस का और इनोजेन और पास्थुमस का पुनर्मिलन हुआ है, परन्तु जिस कौशल से कालिदास ने पुनर्मिलन के रस को धीरे-धीरे बढ़ा कर पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है और हृदय की व्यथा के साथ इसे मिश्रित कर स्थायी बना दिया है, उस कौशल को सिम्बेलिन में नहीं पाते। सिम्बेलिन के अन्तिम दृश्य को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ऊब कर अथवा विस्तृत कथा के बिखरे सूत्रों को एकत्र करने में रस-परिपाक को भूल ही गया हो। हाँ, विंटर्सटेल का अन्तिम दृश्य इससे अधिक प्रभावशाली है और लियोंटिस की आत्मग्लानि से हृदय द्रवित होता है, परन्तु हर्मियोनी और लियोंटिस का भी उस तरह मिलन नहीं होता जिस तरह शकुन्तला और दुष्यंत का होता है, न वह रस ही उद्भूत होता है।

सप्तम अंक की विशेषता है शिशु भरत और दुष्यंत के मिलन का चित्रण। शेक्सपियर में एक ही दृश्य है, जहाँ उसने बीभत्स रस बढ़ाने के लिए एक लड़के का चित्रण किया है। वह है मैकबेथ में, जहाँ लेडी मैकडफ अपने शिशु से बातचीत करती है और उसे वधिक आकर मार देते हैं। परन्तु वह शिशु शिशु नहीं है, वह कम से कम सात वर्ष का होगा। इधर भरत गुड़ियों से खेलनेवाला शिशु है। लेडी मैकडफ के पुत्र की रोचकता उसके शोख और अनपेक्षित उत्तरों में है, परन्तु भरत की रोचकता उसकी स्वाभाविकता में है। लेडी मैकडफ के पुत्र का कोई आवश्यक स्थान मैकबेथ में नही है—वह केवल बीभत्स रस के नियोजन के लिए लाया गया है। परन्तु भरत का चित्रण अत्यन्त आवश्यक था, क्योंकि शकुन्तला की कथा का वह एक प्रधान अंग है, और वही सप्तम अंक के मूल रस को गम्भीर बनाता है।

इस छोटे लेख में यथासम्भव हमने कालिदास की कविता पर विचार किया है और शेक्सपियर के कुछ मुख्य नाटकों के साथ अभिज्ञानशाकुन्तल की तुलना की है जहाँ कहीं भी समान क्षेत्र में दोनों की तुलना कर सके हैं, कालिदास की कविता को अधिक सुन्दर और मर्मस्पर्शी पाया है। नाट्य-रचना की कुशलता में भी हम उन्हें शेक्सपियर से कम नहीं पाते।

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

संपादक— डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

[गतांक से आगे]

◆

(५६)—भागवत-तत्व-सार-संदीपन—ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ—६६। प्र० पृ० पं० लगभग—२६। भाषा—संस्कृत। लिपि-नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ—हे मुने पुरातीतभवेपूर्वस्मिन्न्यन्मनि अहंवेदवादिनां कस्याश्चन दास्याः पुत्र इतिशेषः पुत्रोभवं सोहं प्रावृषिवर्षाकाले निर्विदीक्षतां योगिनां भगवत्पादारविंदशरणं योगंयेषामस्तीतियोगिनः तेषांप्रपत्तियोगिनां शुश्रूषणे स्वामिना निस्नपितः बालक एवतैर्द्विजैरनुमोदितः तेषांशरणागतयोगिनां उच्छिष्टलेपाभंसकृस्तं भुंजेरयत्तस्मात् अपारतकिल्विषः अस्मिन्कल्पेब्रह्मपुत्रोस्मीत्यर्थः श्री नारदःअहंपूर्वजन्मनिप्रपन्न प्रसाद…।

अन्त की पंक्तियाँ—मार्कंडेयः श्रीसाक्षात्कार भगवतंवरदं वरमप्रार्थ्यपरमपद मस्ययाचितो भूत्वातत्पादारविंदशरणं गत्वाप्रपत्ति रेवपरमपदं ददातीति प्रपत्यनुसंधान मेवचकारतस्मात् प्रपन्नानां भगवंतपरम्पदं तयाचितव्यंप्रपत्तिरेवपरमपदं ददातीतिप्रपत्यनुसंधानमेवकर्तव्यं अस्मिन् प्रबंधे यत्र यत्र देवादयः ऋषयः राजानः भगवतं शरणंवदते तत्रतत्रते द्वयमंत्रोच्चारणंजग्युरिति वेदितव्यं तैरुच्चारणंजग्युरितिवेदिव्यं तेरुच्चारण मंत्रं श्री वेदव्यासः रहस्यमंत्रस्य प्राकृतनोचितमितिशरणं पपावितिश्लोकरूपेण कृतवान् तर्हिचेत् प्रह्लादादयः विभीषणादयः दुर्वासादयः मार्कंडेयनारदादि……।

विषय—भक्तिकाव्य।

टिप्पणी—यह ग्रन्थ श्रीमद्भागवत महापुराण की टीका है। ग्रंथ के खण्डित होने के कारण (प्रारम्भ और अन्त के पृष्ठ फटे होने से) ग्रंथकार, लिपिकार तथा रचनाकाल, टीकाकाल और लिपिकाल का पता नहीं चल पाता है। टीका की भाषा और शैली प्राचीन एवं अपरिष्कृत है। ग्रंथ की लिपि स्पष्ट और साफ है किन्तु अक्षरों से लिपि की प्राचीनता स्पष्ट प्रकट होती है। यद्यपि काल-निर्देश का अभाव है तथापि पोथी लगभग एक सौ वर्ष की प्राचीन प्रतीत होती है।

यह पोथी श्रीअवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ, छपरा से प्राप्त हुई।

(६०)—रीति-शास्त्र और स्तोत्र—ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ—३७। प्र० पृ० पं० लगभग—३२। भाषा संस्कृत। लिपि-नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारम्भ०—श्रीगणपतिर्जयति ॥ यत्सत्यं त्रिषुलोकेष्विति ॥ यत्सत्यं सागराणामिति ॥ यत्सत्यं कृष्णधेनूनामिति। ॐ नमो भगवति कूष्मांडिनीति ॥ महादेवं नमस्कृत्येति ॥ एवमनेन मंत्रपीठोस्ति तस्याक्षरस्यसप्तवारंजपेत् ॥ ततः शुद्धमानसः सप्तवारत्रयंमक्षं निपातयेत् ॥ ततः शुभशुभंब्रूयानात्र कार्या विचारणा। तस्यपुत्रं निपतति यः श्रद्धासमन्वितो भक्तियुक्तो भवति तथाहि ॥१११॥

पदं पदं पदंचैव पतितः शोभनस्तदा ॥ शुभं तु दृश्यते तत्र सर्वारंभेषु चिंतितं ॥ संचार्थलाभोवा व्यवहारे समागमे ॥ शोभनंचैव वक्तव्यं होराज्ञानस्यचिंतकैः ॥११२॥ पदं पदं द्विकं चैव ॥

अन्त०—मुखेन चंद्रकांतेनमहानोलैः शिरोरुहैः ॥
पादाभ्यांपद्मणभ्यांरेजेरत्नमयीवसा ॥१५॥
तद्वक्त्रं यदिमुद्रिताशशिकथातच्चेत् स्मितंका सुधा
तचक्षुर्यदिहारितं कुवलयैस्ताश्चेद्गिरोदिङ्मधु ॥
धिक्तं दर्पधनुभ्रुवौयदिचतेकिंवाबहुब्रूमहे ॥
यत्सत्यंपुनरुक्तवस्त्रविमुखः सर्गक्रमोवेधसः ॥१६॥
सौरम्यंमृगलांछनेयदिभवेदिंदीवरेवक्त्रं ॥ ता
माधुर्यंयदिविद्रुमेतरलताकंदर्पचापोयदि ॥
रंभायां यदिविप्रतीपगमनंप्राप्तोपमानंतदा ।
तद्वक्त्रंतदीक्षणंतदधरस्तद्भ्रूस्तदुरूयुगं ॥१७॥
यतोयतोंगादपयातिकंचुकस्ततस्ततः स्वर्णमरीचिवीचयः ॥
यतो यतोस्यानिपतंति दृष्टयः स्ततस्ततः स्यामसरोजवृष्टयः ॥१८॥
अकृशंनितंब भागेक्षामं मध्येसमुन्नतं कुचयोः ॥
अत्यायतंनयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥१९॥
आव्याजसुंदरीतां विज्ञानेनाद्भुतेन योजयता ॥
उपकल्पिता विधात्रा बाणः कामस्य विषदग्धां ॥२०॥
वेणी विडंबय मत्तमधुव्रतालीमंगीकरोति गुणमैंदवमास्यमस्याः ॥
बाहू मृणाललतिकाश्रियमाश्रयेते पुंखानुपुंखयति कामशरात्कटाक्षः ॥२१॥
तदातदंगस्यबिभर्तिविभ्रमंविलेपनामोदमुचः स्फुरद्भुवः ॥
दरस्फुरत्कांचनकेतकीदलप्रसुवर्णमभ्येतिसौरमयति ॥२२॥
भ्रूपल्लवंधनुर……।

विषय—काव्य।

टिप्पणी—१—यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के नायिका-भेद से सम्बन्धित प्रतीत होता है। खण्डित तथा अन्त के पृष्ठ के नहीं होने के कारण ग्रंथकार और

लिपिकार के नाम आदि का पता नहीं चलता है। ग्रंथ के बीच में भी कहीं ग्रंथकार ने अपने विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया है।

२—ग्रंथ सुपठ्य है। इसमें नारी के विभिन्न अंगों का बड़ा ही सुन्दर और साहित्यिक वर्णन किया गया है जैसे—पृष्ठ ३३ में—

अथरोमावली।
गंभीरनाभिद्रुमसंनिधाने रराज नीला नवरोमराजी ॥
मुखेंदुभीतस्तनचक्रवाकद्वंद्वोज्झिताशैवलमंजरीव ॥६॥
लावण्यामृतसंपूर्णानाभिकूपात्प्रवर्तिता।
रेजे कुल्येव रोमाली सेक्तुं यौवन काननं ॥७॥
अथनाभिः ॥
मन्ये समाप्त लावण्य रसगर्भेमृगीदृशां ॥
अपूरयन्वेगवतो नाभिरंध्रंचतुर्मुखेः ॥८॥
कुचकुंभौ समालंब्य तरंती कांतिकां निम्नगां ॥
प्रमादतस्ततोभ्रष्टादृष्टिर्नाभौ निमज्जति ॥९॥

एक स्थान पर और भी देखिये कवि ने कैसा वर्णन किया है—

अथ स्त्री सेवा प्रकारः ॥
सेवनं योषितां कुर्याद्बुधोबुद्ध्या यथाक्रमं।
बालारूढातियोग्यानामृतराग विभावनात् ॥१॥
बालेतिगीयतेनाम यावद्वर्षाणिषोडश ॥
तस्मात्परंचतरुणीयावतास्त्रिंशतिर्भवेत् ॥२॥
तदूर्ध्वमतिरूढास्याद्यावत्पंचाशतं भवेत्।
वृद्धा तत्परतो ज्ञेया सुरतोत्सववंचिता ॥३॥
निदाघशरदोर्बालापथ्यांपर्यंकणो भवेत् ॥
हेमंते शिशिरे योग्या प्रौढा वर्षावसंतयोः ॥४॥
नित्यं वा सेव्यमानापि बालावर्धयतेबलं ॥
क्षयं नयति योग्या स्त्री प्रौढा जनयते जरां ॥५॥

पूरे ग्रंथ में नारी से सम्बन्धित कामशास्त्र की चर्चा की गई है। प्रतीत होता है यह रतिशास्त्रविषयक कोई रचना है। इसमें रघुवंश कुमारसंभव तथा शिशुपालवध आदि के भी श्लोक उद्धृत हैं।

३—ग्रंथ की लिपि स्पष्ट किन्तु प्राचीन है। यह ग्रंथ प्रो० श्री भागवत प्रसाद जी, एम्० काम०, गया कालेज, गया से प्राप्त हुआ।

(६१) तुलसीमालोपनिषद्— ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। पृष्ठ—४। प्र० पृ० पं० लगभग २०। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज।
भाषा—संस्कृत। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारम्भ०—ऊँ नमस्तुलस्यै ॥ अथ तुलसीमालोपनिषद ॥
सनत्कुमारम्विधिनोपपन्नं प्रकृतनारदोदेवर्षिः
प्रबूहि मे तुलसीकाष्ठमाला कथन्धार्यकिम्फलं कश्चकालः ॥१॥
को विधिः का रीतिः सनत्कुमारः प्रोवाचतस्मैमुनये नारदाय।
स्वस्मै पुरा दृष्टवतेविधात्रा यथोपदिष्टं तुलसी महत्वम् ॥२॥
देवीन्दधानस्तुलसीन्महात्माविष्णुप्रियां सर्वपापहन्त्रीम्।
समस्त पापानिविधूय सद्य परात्परम्पदमन्ते प्रयाति ॥३॥
श्रीशोजयतु ॥ विधिकरके युक्तयो सनत्कुमारतिन देवतर्षिजोनारदशो प्रश्नकरत भए कौन प्रश्न शो शुनो श्रीतुलशीकाष्ठ की माला किश प्रकार शो धारण करना वो क्या फल है वो कौ काल हे ॥१॥ वो क्या विधि हे वो क्या रीति हे, यह प्रश्न शुनकर सनत्कुमार नारद मुनि वास्ते प्रश्नोत्तर करत भय पूर्व ही प्रश्नकर्त्ताजो में तिश शे जैशा तुलशी महत्व ब्रह्मा ने उपदेश किया शो शुनो ॥२॥

अन्त की पंक्तियाँ—अथ हैतामुपनिषदन्न परशिष्याय ब्रूयात् न नास्तिकाय नानृजवे नासूयवे न शठाय ना शान्ताय ना दान्ताय ना समाहिताय प्रब्रूयात् ज्येष्ठपुत्राय परां तामुपनिषदम्प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापन्नाशयति सायमधीयानो दिवसे कृतं पापन्नाशयति स विष्णुलोकं गच्छति य पूर्व वेद य पूर्ववेदेति ॥ इत्यथर्ववेदीया तुलसीमालोपनिषद् सम्पूर्णा ॥
वो यह उपनिषद परशिष्य को नहीं कहे नास्तिक को नहीं कहे निन्दक को नहीं कहे शठ को नहीं कहे अशान्त को नहीं कहे अदान्त को नहीं कहे असमाधान को नहीं कहे ज्येष्ठ पुत्र को कहे, यह उपनिषद को प्रात काल अध्ययन करनै वाले मनुष्य रात्रि का किया पाप को दूर करता है। वो सायंकाल अध्ययन करने वाले दिन का किया पाप को नाश करता है वो सो पुरुष विष्णुलोक को प्राप्ति करता है जो यह जानता हे शो ॥ इत्यथर्ववेदीया सभाषा तुलशीमालिकोपनिषदं सम्पूर्णा ॥ शुभमधिकम्।

विषय—धार्मिक-साहित्य। तुलसी-माला से सम्बन्धित स्तोत्र एवं माला-जप-विधि।

टिप्पणी—१—यह ग्रंथ तुलसी-वृक्ष की बनी माला के सम्बन्ध में है। ग्रंथकार ने 'अथर्ववेदीय' लिखकर ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है। ग्रंथ में, प्रारंभ करते हुए नारद आदि के परस्पर वार्तालाप की प्रसंग-चर्चा की गई

है। २—ग्रंथ में, मूल मोटे अक्षरों में और भाषा-टीका पतले अक्षरों में लिखी गई है। टीका की शैली पुरानी और कथा-शैली से मिलती-जुलती है। ग्रंथ की लिपि स्पष्ट और प्राचीन है। लिपिकार ने 'ब' के लिए 'व' और 'व' के लिए ('व़') व के नीचे विन्दु का प्रयोग किया है। इसी प्रकार अ के लिए 'य' और य के लिए ('य़') य के नीचे बिन्दु देकर लिखा है। लिपि की यह शैली ग्रंथ की प्राचीनता सूचित करती है। ३—इस ग्रंथ के साथ ही एक और ' शंख—चक्र-धारणे वैदिक प्रमाणानि' नामक तीन पृष्ठों का उपग्रंथ है। यह दोनों पुस्तिका वैष्णव आचार से सम्बन्ध रखती है। यह ग्रंथ श्री केदारनाथ चौरसिया, गया के सौजन्य से प्राप्त किया। ग्रंथ बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है।

(६२)—महाभारत और भागवत के मिश्रित-खंड—ग्रंथकार—×। लिपिकार—अवस्था—× प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ— ८५। प्र० पृ० पं० लगभग—३२। भाषा-संस्कृत। लिपि— नागरी। रचना काल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ०—शुको यदाह भगवन्विष्णुरातापशृण्वेत
सौणोणामोसिमासिना नावसति सप्तकः ॥२७॥
तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः ॥
ब्रूहिनः श्रद्धधानानां ब्रूह्मसूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥
सूत उवाच ॥ अनाद्य विद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनां ॥
निर्मितो लोकेषु परिवर्तते ॥२९॥
एक एवहि लोकानां सूर्य्य आत्माहिकृद्धरिः
सर्ववेदक्रियामूल मृषिभिर्बहुधोदितः ॥३०॥
कालो देशः क्रिया कर्ता कारण कार्यस्यागमः ॥
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मं तवधोक्तो जुपा हरिः ॥३१॥

अन्त०—तावार्य्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृवंधुभिः ॥
गोविंदापहृतात्मानो न न्यवर्त्तंत मोहिताः ॥
अंतर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योलब्धविनिर्गमाः ॥
कृष्णं तद्भावनायुक्तादध्युर्मीलितलोचना ॥९॥
दुःसहश्रेष्ठविरहतीव्रतापधुनाशुभाः ॥
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निवृत्यात्माणमंगलाः ॥१०॥
तमेव परमात्मानंजारबुद्ध्यापिसंगताः ॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्राक्षीण बंधनाः ॥११॥
राजोवाच ॥ कृष्णं विदुः परं कातं नतु ब्रह्मतया मुने ॥
गुण प्रवाहो परमस्तासां गुणधियां कथं ।

श्री शुक उवाच ॥ उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः ॥
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताघोक्षजप्रियाः ॥१३॥
नृणांनिःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ॥
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१६॥

विषय—भक्तिकाव्य।

टिप्पणी—इस ग्रंथ में अनेक छोटे-छोटे उपग्रंथों का संग्रह है। उपग्रंथ के प्रारम्भ और अन्त के अंश खण्डित होने के कारण इसके नाम का पता नहीं चलता। इसी प्रकार ग्रंथकार और लिपिकार के नाम का भी संकेत नहीं मिलता है।

पूरे ग्रंथ में निम्न लिखित उपग्रंथ हैं—(इनके पृष्ठ भी अलग-अलग हैं, किन्तु नये क्रम से पृष्ठ दे दिये गये हैं)

(इसमें लिखा है—सन्संमत् १८७१ ॥ शुभमस्तु ॥)

इस ग्रन्थ की जिल्द में पृष्ठ इधर-उधर हो गए हैं। ग्रंथ सं० ३७ के अन्त में निर्दिष्ट संवत् लिपिकाल का है। लिपि स्पष्ट किन्तु प्राचीन है। लिपिकाल १६ वीं शताब्दि है। ग्रन्थ अनुसंधेय है।

यह ग्रन्थ श्री केदारनाथ जी चौरसिया, गया के सौजन्य से प्राप्त किया। ग्रन्थ बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् के संग्रहालय में सुरक्षित है।

(६३)—रत्नमालिका—ग्रंथकार—श्री कंदाल भावनाचार्य्य। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ—६४। प्र० पृ० पंक्ति लगभग—२८। भाषा-संस्कृत। लिपि–नागरी। रचनाकाल—मार्गशीर्ष, कृष्ण. सप्तमी, गुरुवार, सं० १८०७ वि०।

प्रारम्भ०—यत्पादारविंदानंदवांछया श्री लक्ष्मणापित्तपः आचरतेतत्पादारविंद अस्य लभतेअस्य भाग्यविशेषं न विद्महेत्यर्थः एवं प्रकारेण नागपत्नीषु शरणंगतासुसतीषु भगवान् श्री कृष्णः एककालीयः शरणागतोन भवति तथापि शरणागतानां स्त्रियां याचितं विफलं चेतमशरणागतरक्षण कृतस्य अंतराय इति श्रीपशुर्मनुष्यः पक्षीवा येच वैष्णव संश्रयाः तेनैव प्रयास्यंतितद्विष्णोः परमपदमिति ६१ शास्त्रार्थं विरोधं भवतीतिदिव्यचित्रे

निधाय भागवता पराधिनमपिनागराजंररक्ष अनेन श्री शरणंगच्छति चेत्ततत्पति पुत्रमित्रभृत्यसेवकादयः भगवतारक्षणं प्राप्ताः पतिश्च भार्यायाः रक्षितः भर्तारं विभ्रतिमार्या इत्युक्तेन शरणागत्पापनिश्चर क्षणं प्राप्नोति पुरुषः शरणं गच्छतिचेत् पुत्रमित्रकलत्रसेवकपश्वादयः भगवतः रक्षणं प्राप्य परमपदं आपुरिति सूचितं।

अन्त०— गृहस्थसंन्यासलक्षणंच रहस्यत्रयार्थंचज्ञान भक्तिवैराग्याणिच श्री वैष्णवपादरजो वैभवंच श्री पादतीर्थवै भवंचश्रीवैष्णवाचारांश्च प्रपन्ना-चारांश्च एकांतिनामाचारांश्च परमैकांतिनामाचारांश्च अन्याश्रमस्य रूपंच अवधूताश्रमस्वरूपंच विशदीकृतं शोधनेकृतेसति प्रकाशयति श्रीमद्रामानुज मुनिचरणारविंदध्यानाल्लब्धज्ञानिनः श्रीकंदाल भावनाचार्याभिधानोऽहं एतां शरणागतरत्नमालिकां श्रीमहाभागवत पुराणे आलोडय श्रीवेद व्यासमुनिना यथा कृष्णं तथैव कृतवानस्मि एषा शरणगतरत्नमालिका श्रीवैस्नवानां प्रपन्नानां अनुदिनमनुसंधेया अस्याः अनुसंधानमात्रेण अस्तु इत्युक्तपारमार्थिकशरणागतनिष्ठां..... भूत्वा भगवतः दिव्यश्रीपादार विंदानंदंलब्ध्वा देहांते परमपदं प्राप्नोति.........२ श्रीनिवासांघ्रिसद्भक्तं श्रीरंगगुरुमाश्रये १ श्री रामानुजाचार्य दिव्याज्ञां प्रतिवासरमुज्भतां दिगंतव्यापिनी भूयात्साहिलोकांहर्षिणी २ कावेरीवर्द्धतांकालेवर्षतु वासवः श्रीरंगनाथोजयतु श्रीरंग श्रीश्चवर्द्धतां ३ श्रीमन् श्रीरंग श्रीयमनुपद् वामनुदिनंसंबद्धेयं अज्ञंसर्वज्ञहेरनिसक्तिसर्वशक्तिमन्कारुणिकः ४ सापराधंत्वत्परतंत्रंस्वर्तत्रं परिपाहि श्रीशैलपूर्णाणघगुणसिंधु सुधाकराय ५ सुधाकरात्माजयरोषनारायण देशिकार्थयः वदेत्यदावेंकट देशिकेंइं श्रीमद्वादिभयंकरगुरवेनमः ६ श्रीमतेरामानुजायनमः।

विषय—भक्तिकाव्य। वैष्णव-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन।

टि०—१—यह ग्रन्थ किसी वैष्णव मत के सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ की टीका है। इसमें यत्र-तत्र अन्य दार्शनिक तथा श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी प्रमाण दिये गये हैं। ग्रन्थ अनुसंधेय है।

२—ग्रन्थ में ग्रन्थकार का नाम नहीं है किन्तु अन्त के 'श्रीकंदालभावनाचार्य्य-भिधानोऽहं एतां' आदि वाक्य से प्रतीत होता है कि कोई कंदाल भावनाचार्य्य नामक वैष्णव ने भागवत पुराण के आधार पर लिखित ग्रन्थ की 'रत्नमालिका' नाम की टीका की है। टीका की शैली प्राचीन तथा असम्बद्ध है।

३—ग्रन्थ के लिपिकार ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। ग्रंथ की लिपि स्पष्ट तथा प्राचीन है। लिपिशैली मध्यकालीन मालूम होती है।

यह ग्रंथ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ (छपरा) के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

(६४)—नैषध-चरित-टीका—ग्रंथकार—श्रीहर्षकवि। टीकाकार—श्री पं० नारायण जी। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन; हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ-१२८ प्र० पृ० पं० लगभग—२२। रचनाकाल—×। टीकाकाल—×। लिपिकाल—×। भाषा-संस्कृत। लिपि-नागरी।

प्रारम्भ०—महेति ॥ नाम प्रसिद्धौ साधवः स्वनामना ददते कथयंति। ईदृशी महाजना नामाचारपरम्परा यतः। अतः कारणात् तत्स्वनाम अभिधातुं वक्तुं नोत्सहेनेच्छामि। वुलं कथितं नाम न कथनीयमित्यर्थः। अत्र हेतुः किल यस्मा जनः आचारमुचं पुरुषं पुनर्विगापयति निंदति। अतो न कथ्यत इत्यर्थः। आत्मनाम गुरोर्नाम नामापि कृपणस्यच। आयुःकामी न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोरिति सदाचारोमूलं। आददते आङ्गो दो नास्यविहरणे इति तङ्॥१३॥ अद इति अयंनलोऽदः पूर्वोक्तंवचनमालप्योक्त्वातुष्णींबभूव। किंभुजः शारदो निपुणः हिंसाप्रदोवाऽतएवाहिताः शत्रवस्तेषामपकारकः। क इव शारदः शरत्संबन्धी शिखीव मयूरइता। यथाहीनां सर्पाणां तापं करोति एवं भूतोमयूरः प्रावृषि रुतं कृत्वा शरदि मूकी भवति। अथानंतरंच......।

अन्त०—मदन्येति। ममअन्यस्मैनरत्वव्यतिरिक्तापवरायवित्कर्तृकदानं प्रति जहिश्यपितुर्नियोगेनेत्यादिकल्पनाशंकातर्कः एषा तावत् कल्पनात्वदीयवे दिवे दिवे......चेत्तर्हित्वं निशोपि रात्रेपि सोमाच्चंद्रादितरोन्यः कांत प्रियस्तस्य शंकां अस्यवेदस्य अत्रेसरंपुरोवर्ति...कुरुवेदस्यात्रेसरः आदौ औंकारो भवति रात्रेश्चंद्रादन्यः कांतो न तथा नलातिरिक्तो ममेत्यर्थः... कार्तृकंदानंवा अग्रेसरं पुरोग्रतोग्रेषुसर्तेरितिटः अजाद्यदंतमितिपूर्वनिपात कृत्वाग्रशब्दस्य परनिपातकरण सप्तम्येकवचनेन...दंतत्वार्थं यूयं तदग्रसरमित्यादयः प्रयोगाच्चाग्रतः सरति अग्रेणेवेति समर्थनाय॥ सरोजिनीति हे हंस सरोजिन्याः'कमलिन्याः मानसरागः अंतःकरणानुराग स्तस्य वृत्तेः सद्भावस्यस्थितेः अनर्केण सूर्यादन्येन सह संपर्कं संबन्धं अतर्कयित्वा अविचार्य तवेयं ममान्येननलव्यक्तिरिक्तेन पाणिग्रहः परिणयस्त......।

विषय—संस्कृतकाव्य।

टिप्पणी—यह ग्रंथ प्रसिद्ध 'नैषध-चरित' काव्य की टीका के रूप में लिखा गया है। टीकाकार ने सर्गों के अन्त में अपना परिचय निम्नलिखित शब्दों में

दिया है—'इतिश्री वेदरकरोपनामश्रीमन्नरसिंहपंडितात्मजनारायण-कृतेनैषधीय प्रकाशे तृतीयः सर्गः। शुभमस्तु॥' टीका का 'नैषधीयप्रकाश' नाम है। टीका अच्छी है। इसमें व्याकरण की टिप्पणियाँ भी यथास्थान दी गई हैं। टीका की शैली प्राचीन है। ग्रंथ की लिपि अस्पष्ट और प्राचीन है। ग्रंथ खंडित है। प्रारंभ के पृष्ठ फटे होने के कारण प्रारंभ की पंक्तियाँ पृष्ठ सं० ५ से दी गई हैं। सभी सर्गों की पृष्ठसंख्या पृथक् पृथक् दी गई है। इसमें १, ५, ६ ७, ९ १०, ११, १६, १७ १८, १९, और २० वाँ सर्ग नहीं है। जो सर्ग हैं उनके भी पृष्ठ बीच-बीच में फटे हैं और कुछ तो बिल्कुल नहीं हैं—दूसरे सर्ग में केवल पाँच ही पृष्ठ हैं। पूरे पृष्ठ मिलने पर इस ग्रंथ की एक अच्छी टीका का उद्धार हो सकता है। यह ग्रंथ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ (छपरा) के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

(६५) रामकृष्णकाव्यम्—ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ—४०। प्र० पृ० पं० लगभग—२०। भाषा—संस्कृत। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ०—श्री रामतो मध्यमतोदिवेनधीरोवुशंवश्यवतीवराद्वाः धारावतीवश्यवशंनिषेधी नचेदितो मध्यमतोमराश्रीः॥५॥ (मूल) अथमायापक्षस्य समन्वं स्यातुंन शक्नोतीति शंक्यानुसंधानेन मायातिरस्कारादयुक्तं तन्त्रात्मज्ञाने महा-नामसः श्रीराम सेवायातुविद्याप्राप्तीः तप्राप्तिकालस्वज्ञान निराशाद्रति विषमाया रथेन्द्रज्ञयाह श्री रामद्रुतिवा इत्यर्थः वासयुष्माचधीरः येनानिशं श्रीरामनोमध्यमतो श्रीरामतो निमित्तभूताअर्घ्यं मध्ये अवसासमानं प्रपंचाख्यं असोदिनाशितं स एव धीर इत्यर्थः। किं भूतात् श्रीरामतः वश्यवती-चरात् वश्यंनेतुं समर्थम्। वश्यंरूपं तद्वतीजानकी तस्याः वरात्। (टीका)

अन्त०—समवस्यभवंक्षयैकहेतोस्सितसप्तेशविधास्थतोस्सहार्थम्॥ रिपुराध··· प्रकृतिप्रत्ययोरिवानुबन्ध॥ अथदीपितया...।

विषय—काव्य। जीवनचरित्र।

टि०—१-यह ग्रंथ महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। मूल ग्रंथ श्री रामकृष्ण काव्य है और साथ में ग्रंथ की टीका भी है। राम और कृष्ण के जीवन पर मुक्तक रचना की गई है। संस्कृत साहित्य में इस नाम की तथा इस प्रकार की किसी अन्य रचना का पता नहीं है। ग्रंथ विवेच्य और अनुसंधेय है।

२-ग्रंथ की लिपि अत्यन्त अस्पष्ट और प्राचीन है। खंडित होने के कारण ग्रंथकार, टीकाकार तथा लिपिकार के न तो नाम का ही पता

चलता है और न रचनाकाल या लिपिकाल का ही । ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ अवश्य १७ वीं–१८ वीं शताब्दि में लिखा गया है। यह ग्रंथ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ (छपरा) के सौजन्य से प्राप्त किया ।

(६६) सिद्धान्त चन्द्रिका—ग्रंथकार—श्री रामाश्रमाचार्य । लिपिकार—गुरुप्रसाद दीक्षित। अवस्था—अच्छी, प्राचीन, देशी कागज । पृष्ठ—१६ । प्र० पृ० पं० लगभग—२२ । भाषा—संस्कृत । लिपि—नागरी । रचनाकाल—× । लिपिकाल—वैशाख, वदी पंचमी, सं० १९२१, मंगलवार ।

प्रारम्भ०—श्री गणेशायनमः कृत्कर्तरि वक्ष्यमाणः प्रत्ययः कृत्संज्ञकः स च कर्तरि तुबुधो धातोः यत्का कृतः वसादेः कृ इट् भविता कुट् कौटिल्ये कुटिता गोपायिता गोपिता गोप्ता सहिता सोढा एषिता एढा युधोरनाकौ याचकः पाचकः भावकः दोषकः घातकः जायते जनयतिवा जनकः जनिवध्योर्नवृद्धिः घटकः मांतस्यसेटोर्नवृद्धिः दरिद्रायकः कोटकः शमकः नियामकः ।

अन्त०—भावंनावार्थप्रत्ययांतेव्यर्थेकृभ्वोत्काणमौ नानाकृत्वानानाकृत्य गतः नानाकृत्वा नानाकारं विनाकृत्य विनाकृत्वा विनाकारं नानाभूयनानाभूत्वा नानाभावत् एकधाकृत्यएकधाकृत्वा एकधाकारं अनेकंद्रव्यमेकंभूत्वा एकधाभूयएकधाभूत्वा एकधाभावं प्रत्यय ग्रहणेकिंहिसातृकृत्वा तुष्णींशब्देभुवः त्काणमो तुष्णींभूयगतः तुष्णींभूत्वा तुष्णीभावं अन्वकशब्देभुवः त्काणमौ अनुकूलोगम्ये अन्वग्भूयास्ते अन्वग्भूत्वा अन्वग्भावं अग्रतः पार्श्वतः पृष्ठतोवानुकूलोभूत्वास्ते इत्यर्थः अनुकूल्ये किं अन्वग्भूत्वातिपृष्ठतोभूतित्यर्थः वर्णात्कारः अकारः इकारः वकारः रादिफोवारेफः रकारः लोकाछेषस्यसिद्धिर्यथामतिरादेः ।

इति श्रीरामाश्रमाचार्यविरचितायां सिद्धान्तचन्द्रिकायामुत्तरार्द्धः समाप्तः शुभंभूयात् ॥ श्री शिवाय नमः श्री सीतापतयेनमः ॥

वि०—चान्द्रव्याकरण ।

टि०—यह ग्रंथ प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण ग्रंथ है । अन्त में लिखा है—"यह पोथी शहर बनारस में दिवाकर छापाखाने में साकीन मोहल्ले भदैनी काली महल के पास शिवचरन के इहाँ चंद्रिकाकृतांतसहित छपावा गया गुरु प्रसाद दीक्षित व छापनेवाले मातादीन यः पोथी जिसको लेना होवे सो चादनीचौक मेकुंजगली के फाटक के पछिम तरफ रामचरन के दुकान पर मिलेगी श्रीसम्वत् १९२१ मिति वैशाख वदी पंचमी वार मंगरवार तृतीय प्रहरे समाप्तम् ॥" प्रतीत होता है, ग्रंथ का छीपी

टाइप किया गया है। किन्तु लिपिकार ने व के लिये (व़) 'व' के नीचे विन्दु देकर और 'ब' के लिए 'व' का प्रयोग किया है। ग्रंथ में पूर्ण-विराम, अर्धविराम आदि चिह्न उपेक्षित हैं।

यह ग्रंथ मोकामा के शंकरवार टोला निवासी पं० श्री केशवप्रसाद शर्म्मा जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

(६७) सिद्धान्तचन्द्रिका—(सुबोधिनी-सहित)—ग्रंथकार—श्रीरामाश्रमाचार्य। टीकाकार—श्री सदानन्दः। लिपिकार—×। अवस्था अच्छी है, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ—१२१। प्र० पृ० पं० लगभग—३६। भाषा-संस्कृत। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—वैशाख शुक्ल तृतीया, सं० १९३५, रविवार।

प्रारम्भ०—ओं श्रीगुरवे नमः ओं नमस्कृत्य महेशानं मतं बुद्धाव तंजलेः वाणीप्रणीन सूत्राणां कुर्वे सिद्धान्तचन्द्रिकां १ अइउऋऌसमानाः अनेन क्रमेणैतेवर्णाज्ञेयाः ते च समानसंज्ञाः स्युः ॥२॥

नैतेषुसूत्रेषुसंधिरजुसंधेयोऽविवक्षितत्वाद्विवक्षितस्तुसंधिर्भवतीति नियमात् ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाः सवर्णाः एतेषां ह्रस्वदीर्घप्लुताः सजातीयाः परस्परं सवर्णा भण्यंते ऋऌवर्णौच एकमात्रो ह्रस्वः।

ओं श्री गणेशायनमः पुराणपुरुषंध्यात्वानत्वाचार्हंतनायकम् सिद्धान्त-चंद्रिकावृत्तिंचर्करीमित्तरीमहम् १ विद्यारत्नपयोनिधौखरतराम्नाये जगत्पूजके।श्रीभट्टारकसंपदंगुणगणैः स्तुत्याधरन्पुण्यवान्॥ पूज्यश्रीजिनभक्तिसूरिरधिपोवर्वर्तिविद्यानिधिः। सोयंशीतकरायते च यशसासूरायते तेजसा २

चार्थे द्वन्द्व इति निपातनात्पुंस्त्वमपि॥ शेषा निपात्याः कत्यादयः॥ का संख्या येषांते कत्ति दाविकः शाशकः। दात्यौहः। दार्घसत्रः॥ आयसः॥ इतिश्री रामाश्रमाचार्य्यविरचितायां सिद्धान्तचन्द्रिकायाम् पूर्वार्द्धं सम्पूर्णम्॥

अण् दित्यौहः। इदं दात्यौहं वहोवौ इत्यौत्वं निपातनात् अण् दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रं अणश्रेयसि भवं श्रायसं अणिति तद्धित प्रक्रिया॥ श्रीमत्यानकवर्य भक्ति विनया विख्यात कीर्ति प्रभा राजेन्द्रैः परिपुजिताः सुकृतिनः पुंभाव वाग्देवताःमंतारोजगतां पतिंगुण गणै र्विभ्राजमानाः सनत् संवेगादियुजो जयंतु सततं षड्शास्त्रविद्याविदः १ तेषां शिष्यः सदानंदस्तदनुग्रहभूषितः॥ सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्तिं पूर्वार्द्धं चर्करीदिमाम्॥ इतिश्री सिद्धान्तचन्द्रिकाव्याख्यायां सदानंदकृतौ पूर्वार्द्धः समाप्तिमगात्॥

विषय—संस्कृत व्याकरण ।

टिप्पणी—यह पोथी 'सिद्धान्त चन्द्रिका' की टीका है । टीका की शैली प्राचीन और विस्तृत है । यह टीका संभवतः अप्रकाशित है । ग्रंथ की लिपि स्पष्ट और प्राचीन है । टीकाकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना विशेष परिचय दिया है । यह पोथी मोकामा के शंकरवार टोला निवासी पं० श्री केशव प्रसाद शर्मा के सौजन्य से प्राप्त हुई ।

(६८)—सारस्वत-व्याकरणम्—ग्रंथकार—श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य । लिपिकार—दुर्गा मिश्र-सिद्धेश्वर मिश्र । टीकाकार— पं० श्री वासुदेव भट्ट ।

अवस्था—अच्छी, प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज । पृष्ठ—६ ।

प्र० पृ० पं० लगभग—२८ ।

भाषा—संस्कृत । लिपि—नागरी । रचना काल— × । लिपिकाल—श्रावण, कृष्ण, सप्तमी, सं० १९२८ ॥

प्रारंभ०—श्री गणेशायनमः ॥ प्रणम्य परमात्मानं बालधिवृद्धिसिद्धये ॥ सारस्वती मृजुं कुर्वे प्रक्रियांनातिविस्तरां इन्द्रादयोपियस्यांतं नययुः शब्दवारिधेः प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमोवक्तुं नरः कथम् तत्रतावत्संज्ञा संव्यवहाराय संगृह्यते ॥ (मूल)

श्री गणेशाय नमः सरस्वत्यै नमः ॥ गणेशाय नमः ॥ नमस्कृत्य जगन्नाथं रामंराजीव लोचनम् ससीतं लक्ष्मणोपेतं मुरारिकुलभूषणम् १

सारस्वतप्रसादाख्या बालानाम्बुद्धिदां मुदा क्रियते वासुदेवेन सरस्वत्याः प्रसादतः २

अन्त०—कतिपयाभ्यां थः कतिथः कतिपयथः संख्यायाः प्रकारे धा द्विप्रकारं द्विधा चतुर्धा गुणो अण् च द्वेधा त्रेधा णित्वाद्वृद्धिः यस्यलोपः अतोम् द्वैधं त्रैधं क्रियाया आवृत्तौकृत्वस् पंचकृत्वः सप्तकृत्वः द्वित्रिभ्यां सुः द्विः त्रिरुक्तं बह्वादेः शस् बहुशः शतशः तयाडयटौ संख्यायां द्वितीयं तृतीयं द्वयं त्रयं शेषा निपाताः कत्यादयः का संख्या येषांते कति ॥ इति तद्धित प्रक्रिया समाप्ता ॥ (मूल)

भूरिशः गणशः स्तोकशः अल्पशः अनेकश इत्यादि तयापटविति तपश्च अयट् च तौ संख्याया अवयवस्वविवक्षायां भवत इत्यर्थः द्वावयवौ त्रयोवायवा इति विग्रहः द्वितयी त्रितयीत्यत्र नदादित्वादीप् द्वयी त्रयीत्यत्रायटष्टित्वाट्टिवत् इती केचित्तुतयायडौ इति पठित्वा डित्वा-ट्टिलोपे नदादित्वा देवेपू इत्याहुः सचसत् यस्य लोप इत्येव सिद्धे डित्व वैयर्थ्य प्रसंगात् तद्धित प्रत्ययानामनंतस्वात्कात्स्न्येनाभिधातुमशक्य-त्वादनुक्तनिष्पत्यर्थमाह शेषा इति निपातात्साधवो निपात्याः

किमस्संख्या परिप्रश्ने डतिः का संख्यैषां कतिः एवं यतितति इत्यादि प्रयोगादूह्यम् ॥ इति श्री भट्ट वासुदेव विरचिते सारस्वतप्रसादेतद्धित-प्रक्रिया समाप्ता ॥

विषय—संस्कृत व्याकरण ।

टिप्पणी—यह प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ 'सारस्वत प्रक्रिया' की टीका है । टीका की शैली प्राचीन और बोझिल है । टीकाकार ने अपना कोई विशेष परिचय ग्रन्थ में नहीं दिया है । तथापि प्रतीत होता है कि यह टीका अप्रकाशित एवं अप्रसिद्ध है । ग्रन्थ की लिपि स्पष्ट तथा लीथो टाइप-सी मालूम पड़ती है । ग्रन्थ के अन्त में "वह पोथी सहरबनारश दिवाकर छापाखाने मे सारस्वत सटीक शिवचरन के इहां छपी साकीन महल्ला भदैनी कालीमहल के पास वाः दुर्गा मिसिर वो सोधने वाले का नाम सिद्धेश्वर मिसिर वो छापने वाले का नाम बदल" लिखा है । इससे स्पष्ट है कि यह लीथो टाइप ही है । यह पोथी पटना जिलान्तर्गत मोकामा के शंकरवार टोला निवासी प्रसिद्ध राष्ट्र-कर्मी पं० श्री केशव प्रसाद शर्म्मा जी के सौजन्य से प्राप्त हुई ।

संस्कृति कल्याण की आधार-शिला

संस्कृति कल्याण की आधार-शिला पर खड़ी होती है । कल्याण की भावना से अनेक हाथ एक साथ मिलते-उठते हैं, अनेक कंधे सहारा देते हैं । अनेक एकवत् हो जाते हैं, और वह एकत्र हित के लिए, एक-एक के हित के लिए नहीं, सबके एकस्थ हित के लिए; और संस्कृति की काया आकार धारण कर लेती है; उसके प्रसार में एक स्कंध जुड़ जाता है । शिव की भावना संस्कृति की आधार-शिला है । शक्ति और ओज वांछनीय होकर भी संस्कृति के प्रेरक नहीं, उसके निर्माता नहीं । त्याग, स्नेह-समर्पण, अनुराग, क्षमा और शान्ति संस्कृति के सहज स्रष्टा हैं । संस्कृति वनैलेपन पर मानवता की विजय है । पशु की प्रतिक्रिया शरीरज है, तत्काल होती है; मनुष्य की मानस है, परिणाम को गुनती है । पशु अपकार और प्रतिशोध में क्षण-भर का भी अन्तर नहीं आने देता, मानव उसके औचित्य की मात्रा और रूप पर विचार करता है । उस मध्यगत विचार के आकार और मात्रा ही मानवता को पशुता से पृथक् करते हैं । इन्हीं से संस्कृति का संसार बनता है; इन्हीं के अभाव में पशु के पास संस्कृति नहीं ।

'प्राचीन साहित्य में शान्ति की परम्परा'
ले० — श्रीभगवत शरण उपाध्याय
('नयासमाज', कलकत्ता, मई १९५२ ई०)

रत्नाकर : संस्मरण

स्व० श्री जनार्दन झा 'जनसीदन'



['जनसीदन' जी द्विवेदी-युग के कृतविद्य लेखक थे। उनके संस्मरणों का ऐतिहासिक महत्त्व है। हम 'साहित्य' में प्राचीन लेखकों की इस प्रकार की अमुद्रित रचनाओं को सहर्ष स्थान देंगे—सं०]

१९०३ ई० की बात है। शिवालाघाट काशी के रहने वाले प्रसिद्ध कवि बाबू जगन्नाथ दास बी० ए० ('रत्नाकर' जी) राजा कमलानन्द सिंह का नाम सुनकर उनसे मिलने के लिए श्रीनगर (पूर्णियाँ) आये। राजा साहब ने उनका उचित स्वागत-सम्मान करके उन्हें कुछ दिन अपने यहाँ ठहराया। रत्नाकरजी मेधावी थे, अँगरेजी और फारसी के अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी भी उनकी निजी सम्पत्ति थी। व्रजभाषा की कविता के बड़े पक्षपाती थे। वे स्वयं अधिकतर व्रजभाषा में ओजस्विनी कविता करते थे और गम्भीर स्वर में बड़े मस्ताने ढंग से अपनी बनाई कविता पढ़ते थे, जिसे सुनकर रसिकजनों का दिल फड़क उठता था। वे नित्य नये-नये भावों की कविता सुनाकर राजा साहब तथा उनके आश्रित सहृदय व्यक्तियों को आनन्दित करने लगे। वे कभी-कभी अपनी विमल बुद्धि का चमत्कार दिखाकर सबको चकित कर देते थे।

एक दिन की बात है, रत्नाकरजी ने राजा साहब के छोटे भाई कुमार कालिकानन्द सिंह साहब से कहा कि मैं अँगरेजी के कल्पिताक्षरों में चिट्ठी या लेख आदि पढ़ लेता हूँ। यह सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—'ऐसा हो नहीं सकता।' रत्नाकर जी ने कहा—'प्रत्यक्षे प्रमाणाभावः' आप अभी लिखकर दें। मैं दो-तीन घंटे बाद अँगरेजी में उसकी नकल करके दे दूँगा।' इस पर कुमार साहब ने एकान्त में जाकर अपने दो-तीन अन्तरङ्गों के साथ अँगरेजी के २६ अक्षरों का रूपान्तर करके उन कल्पिताक्षरों में चार-पाँच लाइन का एक पत्र लिखकर रत्नाकरजी को पढ़ने के लिए दिया।

रत्नाकरजी डेरे पर गये और उस पत्र को पढ़कर उसकी अँगरेजी में नकल करके दो घंटे के भीतर ही कुमार साहब के पास भेज दिया। देखकर कुमार साहब के आश्चर्य की सीमा न रही। बड़ी देर तक सोचते रहे परन्तु उनके मन में कल्पिताक्षर पढ़ने की कोई युक्ति नहीं सूझी। उन के मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि शायद उनके किसी आत्मीय व्यक्ति ने चुपचाप उन्हें कल्पिताक्षर बतला दिये होंगे। इसलिए उन्होंने रात में अकेले बैठकर अँगरेजी के अक्षर दूसरे ढंग से स्वयं बनाये और तीन-चार लाइन में अपने मन की बात लिखकर दूसरे दिन सवेरे उनके पढ़ने के लिये दिया। रत्नाकर जी समझ गये कि प्रथम कल्पिताक्षर पढ़ लेने पर शायद उन्हें अपने किसी व्यक्ति पर सन्देह उत्पन्न हुआ है, इसलिए वे फिर दूसरे रूप में अक्षर कल्पित करके अपने मन की भ्रान्ति दूर करना चाहते हैं। रत्नाकरजी ने उनके सामने उसी जगह थोड़ी देर ध्यानस्थ होकर सोचा और उसकी कापी करने लगे। एक घंटे के भीतर ही उसकी नकल करके कुँअर साहब के हाथ में दे दिया। दो शब्दों में कुँअर साहब ने जान-बूझ कर स्पेलिंग में मिस्टेक

कर दिया था। वह भी उन्होंने लिखकर दिया कि अमुक अक्षर की जगह अमुक अक्षर लिखा जाना चाहिए था। अब की बार तो सन्देह की कोई बात ही नहीं रही। कुँअर साहब कुछ देर मौन धारण करके बोले—'कविजी! बतलाइये, आपने कैसे इन शब्दों को पढ़ लिया?' कविजी ने कहा—'सरस्वती की कृपा से' सरस्वती का मन्त्र जपने से, जब बुद्धि निर्मल होती है तब कल्पित अक्षरों का ज्ञान अनायास हो जाता है।' कुमार साहब ने कहा—'आप वह मन्त्र बतला दे सकते हैं?' रत्नाकरजी इस पर खूब हँसे और बोले—'किमज्ञातं सुबुद्धीनाम्!' आप तो बड़े बुद्धिमान् हैं। मन्त्र-यन्त्र तो मन्दबुद्धियों के लिए हैं। आप कुछ देर तक वर्णमयी सरस्वती का ध्यान करके सोचेंगे तो आप ही अक्षर पहचानने की युक्ति मालूम हो जायगी। मैं भी वहाँ बैठा था। कल्पित अक्षर चीन्हने के लिए बुद्धि लड़ाने की जरूरत देखकर मैंने कुमार साहब से कहा कि—'कितने अक्षरों के कौन शब्द हैं और किन-किन अक्षरों के योग से वे शब्द बने हैं उसकी कल्पना ठीक हो जाने पर प्रत्येक शब्द में कल्पिताक्षर के स्वरूप का मिलान करके वाक्य का पढ़ना सुगम हो सकता है।' कुमार साहब ने मुस्कुरा कर कहा—'अच्छा, अब हमें रास्ता मिल गया।' उसी समय उन्होंने रत्नाकर जी से कहा—'आप कुछ लिखकर हमें भी पढ़ने को दें। हम अपनी बुद्धि की आजमाइश करेंगे।' रत्नाकरजी ने कहा—'हमने तो पहले ही कह दिया था'–'किमज्ञातं सुबुद्धीनाम्!' आप की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। आप जरूर पढ़ लेंगे।' यह कहकर उन्होंने निज कल्पित अक्षरों में तीन-चार वाक्य लिखकर कुमार साहब को पढ़ने के लिए दिया। कुमार साहब के एक साले थे। नाम था उनका रमानन्द ठाकुर। वे भी अच्छे बुद्धिमान् और अँगरेजी पढ़े-लिखे थे। कुमार साहब उन्हें साथ ले कल्पित अक्षरों का निश्चय करने लगे। दोनों महाशयों ने मिलकर दो घंटों में सब शब्दों का ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त करके अँगरेजी में नकल करके रत्नाकरजी को दिखलाया। रत्नाकरजी प्रसन्न होकर बोले—'कहिये, आपने तो सरस्वती का मन्त्र बिना जपे ही पढ़ लिया। इसके लिए धन्यवाद ग्रहण कीजिये!' कुमार साहब बड़े प्रसन्न हुए। जो लोग उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहते थे कि सरस्वती का मन्त्र जप किये बिना कल्पित अक्षर पढ़ना असंभव है उनसे कुमार साहब ने कहा—'लाइये, कल्पित अक्षरों में लेख, हम पढ़ देंगे।' इस पर उनके एक मुसाहब ने निज कल्पित अक्षरों में एक पत्र लिखकर दिया। उन्होंने कुछ देर सोचकर पत्र पढ़कर सुना दिया।

बनैली (चम्पानगर) के नरेश राजा कीर्त्यानन्द सिंह बहादुर, बी० ए० ने जब यह बात सुनी, तब उन्होंने अँगरेजी के अक्षर बदल कर उन्हीं अक्षरों में एक पत्र लिखकर कुमार कालिकानन्द सिंह के पास अपने सवार के द्वारा भेजा। कुमार साहब ने सवार को कुछ देर ठहरने की आज्ञा दी। थोड़ी देर में उनके पत्र की नकल के साथ उसका उत्तर अँगरेजी में भेज दिया। देखकर राजा बहादुर बड़े अचम्मे में पड़ गये। उनके मन में यह धारणा थी कि वे उनके लेख को कभी नहीं पढ़ सकेंगे। जब ठीक-ठीक जवाब आ गया और उनके लिखे शब्दों में दो-तीन जगह जो भ्रम से दूसरे ही अक्षर लिखा गये थे, उन्हें भी कुमार साहब ने सूचित कर दिया तब राजा बहादुर असम्भव को सम्भव देख बड़ी देर तक सोचते रहे। दूसरे दिन सबेरे राजा बहादुर ने

श्रीनगर (जो उनकी ड्योढ़ी से तीन कोस के फासले पर है) आकर कुमार साहब की बुद्धिमत्ता पर हर्ष प्रकट करते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

एक दिन की बात है, दरबार में कल्पिताक्षर पढ़ने की चर्चा हो रही थी। मैंने कुमार कालिकानन्द सिंह से कहा—'मैं अँगरेजी तो कम जानता हूँ, यदि देवाक्षरों की शकल बदलकर उसमें कोई छन्द या कोई लेख शुद्ध हिन्दी में लिखा जाय तो सम्भव है, मैं भी उसके पढ़ने में सफलता प्राप्त कर सकूँ।' इस पर कुमार साहब ने कहा—'अच्छा, कल हम कल्पित देवाक्षर में एक लेख पढ़ने को देंगे। उसमें ४९ अक्षरों और संयुक्ताक्षरों का भी रूपान्तर रहेगा।' मैंने प्रार्थना की—'लेकिन मात्रा वही रहें।' उन्होंने इस प्रस्ताव को मानकर दूसरे दिन कल्पिताक्षरों में एक लेख लिखकर मुझको पढ़ने के लिए दिया। मुझे तीन-चार घंटे उसके सोचने में लगे। पश्चात् देवाक्षरों में उसकी नकल करके कुमार साहब को दिखलाया। वे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'देवाक्षरों का रूपान्तर पढ़ना अँगरेजी से क्लिष्ट है। इसलिए बुद्धिमत्ता में आप हम से बढ़ गये।' इसके लिए उन्होंने मुझको कुछ पुरस्कार भी दिया।

मेरी बस्ती के रहनेवाले पं० मदनलाल कुमर, सतमलपुर (जो समस्तीपुर से तीन-चार मील उत्तर है) में मि० वर्नेक्युलर स्कूल के हेड पण्डित के पद पर नियुक्त थे। उस गाँव में काकन राजपूतों का निवास है। जमींदारी भी उनलोगों के थोड़ी घनी है। वे लोग अच्छे कुलशील के हैं। उनमें एक हिन्दी-फारसी के अच्छे ज्ञाता और श्री सीताराम के परम भक्त वैष्णवदीक्षा-प्राप्त जमींदार थे। उन्होंने एक ठाकुरवाड़ी भी बनवा कर उसमें युगल मूर्त्ति की स्थापना की थी। एक पुजारी उनकी पूजा और भोगराग के लिए नियुक्त था। बाबू साहब ठाकुरवाड़ी में पूजा-पाठ करते और वहीं प्रसाद पाते थे। एक दिन पण्डित मदनलाल कुमर से वार्तालाप करते समय प्रसङ्गवश यह बात निकल आई। पण्डित जी ने उनसे कहा कि मेरे गाँव में पण्डित जनार्दन झा जो श्रीनगर पूर्णियाँ के राजा कमलानन्द सिंह के दरबार में रहते हैं, वे कल्पिताक्षरों में लिखा हुआ लेख पढ़ लेते हैं। बाबू युगल प्रसाद सिंह को आश्चर्य हुआ। वे यह बात मानने को तैयार नहीं हुए। कहा कि मैं उनको कल्पित अक्षरों में एक पत्र लिखूँगा, अगर वे उसका ठीक जवाब देंगे तभी मैं आपकी इस बात को मानूँगा और उन्हें एक देवता का अवतार समझूँगा। उन्होंने एक कार्ड पर कल्पित अक्षरों में ५ श्लोक लिखकर भेजे। मैंने मन में कहा—'इसके पढ़ने में कौन सिरखपी करे।' एक पुस्तक की तह में रख दिया। मुझे एक सम्बन्धी के यहाँ से यज्ञोपवीत का निमन्त्रण पत्र आया था। वहाँ न्योता पूरने गया। वहाँ से एक सप्ताह बाद घर आया दो सप्ताह बीत गये। बाबू युगल प्रसाद सिंह के नवीनाक्षरों में लिखे कार्ड का उत्तर नहीं दे सका। उन्होंने पण्डित मदन लाल कुमर से कहा—मैंने तो पहले ही कह दिया था कि कल्पित अक्षरों में लिखा हुआ पत्र पढ़ना असंभव है। दो हफ्ते हो गये। पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं आया। पण्डितजी ने कहा—वे किसी काम में उलझे होंगे अथवा आप का कार्ड उन्हें न मिला होगा। मिलता तो उत्तर जरूर देते। उन दोनों में बातचीत हो ही रही थी कि इतने में डाकपिउन ने मेरा लिखा पत्र उनके हाथ में दिया। लिफाफा खोलकर देखा तो उसमें उनके भेजे श्लोकों की प्रतिलिपि

थी। देखकर वे क्षुब्ध हो गये। पण्डितजी ने पूछा—'क्या कहीं से कोई अनिष्ट-संवाद आया है ?' कुछ देर के बाद वे बोले—'आपकी बात सच हुई। मेरी धारणा गलत निकली। ईश्वर संभव को असंभव और असंभव को संभव कर दिखाता है। लीजिये मेरे कार्ड का उत्तर'—कहकर वह पत्र पण्डितजी के हाथ में रख दिया। उन्होंने कहा—'वे घर पर न थे, इसीसे विलम्ब हुआ।' बाबू साहब ने कहा कि अभी मेरी ओर से उन्हें धन्यवादसूचक पत्र दें और उन्हें लिख दें कि कृपा करके मुझे दर्शन दें। मैं कुछ दिनों बाद उनसे मिलने गया। वे मुझे देखकर बड़े खुश हुए। मेरा आदर-सत्कार जहाँ तक हो सका, किया तीन-चार दिन मैं वहाँ ठहरा। उनसे प्रगाढ़ मैत्री हो गई। जब तक वे जीवित रहे उनसे बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा और वे जब-तब मेरी सहायता भी करते रहे।



'पाटलिपुत्र' नाम का रहस्य

पाटलिपुत्र की नामोत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि पहले, आधुनिक फतुहा के पास एक राजवंश था। जहाँ पर राज्य की परंपरा मातृकुल से चलती थी। कन्या ही राज्य की उत्तराधिकारिणी होती थी, एकबार राजकुमारी अपनी सहचरियों के साथ भ्रमण कर रही थी। सखियों ने राजकुमारी से पतिवरण के लिए अनुरोध किया। योग्य पति न मिलने के कारण उसने अपने कुमार जीवन को कोसा। सखियों ने पास ही में एक आम्रवृक्ष से राजकुमारी का स्वांग-परिणय रचा। इधर एक ब्राह्मण के कुछ शिष्य भी बिचर रहे थे। स्त्रियों का झुण्ड देखकर सभी अन्तेवासी अपने आश्रम को यथाशीघ्र भाग गये, किन्तु एक शिष्य वहीं पर आम्रवृक्ष पर चढ़ गया था। राजकुमारी के स्वांग-परिणय समाप्त होने पर सभी सखियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। इतने में आम्रवृक्ष से ब्राह्मण-शिष्य उतर पड़ा और राजकुमारी का आलिंगन किया। क्योंकि राजकुमारी का विवाह सचमुच आम्रदेव से हुआ था; फलतः एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने दोनों कुलों को एक सूत्र में बांधा। उस राजकुमारी के रज से पाटल का सौरभ निकलता था अतः उससे उत्पन्न पुत्र का नाम 'पाटलिपुत्र' हुआ। (उसीने अपने नाम पर 'पाटलिपुत्र' (वर्तमान पटना) नगर बसाया।) पाटलिपुत्र के अन्य नाम हैं—कुसुमपुर तथा पुष्पपुर। यहाँ के राज्योद्यान में असंख्य फूलों का भण्डार था। आजकल भी फुलवारी शरीफ इसके पास ही है। यूनानी इसे 'पलिबोथरा' और चीनी 'प-ल़ीन-ताउ' कहते थे।

"पाटलिपुत्र"
ले०—डा देवसहाय त्रिवेद
('पाटल', पटना, अक्तूबर १९५२)

'संताल' शब्द की उत्पत्ति

श्री डोमन साहु 'समीर'



हमारे देश के बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम में बसनेवाले 'संताल' अथवा 'संथाल' नाम से प्रसिद्ध लोगों के बारे में, इधर कुछ दिनों से, हिन्दी में काफी लिखा-पढ़ा जा रहा है। परन्तु 'संताल' अथवा 'संथाल' शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका विकास कैसे हुआ, आदि बातों पर अब तक सम्यक् प्रकाश कहीं भी नहीं डाला जा सका है। संतालों की भाषा, साहित्य एवं संस्कृति पर लिखते-पढ़ते रहने के सिलसिले में मेरे सम्मुख भी ये प्रश्न यदा-कदा उठते रहे हैं। अस्तु, अपने अब तक के अध्ययन के आधार पर इस सम्बन्ध में मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, उसे यहाँ सुधी पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

संतालों के प्राचीन जातिवाचक नाम अथवा नामों के बारे में अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि 'संताल' अथवा 'संथाल' शब्द का मूल-रूप 'सान्ताड़' अथवा 'सान्थाड़' है और इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में हुआ है।

हिन्दी में 'सन्ताल', 'सन्थाल', 'सान्ताड़', 'सान्थाड़' या इनसे मिलता-जुलता शब्द पहले-पहल व्यवहार में कब आया अथवा संतालों का जिक्र सर्वप्रथम कब हुआ, इस सम्बन्ध में अब तक कोई विश्वास करने के योग्य सामग्री उपलब्ध नहीं है। परन्तु 'गेजेटीयर आफ द संतालपरगना'* में पुराने रेकार्डों के आधार पर, तीन-चार जगह अँगरेजी में इन लोगों के प्राचीन नामों का उल्लेख किया गया है। देखिये :

"The earliest mention of them appears to be contained in an article entitled 'Some Extraordinary Facts, Customs and Practices of the Hindus' by Lord Teignmouth (Sir John ulishe), which was published in the 'Asiatic Researches' of 1795. In this article they were designed 'Soontars' and described as a rude unlettered tribe residing in Ramgur (Ramgarh). (P. 115)

"The first mention of the Santals in this (Santal parganas) district occurs in Montgomery Martin's 'Eastern India' (compiled from Buchanan Hamilton's manuscript), which contains—'The tenants of Behar in general tranasact their own business with the agents of the zamindars' and it is only among the rude tribe called Saungtar, and in the Bengalese parts of the district that a kind of Chief tenant is employed to transact the whole affairs of the community." (P. 115-16)

* 'संताल परगना' जिला बिहार राज्य के उत्तर-पूर्वी भाग में अवस्थित है।—ले०

"Further mention about the santals at this early time has been obtained by Mr. (now Sir H.) Mc. Pherson from the unpublished manuscripts of Buchanan Hamilton, in which it is stated:-'The Saungtars are a tribe that has a peculiar language. So far as I could learn, about 500 families are now settled in the wilder parts of the district This however, is a late event, and they came last from Birbhum in consequence of the annoyance which they received from its zamindars. The original seat of this tribe, as far as I could learn from them, is Palamau and Ramgarh." (P. 116)"

'By 1827 the Santals had got as far as the extreme north of Godda Sub-division, Mr. ward (J. P.) when demarcating the Damin—i—Koh finding three Santal villages in Patsunda and 27 villages in Barkop. His first impressions of the Santal are interesting. 'There are, he wrote,' within this described line two or three villages established by the race of people called Santars. These people are natives of the Singhbhum and adjacent country; their habits and customs are singular: they are of no caste, extremely hardy and industrious." (P. 117).

अर्थात् "इन लोगों का जिक्र सबसे पहले लार्ड टेन्माउथ (सर जान शोर)-लिखित, १७९५ ई० के 'एशियाटिक रिसर्चेज' में प्रकाशित 'हिन्दुओं की कुछ असाधारण बातें, रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ' शीर्षक लेख में हुआ जान पड़ता है। उक्त लेख में इन्हें Soontar ('सूनताड़' ?) कहा गया है और इनका वर्णन रामगढ़ (हजारीबाग) में रहनेवाली एक असंस्कृत अनपढ़ जन-जाति के रूप में किया गया है।" (पृ० ११५)

' इस (संताल परगना) जिले में संतालों का जिक्र सबसे पहले मांटगोमरी मार्टिन के (बुकानन हेमिल्टन की हस्तलिखित सामग्री [२] से संकलित) 'ईष्टर्न इण्डिया' (पूर्वीय भारत) में हुआ है, जिसमें लिखा है कि…'बिहार के आम खेतिहर अपने कारबार खुद जमींदारों के एजेंटों के साथ करते हैं; सिर्फ Saungtar ('सौंगताड़' ?) नाम की असंस्कृत जन-जाति के लोगों के बीच और इस जिले के बंगालीबहुल भागों में ऐसा होता है कि उन लोगों के साथ जो भी कारबार हों उसके लिए एक तरह का मुखिया (मांझी ?) नियुक्त किया जाता है।" (पृ० ११५-१६)

"फिर उन प्रारम्भिक दिनों में संतालों का उल्लेख श्री (अब सर एच्०) मैकफर्सन ने बुकानन हेमिल्टन की अप्रकाशित हस्तलिखित सामग्री से प्राप्त किया है, जिसमें यह लिखा गया

२ बुकानन हेमिल्टन की उक्त सामग्री १८१० ई० में लिखी गई थी।—ले०

है—'Saungtars' ('सौंगताड़' ?) एक ऐसी जन-जाति के लोग हैं जिसकी भाषा विभिन्न है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस जिले के अपेक्षाकृत जंगली भागों में सम्प्रति इनके पाँच सौ परिवार बसे हैं। फिर भी यह बात बाद की है, और ये पहले-पहल वीरभूमि (बंगाल) से यहाँ के जमींदारों के जुल्मों के कारण, यहाँ आये। जहाँ तक इन लोगों से मुझे मालूम हुआ, इस जाति का मूल-स्थान पलामू और रामगढ़ है।" (पृ० ११६)

"१८२७ ई० तक में संताल लोग गोड्डा सबडिवीजन[३] के बिल्कुल उत्तरी हिस्से तक अग्रसर हो चुके थे, जबकि दामिन्-ई-कोह की सीमा मापकर अलग करते समय श्री वार्ड (जे०पी) को पतसंडा में तीन और बारकोप में सत्ताईस संताली-गाँव मिले थे। संतालों के बारे में उनके मन में सर्वप्रथम जो धारणाएँ बनीं, वे बड़ी मनोरंजक हैं। उन्होंने लिखा है—'इस उल्लिखित सीमा-रेखा के अन्तर्गत 'Santar' (सान्ताड़ ?) नाम की जाति के लोगों द्वारा संस्थापित दो-तीन बस्तियाँ हैं। ये लोग सिंहभूमि और उसके आस-पास के रहनेवाले हैं; इनकी रहन-सहन और रीति-रिवाज एक-से हैं। ये किसी खास जाति के लोग नहीं हैं। ये बड़े गठीले और श्रमशील होते हैं।" (पृ० ११७)

इस प्रकार, उपर्युक्त विवरणों के आधार पर, अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों के बीच, अँगरेजी में, संतालों के लिए प्रयुक्त शब्द का विकास बहुत कुछ इस तरह हुआ जान पड़ता है—

Soontar > Saungtar > Santar

यह भी सम्भव है कि शब्द का वास्तविक उच्चारण कुछ और ही रहा हो जिसका विवरण (spelling) विभिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न तरह से किया हो। रोमन लिपि के उच्चारण की अनस्थिरता के कारण ऐसा होना असम्भव नहीं। हाँ, ऊपर के विवरणों से यह भी पता चलता है कि इस संताल परगना जिले में (जिसका पुराना नाम 'जंगल तराई' था) आने के पहले संतालों का निवास पलामू, सिंहभूमि, रामगढ़ (हजारीबाग), वीरभूमि आदि स्थानों में था और ये वीरभूमि से यहाँ आये। ये स्थान बिहार के दक्षिणी और बंगाल के पश्चिमी भूभागों में परस्पर सम्बद्ध हैं।

बँगला में संतालों को 'साँओताल' कहा जाता है जिसके पूर्व-रूप 'साँओताड़' की व्यवहार-बहुलता भी उसमें पाई जाती है। यह 'साँओताड़' शब्द बँगला-उच्चारण के अनुसार उच्चरित 'साँवताड़' का प्रतिरूप है, क्योंकि बँगला में 'व'—ध्वनि के लिए 'ओ' वर्ण का ही प्रयोग होता है।

स्वयं संताल लोग भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनका नाम 'सान्ताड़' अथवा

---

३ 'गोड्डा' सबडिवीजन संताल परगना जिले का उत्तर-पश्चिमी भाग है जिसमें तप्पा पतसंडा और बारकोप अवस्थित हैं। संताल परगना जिले के मध्य भाग में, राजमहल की पहाड़ियों के ईर्द-गिर्द फैले हुए पहाड़ी भूभाग को 'दामिन-ई-कोह' कहा जाता है जिसकी सीमा श्री जे० पी० वार्ड ने १८३२-३३ ई० में बाँधी थी। इसका क्षेत्रफल १३३८ वर्गमील है।—ले०

'साँवताड़' भी रहा है। आज भी उनके लोकगीतों में यत्र-तत्र इसके प्रमाण मौजूद हैं। उदाहरण के लिए—

बुरु चेतान रे रिची वेंगे;
गोडो गेलेच् ऐलते खेटे-खेटे।
आबो हों चोड बोयहा जाति सान्ताड़;
बाटी हाण्डी ऐलते खेटे-खेटे। (दोङ)

अर्थात्, पहाड़ पर बिलों से निकाली गई चूहों की मिट्टी का ढेर देखकर 'रिची'[४] पंछी खुश होते, खिलखिलाते हैं। भई, हम 'सान्ताड़' भी तो कटोरे में 'हँड़िया' (पोचई) देखकर खुश होते, खिलखिलाते हैं।

बुरु नाला रे साँवताड़ किसाँण;
सेरमा चोटे रे सिञ चाँदो।
सिञ-चाँदो दोय गाहनाक कान;
साँवताड़ किसाँण को कुसीक् कान। (दोङ)

अर्थात्, पहाड़ी नाले में 'साँवताड़' किसान हैं; ऊपर आकाश में सूर्य है। सूर्य में ग्रहण लग रहा है; साँवताड़' किसान खुश हो रहे हैं।

वास्तव में, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से इन अज्ञात-नाम-गोत्र कवि के लोकगीतों का मूल्य तो अत्यधिक है ही, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं। स्पष्ट है कि इनमें संतालों के लिए 'सन्ताड़' अथवा 'साँवताड़' शब्द आया है। परंतु, इतना ही नहीं; आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व 'कल्याण हाड़ाम' नामक एक वयोवृद्ध संताल ने श्री एल्० ओ० स्क्रेफसरुड नामक इस जिले में रहने वाले एक पादरी साहब से कहा था—"साँत दिसम दे ढेर दिन ले ताहें कानते को साँवताड़ आकात् लेया"[५]—अर्थात् "चूँकि हमलोग बहुत दिनों तक 'साँत दिसम' में रहे, इसलिए लोग हमें 'साँवताड़' कहने लगे हैं।" अस्तु, यदि 'कल्याण हाड़ाम' की बात सही मान ली जाय तो ज्ञात होता है कि संतालों का नाम 'साँवताड़' (अथवा 'सान्ताड़') इसलिए पड़ा कि वे बहुत दिनों तक 'साँत दिसम' में रहे। परन्तु सवाल उठता है कि तथाकथित 'साँत दिसम' था कहाँ और उससे इस 'साँवताड़' (अथवा 'सान्ताड़') शब्द की उत्पत्ति हुई कैसे ?

इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त 'गेजेटीयर ऑफ द संताल परगनाज़' में जो सामग्री उपलब्ध है वह इस प्रकार है—

"The name Santal spelt in one way or another (e. g. Santhal), is an English form adopted from Hindi which corresponds with the form saontar used by the Bengali speaking peoples. Both names

---

४ 'रिची' चूहों को खानेवाला पंछी है। चूहों की मिट्टी का ढेर देखकर यह उसके आसपास मँड़राया करता है और चूहों को देखते ही उन्हें झपट लेता है।—ले०

५. देखिये—'होड़को रेन मारे हापड़ाम को रेयाक् काथा' (१८८७ ई०), पृ० १३.

are only applied to tribe by non-Santals, and the Santals do not use them in speaking about themselves axcept as a concession to foreigners; then they prefer the form Saontar. Both Santal and Saontar have the same origin, according to phonetic law and practice in the different languages.......Etymologically there is nothing against this, 'al' being a suffix used in Hindi and other Aryan languages to form possessional adjective from substantives, and are doing the same for the Bengali word" (P. 119)

अर्थात् "यह 'संताल'-संज्ञा, जिसका विवरण दूसरी तरह से (अर्थात् 'सन्थाल') भी होता है। हिंदी से लिया गया अँगरेजी रूप है; इसके प्रतिरूप 'साँवतार' का व्यवहार बँगला-भाषा-भाषियों के द्वारा होता है। ये दोनों संज्ञाएँ गैर-संतालों के द्वारा इस जन-जाति के लिए प्रयुक्त होती हैं, और संताल लोग अपने बारे में कुछ कहते समय इन संज्ञाओं का व्यवहार सिर्फ उसी हालत में करते हैं जब उन्हें विदेशियों से बातें करनी होती हैं; तब वे 'साँवतार' (साँवतार) शब्द को प्रमुखता देते हैं। 'संताल' और 'साँवतार' दोनों का मूल, उच्चारण-संबंधी नियम और प्रयोग के अनुसार, एक ही है। व्युत्पत्ति शास्त्र में इसके विपरीत कोई और बात नहीं है, 'आल' हिंदी तथा अन्यान्य आर्य भाषाओं में व्यवहृत एक प्रत्यय है जो मूल-रूप से संबंधसूचक विशेषण बनाने के काम में आता है और यही काम बँगला शब्दों में 'आर' करता है।" (पृ० ११९)

उसी गेजेटीयर में पुनः आगे लिखा है—

"Mr. W. B. Oldham, C. I. E. is of opininon that the name is on abbreviation of Samantawala. Samanta, he says is another name given to the modern SILDA PARGANA in the Midnapore district, whence the immigrant santals discovered by Mr. Ward in 1828 deposed that they had come...it may be mentioned that the SILDA PARGANA is known locally as Samantbhui, but by the Santals (who elide them) as Santbhui, the tradition being that the country was so called becuase it was conquered by a Samant Raja, i.e., a general of the emperor of Delhi. These are, moreaver, signs of a fairly old Santal settlement in the pargana, and around about it a dense population of santals accounting for over one third of the inhabitants. There is also a tract called Samantabhum in the Bankura district, which the Santals claim to have colonised. (P. 120.)

अर्थात् "श्री डब्ल्यू० बी० ओल्डहम[६], सी० आई० ई[१], के विचार से यह नाम ('संताल 'सामंतवाला' का संक्षिप्त रूप है। वे कहते हैं कि 'सामंत' मेदिनीपुर (बंगाल) जिले के आधुनिक सिलडा परगने का दूसरा नाम है, जहाँ से, जैसा कि वार्ड साहब ने १८२८ ई० में पता लगाया है, संताल लोग अपना यहाँ आना बताते हैं।...यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि सिलडा परगने का स्थानीय नाम 'सामंतभइ' है, पर संताल लोग (जो 'म' का लोप कर लेते हैं) उसे 'साँतभुइ' कहते हैं। उसकी परंपरागत बात यह है कि उस भूभाग का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसे एक सामंत राजा अर्थात् दिल्ली के बादशाह के सेनापति ने जीता था। साथ ही, उक्त परगने में संतालों की काफी पुरानी बस्तियों के चिह्न भी हैं, और उसके इर्द-गिर्द वहाँ की कुल जन-संख्या की एक-तिहाई से ऊपर संतालों की घनी आबादी भी है। बाँकुड़ा जिले (बंगाल) में भी सामंतभूम अथवा साँतभूम नामक एक भूभाग है, जिसे संताल लोग अपना वासस्थान मानते रहे हैं।" (पृ० १२०)

उपर्युक्त सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए श्री पी० ओ० बोडिंग ने लिखा है—

"That Sant and Saont are to be derived from the(o riginally Sanskrit) word samanta seems to be very probable...There is no doubt that the word itself is of Aryan origin. If a translation of the word is sought, the original meaning would de something like 'border men' but as they have probably got the name in the way mentioned, the meaning implied by the users of the word would not be that, they are 'Saonters."

अर्थात् "बहुत संभव है कि 'साँत' और 'सावंत' की उत्पत्ति (मूलतः संस्कृत के) 'सामंत' शब्द से हुई हो। निस्संदेह इस शब्द का मूल आर्य-भाषाओं में है। यदि इस शब्द का अनुवाद खोजा जाय तो इसका अर्थ करीब-करीब 'सीमावासी लोग' होगा; परन्तु चूँकि इन्हें यह नाम ऊपर लिखे तरीके से मिला, इसलिए इस शब्द का प्रयोग करनेवालों का जो आशय था इसका अर्थ वह नहीं होगा; ये 'सावंतेर' ('सावंतवाले') हैं।"[७] (पृ० १२०)।

ऊपर के विवरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'संताल' अथवा 'संथाल' शब्द की उत्पत्ति बंगाल के 'सामंतभूम' (अथवा 'साँतभूम') के नाम पर हुई है। साथ ही, उनसे यह भी संकेत मिलता है कि इसका विकास निम्नलिखित प्रकार से, हिन्दी और बँगला के माध्यम से हुआ है या हुआ होगा—

---

६. श्री डब्ल्यु० बी० ओल्डहम, सी० आई० ई०, १८७९ से १८८४ ई० तक संताल परगना जिले के डिप्टी कमिश्नर थे।—ले०

७. श्री पी० ओ० बोडिंग एक मिशनरी पादरी थे जो लगभग १८९० ई० से १९३५-३६ ई० तक इस जिले के संतालों के बीच रहे। संताली भाषा और संस्कृति पर उन्होंने अनेक खोजपूर्ण काम किये हैं।—ले०

सामंतवाला > सावंतवाला > साँवताल > सान्ताल > संताल तथा सामंतेर > साँओतेर > साँओतार > साँओताल।

परन्तु 'संताल' से 'संथाल' कैसे बना, यह प्रश्न पुनः प्रश्न ही रह जाता है।

मेरे विचार से 'संताल' शब्द की उत्पत्ति की उपर्युक्त व्याख्या सही और पूर्ण नहीं है। यह शब्द हिंदी अथवा बँगला के माध्यम से नहीं, बल्कि संताली के मूल और अँगरेजी (रोमन) के माध्यम से बना है। सही है कि यह 'साँत दिसम' (साँतभूम, सामंतभूम) के नाम पर बना हुआ शब्द है। अपनी जांच के आधार पर मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसके अनुसार कई महत्वपूर्ण बातें प्रकाश में आती हैं। 'साँतभूम' की अवस्थिति जिस जगह (मेदिनीपुर, बंगाल) है, उसके आस-पास कई ऐसे भूभाग हैं जिनके नामान्त में 'भूम' अथवा 'भूमि' शब्द आया है; जैसे—मानभूम, सिंहभूम, धालभूम, वीरभूम आदि। परन्तु, संतालों में इस 'भूम' अथवा 'भूमि' शब्द की जगह 'दिसम' शब्द का व्यवहार होता आया है; जैसे—मान दिसम, सिंञ दिसम, धाड़ दिसम आदि। (संताली में 'सिंह' का उच्चारण 'सिञ' और 'धाल' का धाड़' पाया जाता है।' यों 'दिसम' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'देशम्' से हुई है जिसका अर्थ होता है 'देश'; परन्तु युगों से अशिक्षा के घोर अंधकार में पले संताल लोग अपने आस-पास दस-बीस-पचास मीलों तक फैले हुए भूभाग को ही साधारणतः अपना 'दिसम' (देश) समझते रहे हैं। यही वजह है कि भारत—जैसे अपने इतने बड़े देश के लिए संतालों का अपना कोई शब्द नहीं। इसी हालत में 'सावंतभूम' को ही ये लोग 'साँत दिसम' कहते रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

और, संताल लोगों ने संताल कहकर अपनी जाति बतलाना अभी हाल ही में सीखा है। पूर्वोक्त गेजेटीयर से पता चलता है कि "इन्होंने किसी अजनबी को अपना नाम और गोत्र बतलाना सिर्फ १९१७ ई० से सीखा है। उससे पहले वे सिर्फ 'माँझी' कहकर अपना परिचय दिया करते थे।" (पृ० १२०)। इस 'माँझी' शब्द का प्रचलन इन लोगों में अब भी है। आज भी जहाँ संताल परगना, वीरभूमि, मेदिनीपुर आदि स्थानों के संतालों में साधारणतः 'संताल' के नाम से अपना परिचय देने तथा नाम के साथ गोत्र (जैसे—सोना सोरेन, बड़का टुडु आदि) लिखने की परिपाटी है, वहाँ मानभूमि, सिंहभूमि, मयूरभंज आदि जगहों के संतालों में 'माँझी' के नाम से अपना परिचय देने तथा नाम के साथ उपनाम के रूप में 'माँझी' (जैसे-किनू माँझी, जागरण माँझी आदि) लिखने की प्रथा है। संतालों को 'संताल' कहकर पुकारने में जहाँ उनके प्रति एक प्रकार का अनादर जाहिर होता है, वहाँ 'माँझी' कहकर पुकारने में यह बात नहीं। 'माँझी' शब्द में आदर का भाव है। यह मुण्डारी-भाषा के 'मुण्डा' शब्द का पर्याय है जिसका अर्थ होता है, 'प्रधान, मुखिया'। संताल लोग अपने दल अथवा गाँव के मुखिया को 'माँझी' कहते हैं। साथ ही यह हमारे 'मंडल', 'महतो', 'सिंह' आदि की तरह इन लोगों का जातीय उपनामवाची शब्द है। परन्तु, 'संताल' और 'माँझी' के अलावा ये लोग अपने को 'होड़' भी कहते हैं। बल्कि जब इन्हें अपनी ही भाषा में अथवा अपनी ही जाति के

लोगों के समक्ष अपनी जाति बतानी पड़ती है, तो उस हालत में, साधारणतः 'होड़' ही कहा जाता है। उदाहरण के लिए—

'चिलि जात का नाम ?'—तुम किस जाति के हो ?

'संताल (अथवा 'माँझी') कानाञ'—मैं 'ताल (अथवा 'माँझी') हूँ।' (जब अन्य जातिवालों को अपनी जाति बतलानी हो तो।

'होड़ कानाञ'—मैं संताल हूँ। (जब किसी स्वजातीय व्यक्ति को अपनी जाति बतलानी हो तो।)

यह 'होड़' शब्द मुण्डा लोगों के 'होड़ो', उराँव लोगों के 'कुड़ुख', सौंरिया पहाड़िया लोगों के 'माले' आदि की तरह मनुष्यवाची शब्द है। उदाहरण के लिए—'होड़ कानाञ' का वास्तविक अर्थ होता है 'मैं मनुष्य हूँ।' इस शब्द की उत्पत्ति मुण्डारी भाषा के 'होड़ो' शब्द से हुई है। इसका उच्चारण संताली में करीब-करीब 'होड़' की तरह होता है। (यों सुविधा के लिए इसे हम 'होड़' ही लिख रहे हैं।) अँगरेजी अथवा रोमन लिपि में आजकल 'होड़' शब्द को hor के रूप में लिखा जाता है; परन्तु जिस समय के लगभग 'सान्ताड़' अथवा 'सान्थाड़' शब्द बना, उस समय इसे 'har' के रूप में लिखा जाता था[८]। (यद्यपि उच्चारण 'होड़' की ही किया जाता था)। संताल परगना के गेजेटीयर में भी यह शब्द 'har' के रूप में ही लिखा गया है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए 'संताल' शब्द के मूल 'सान्थाड़' का पता बड़ी आसानी से लग जाता है। बात यह है कि संताल लोग जिस 'दिसम' (भूभाग) में रहते हैं, साधारणतः अपने को उसी 'दिसम' के 'होड़' अर्थात् 'लोग' कहा करते हैं। यही कारण है कि आज भी मानभूमि के संताल 'मान होड़', सिंहभूमि के संताल 'सिञ होड़', धालभूमि के संताल 'धाड़ होड़', मयूरभंज के संताल 'भंज होड़' आदि कहलाते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार किसी समय 'साँत दिसम', 'साँतभूम' के संताल 'साँत होड़' कहलाते थे। गेजेटीयर से पता लगा है कि वीरभूम और मेदिनीपुर अर्थात् साँतभूम की ओर से ही अधिकांश संताल १७९० से १८१० ई० के बीच संताल परगना जिले में आये हैं। अतः स्पष्ट है कि वे साँत होड़ थे, यहाँ भी 'साँत 'होड़' ही रहे। और, इसी 'साँत होड़' शब्द को जिसे अँगरेजी (रोमन) में सम्प्रति 'sant hor' १७९५ से १८२७-२८ के बीच पहले तो Saunglar, फिर पीछे Sant har के रूप में लिखा जाना था। परंतु, चूँकि सबलोग इस har शब्द का वास्तविक उचारण जानते नहीं होंगे, इसलिए इसका उच्चारण साधारणतः 'हार' अथवा 'हाड़' किया जाता रहा होगा। इस प्रकार, इसमें संदेह नहीं कि यही Sant har (साँत होड़) धीरे-धीरे एक साथ मिलकर Santhar अर्थात् 'सान्थाड़' अथवा 'सान्थार' हो गया। संभव है, जिन्हें इस वर्ण का कुछ ज्ञान रहा हो अथवा जिन्होंने संताली का 'होड़' शब्द कभी सुना हो, वे Santhar को 'सान्थाड़' कह लेते हों; परन्तु जिन्हें इन चीजों से कोई परिचय न रहा होगा

८, देखिये—डा० ग्रियर्सन द्वारा लिखित 'लिंग्विष्टिक सर्वे ऑफ इंडिया', भाग ४।

वे तो इसे सीधे 'सान्थार' ही कहते होंगे। जो हो, लोग 'साँतहोड़' को 'सान्थाड़' ही अथवा 'सान्थार' कहने लगे। धीरे-धीरे संतालों ने भी, जो उस समय तक बिल्कुल अनपढ़ थे, अपने लिए अन्यान्य लोगों के द्वारा 'सान्थाड़' शब्द का प्रयोग होते देख, उसे अपना लिया। परन्तु संताली भाषा की एक विशेषता यह है कि यदि किसी शब्द के महाप्राण आद्यक्षर के बाद भी कोई महाप्राण वर्ण हो तो उसे उसी वर्ग के अल्पप्राण वर्ण में परिवर्तित कर देते हैं। जैसे—हाथ-हात, हाथी-हाती, हथियार-हतियार इत्यादि। सान्थाड़' (अथवा-'सान्थार') शब्द भी उसी प्रकार संताली में आकर 'सान्ताड़' (अथवा 'सान्तार') हो गया। इसी सिलसिले में 'सांवताड़' शब्द भी (बंगला-भाषा-प्रभावित क्षेत्रों में) बना—सावंत होड़ > Saont hor > Saont har > साँवताड़।

परंतु, मेरा अपना खयाल है, जिस समय तक अँगरेजी में संतालों के लिए Santhar अथवा Santar शब्द का प्रयोग होता रहा, तब तक हिंदी में इन लोगों के बारे में कोई चर्चा नहीं आई। इसलिए हिंदी में 'सान्थाड़' अथवा 'सान्ताड़' शब्द का उल्लेख मुझे अब तक कहीं नहीं मिला। हाँ, हमारे यहाँ (संताल परगना) की ठेठ बोली (मिश्रित मगही) में संतालों को साधारणतः 'सौंतार' (अथवा 'मोंझी') कहा जाता है जो स्पष्टतः 'सान्थार' का ही एक रूप है। ठेठ बँगला में भी इन्हें 'साँतार' कहा जाता है।

'संताल' और 'संथाल', जिन्हें क्रमशः 'सन्ताल' और 'सन्थाल' भी लिखा जाता है, क्रमशः उन्हीं 'सान्ताड़' और 'सान्थाड़' शब्दों के विकसित रूप हैं। सम्भव है, इसके पहले क्रमशः 'सान्तार' और 'सान्थार' शब्द बने हों। ध्वनि-शास्त्र के अनुसार कठोर वर्ण 'ड़' का 'र' के माध्यम से कोमल वर्ण 'ल' में परिणत हो जाना असंभव नहीं—खासकर अँगरेजों के लिए, जिनके गले में यह ('ड़') काँटे की तरह चुभ जाना चाहता है। हाँ, यह परिवर्तन १८३० और १८५५ ई० के बीच ही किसी समय हुआ जान पड़ता है; क्योंकि १८२८ ई० तक तो 'सान्ताड़', परंतु १८५५ ई० के बाद 'सान्ताल' शब्द का व्यवहार रेकर्डों में पाया जाता है। परन्तु, संतालों ने 'सान्ताल' शब्द को उससे भी दस-बीस वर्ष बाद अपनाया होगा; क्योंकि पूर्वोक्त 'कल्याण हाड़ाम' ने १८६७ ई० में भी अपनी जाति के लिए 'साँवताड़' शब्द का ही उल्लेख किया है, 'सान्ताल' का नहीं। 'सान्थाड़' और 'सान्ताल' दोनों शब्द साथ-साथ चलते रहे हैं।

१८५५-५६ ई० में संताल परगने के संतालों ने अँगरेजी सरकार के विरुद्ध भीषण सशस्त्र क्रांति की थी और उसके बाद से ही बिहार के इस जिले का नाम (जो पहले 'जंगल तराई' कहलाता था) 'संताल परगना' कर दिया गया। परंतु संतालों के आने के पहले से 'मालेर' नाम की एक अति प्राचीन जाति के लोग यहाँ बसते आ रहे हैं। संतालों और मालेरों के बीच एक खास अंतर यह है कि जहाँ 'संताल' लोग अपेक्षाकृत 'समतल' भूमि में बसना पसंद करते, वहाँ मालेर लोग पहाड़ों पर रहना ही अधिक चाहते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आज भी थोड़ी-बहुत मात्रा में देखी जाती है। संभव है, साधारणतः 'समतल' में बसने की प्रवृत्ति के कारण ही 'सान्ताड़' अथवा 'सान्थाड़' लोग धीरे-धीरे बाद में 'सान्ताल' अथवा

'सान्थाल' कहलाने लगे। इसके विपरीत पहाड़ों पर बसने वाले 'मालेर' लोग पहाड़िया हुए जैसा कि आज भी वे कहलाते हैं।

इन सब बातों पर विचार करने के बाद अब यह बात भी समझ में आती है कि मानभूमि, सिंहभूमि, हजारीबाग, मयूरभंज आदि क्षेत्रों के संताल अपने को 'संताल' की अपेक्षा 'माँझी' कहना क्यों अधिक पसन्द करते हैं। बात यह है कि 'संताल' एक क्षेत्रीय नाम है; इन लोगों का सामान्य नाम तो 'माँझी' ही है।[१] संताल=साँतहोड़=सावंतभूम के लोग (माँझी)। सही है कि परिस्थिति-विशेष (खासकर इनकी १८५५-५६ ई० की क्रांति, जिसे 'संताल-विद्रोह' कहा जाता है) ने इतिहास के पृष्ठों में इन 'साँत होड़='संताल' लोगों को 'माँझी' जाति के अन्यान्य क्षेत्रीय लोगों की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान दे दिया है, फिर भी हैं तो ये आखिर 'साँत होड़' ही। फिर, अन्यान्य क्षेत्रों के माँझी (संताल) अपने-अपने क्षेत्रीय नामों अर्थात् मान होड़, सिञ होड़, धाड़ होड़, भंज होड़ आदि अथवा अपने सामान्य नाम 'माँझी' को क्यों भुलाने लगें? 'होड़' तो उनका खास सामान्य नाम है ही।

अन्त में, मैं निवेदन करना चाहूँगा कि 'संताल' अथवा 'संथाल' मूलतः एक ही शब्द के दो रूप हैं; दोनों ही अपनी-अपनी जगह पर शुद्ध हैं। परन्तु संताल लोग आम तौर पर अपने को 'संताल' (सान्ताल) ही कहते हैं, 'संथाल' (सन्थाल) नहीं। और, मेरे विचार से होना भी यही चाहिए; क्योंकि साँतहोड़ > सान्थाड़ (> सान्थार) > सान्थाल > सान्ताल > संताल है।

---

१. 'माँझी', संतालों का जातिसूचक उपनाम है।—ले०

"वसुधैव कुटुम्बकम्"

हमलोग भारतीय-संस्कृति, चीनी संस्कृति, यूनानी संस्कृति, बंगाली संस्कृति, मद्रासी संस्कृति, पंजाबी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति,—प्रभृति शब्दों को कहने-सुनने के आदी हो गये हैं। परन्तु ये शब्द कुछ कामचलाऊ ही हैं। बात यह है कि किसी प्रदेश या जाति या धर्म के नाम से पुकारे जानेवाली संस्कृति मूलरूप में अन्य देशों या जातियों या धर्मों की संस्कृति से न तो बिल्कुल जुदा ही है और न उनकी विरोधी ही है। अलग-अलग देशों के आदि के आदमियों में, बाहरी रंग-रूप से चाहे जितना अन्तर दिखाई देता हो, उन सब में एकता का तत्त्व मौजूद है। इसी प्रकार सब धर्म यह बतलाते हैं कि इस तमाम चराचार सृष्टि का निर्माण तथा पालन-पोषण करनेवाला एक सर्वशक्तिमान् परम परमेश्वर है, जिसको जुदा-जुदा नामों से याद किया जाता है। इस तरह सारा मनुष्य-समाज एक विशाल परिवार है।

'नव-संस्कृति की अटूट धारा'

ले०—श्री भगवान दास केला

'मानवता', अकोला, (सित०—अक्तूबर १९५२ ई०)

उपासक-दशासूत्र

(दस श्रमणोपासकों की कथा)

अनु०—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव



(गतांक से आगे)

सप्तम अंग : अष्टम अध्ययन

जम्बु के प्रश्नोपरान्त सुधर्मा ने कथा शुरू की—

बहुत ठीक, जम्बु ! उस युग में, उस समय राजगृह * नाम का नगर था। वहाँ गुणशील नाम का (एक) चैत्य था। राजा श्रेणिक वहाँ राज्य करते थे।

उस राजगृह नगर में महाशतक नाम का (एक) गृहपति (जमीन्दार) रहता था। वह अपने नगर का अद्वितीय धनी और अपराजित (बली) था। उसके खजाने में एक आढ़क भरि आठ करोड़ का सोना सुरक्षित था, उतना ही सोना सूद पर लगाया हुआ था तथा उतने ही सोने की अचल संपत्ति उसके पास थी। आठ गोशालाएँ थीं। प्रत्येक में दस हजार गायें थीं।

उस महाशतक के रेवती आदि तेरह पत्नियाँ थीं। तेरहों के रूप-गुण अद्वितीय एवं अनिन्द्य थे।

महाशतक के रेवती नाम की स्त्री को दहेज के रूप में आठ करोड़ का सोना और आठ गोशालाएँ—जिनमें दस-दस हजार गायें थीं—मिली थीं। अवशेष बारह स्त्रियों को एक-एक करोड़ का सोना और एक-एक गोशाला—जिनमें दस-दस हजार गायें थीं—मिली थीं।

उसी समय में, वहाँ एक दिन स्वामी महावीर का पदार्पण हुआ। सभा बैठी। (प्रवचन हुआ।) आनन्द गृहपति के समान महाशतक ने भी श्रावक धर्म ग्रहण किया। केवल उन चौबीस करोड़ का सोना और आठ गोशालाओं के अतिरिक्त उसने सभी धन का प्रत्याख्यान कर दिया। इसी प्रकार उक्त तेरह स्त्रियों में मैथुन के अतिरिक्त अन्य सभी मैथुन विधियों का प्रत्याख्यान कर दिया। (अथवा, उसने अपने मन में एक प्रकार से यह प्रतिज्ञा-सी कर ली कि) मैं प्रतिदिन दो द्रोण (एक आढ़क) अँटने लायक सुवर्ण-पूर्ण काँसे के छोटे (बर्तन) व्यवहार में लाऊँगा)।

उसके बाद श्रमणोपासक महाशतक ने जीवन-मरण का अभिज्ञान प्राप्त कर विहार (तपस्या) करना शुरू किया।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर किसी अन्य देश (स्थान) में, विहार करने (पर्यटन करने) चले गए।

---

* पटना जिले का नालन्दा के निकट स्थित 'राजगीर' क्षेत्र। राजगीर में हाल ही में बिहार सरकार ने बौद्ध साहित्य के शिक्षण तथा अनुसंधान-कार्य के लिए 'नालन्दा पालि इंस्टीच्यूट' की स्थापना की है। राजगीर महाभारत के प्रसिद्ध वीर योद्धा जरासंध की राजधानी रहा है।—

उसके बाद एक दिन, आधी रात के समय, रेवती गृहपत्नी के मन में आध्यात्मिक चिन्तापूर्ण यह संकल्प उपन्न हुआ कि—"सचमुच इन बारह सपत्नियों के बाधा स्वरूप होने के कारण मैं श्रमणोपासक महाशतक के साथ एकान्त निष्कंटक मानवीय भोगों को भोगती हुई विहार (विलास) नहीं कर पाती हूँ; अतएव मेरे लिए कल्याणप्रद बात यही होगी कि अग्नि-प्रयोग, शस्त्रप्रयोग या विषप्रयोग द्वारा इन बारह सपत्नियों को मरवा डालूँ। (और, उसके बाद) इन लोगों की, दहेज में प्राप्त एक-एक करोड़ का सोना और एक-एक गोशालास्वरूप संपत्ति को अपने अधिकार में लेकर श्रमणोपासक महाशतक के साथ उदार मानवीय भोगों का एकान्त निष्कंटक उपभोग करूँ।" इस प्रकार रेवती बराबर बारहों सपत्नियों के छिद्रान्वेषण में तत्पर हो गई और यह अवसर ढूँढने लगी कि कब ये असावधान होकर घूमती-फिरती हैं।

उसके बाद वह रेवती गृहपत्नी दूसरे किसी दिन (एक दिन) उन अपनी बारह सपत्नियों को असावधान पाकर छै को शस्त्र-प्रयोग द्वारा और छै को विष-प्रयोग द्वारा (जहर दिलवा-कर इस जीवन से उद्वासित कर दिया और मृत सपत्नियों की, दहेज में प्राप्त एक-एक करोड़ का सोना और एक-एक गोशाला स्वरूप सम्पत्ति को अपने अधीन कर महाशतक श्रमणोपासक के साथ उदार मानवीय भोगों का एकान्त निष्कंटक उपभोग करने लगी।

रेवती गृहपत्नी एक मांसलोलुप स्त्री थी। मांसाशिनी वह निरन्तर अनेक प्रकार के तलित, भर्जित (तले गए, भूने गए, सींकी लगाए गए) मांसों को विविध प्रकार की मदिरा—जैसे सुरा, मधु, मैरेय, मज्जा शोधु और प्रसन्ना के साथ चखती हुई विहार करती।

उसके बाद एक दिन राजगृह नगर में पशु-हत्या की घृणोत्पादक राज-घोषणा प्रचारित की गई।

उसके बाद मांसार्थिनी रेवती अपनी दहेज में आये हुए अपने नौकर को बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! तुम प्रतिदिन, दहेज में प्राप्त मेरी गोशालाओं में से दो-दो बछड़ों को मारकर मेरे लिए लाया करो।' सुनकर भृत्य ने सविनय 'यथाज्ञा' कहा।

उसके बाद उस भृत्य ने प्रतिदिन दो-दो बछड़ों को मारकर रेवती के लिये लाना शुरू किया।

उसके बाद वह रेवती गृहपत्नी उन मारे गए बछड़ों के विविध रूप से बनाये गए मांसों का विविध मदिराओं के साथ विविध रूप से सेवन करती हुई विहरने लगी।

इधर महाशतक श्रमणोपासक के, शील, व्रत आदि में अपने को भावित करते हुए, चौदह वर्ष बीत गए। तब वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को गार्हस्थ्य का भार देकर स्वयं धर्मप्रज्ञप्ति उपलब्ध कर पोषधशाला में तपोविहार करने लगा।

उसके बाद एक दिन रेवती (अत्यधिक मात्रा में मांस-मदिरा का सेवन कर) मदिरा की मादकता से उन्मादिनी की भाँति झूमती हुई पोषधशाला की ओर चल पड़ी। उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। बाल बिखर गये थे। अंचल को वह स्वयं सरका कर अस्त-व्यस्त किये हुई थी। उसी उन्मादावस्था में वह श्रमणोपासक महाशतक के सामने जा उपस्थित हुई और

तीव्र मोहोन्माद को उद्दीप्त करनेवाले अपने शृंगारिक स्त्रीवेश का प्रदर्शन करती हुई उसने श्रमणोपासक से इस प्रकार कहा—'हे धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष के इच्छुक ! धर्मपिपासु। श्रमणोपासक महाशतक ! देवानुप्रिय ! तुम्हारे इस धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष से क्या लाभ ? यदि तुम मेरे साथ उदार भोगों का उपभोग करते हुए नहीं विहार करते ?'

श्रमणोपासक महाशतक रेवती गृहपत्नी के कथन (प्रलाप) पर न ध्यान देता है और न उसे जानने की चेष्टा करता है ! बस, चुपचाप धर्मध्यान में लीन हो जाता है।

उसके बाद रेवती ने अपनी बातों को दो-तीन बार श्रमणोपासक से कहा। फिर भी श्रमणोपासक महाशतक अनजान (और अप्रभावित, मुद्रा में विहारमग्न बैठा रहा।

रेवती जब श्रमणोपासक महाशतक द्वारा न जानी गई, न पहचानी गई और न प्रत्युत्तर से सन्मानित की गई तब (उपेक्षिता-सी) वह जिस ओर से आई थी उसी ओर चली गई।

उसके बाद महाशतक श्रमणोपासक ने क्रमशः ग्यारहों व्रत प्रतिमाओं का अनुष्ठान किया।

इस प्रकार श्रमणोपासक महाशतक उन उदार व्रत-तपस्याओं द्वारा सूखकर धमनी-कंकालावशेष हो गया।

एक दिन, आधी रात के समय धर्म-जागृति को जगाते हुए श्रमणोपासक महाशतक के मन में यह आध्यात्मिक चिन्तापूर्ण संकल्प उदित हुआ—कि सचमुच, इस प्रकार की तपस्या से सूख कर मैं यद्यपि धमनी-कंकालावशेष रह गया, फिर भी मेरे शरीर में उत्थान, बल आदि अभी भी शेष हैं। इसलिए श्रमण भगवान् महावीर जिन जबतक बाहर विहार (पर्यटन, कर रहे हैं तबतक मेरे लिए यही उपयुक्त है कि अपश्चिममारणान्तिकी, संलेखना आदि तपस्या द्वारा जुष्ट होकर, भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर विहार (तपस्या) करूँ ?

इस प्रकार संकल्प के बाद श्रमणोपासक तथोक्त तपस्या में अनिश्चित काल तक के लिए लीन हो गया। इस शुभ अध्यवसाय द्वारा श्रमणोपासक महाशतक के सभी पाप धुल-गए और उसे कालज्ञान (दिव्यदृष्टि) प्राप्त हुआ। (आनन्द गृहपति के समान उसे भी) पूरब की ओर हजार योजन विस्तृत क्षेत्र लवण समुद्र और उत्तर की ओर चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत दिखाई पड़ा। नीचे रत्नप्रभा पृथिवी में लोलुपच्युत नरक—जिसमें पापियों की निवासावधि चौरासी हजार वर्षों की है—भी दिखाई पड़ा।

उसके बाद एक दिन फिर, अस्तव्यस्तांचला उद्धतयौवनवेशा उन्मादिनी-सी झूमती हुई रेवती ने श्रमणोपासक के सामने आकर उससे उक्त प्रकार की बातों को दो-तीन बार कहा।

रेवती के दो-तीन बार वैसा कहने पर श्रमणोपासक महाशतक क्रोध से आरक्त हो उठा और दिव्यदृष्टि के प्रयोग द्वारा रहस्यतत्त्व (असलियत) का पता लगा कर रेवती से इस प्रकार कहा—"अरी रेवती ! अप्रार्थितप्रार्थिके ! सचमुच तुम सात रात के भीतर अलसक रोग (अजीर्ण विशेष) द्वारा अभिभूत हो जा, जिससे अत्यधिक दुःखार्त्त होकर तुम्हें अपना प्राण

छोड़ना पड़े। मरने के बाद असमाधिस्थ होकर तुम रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे लोलुपच्युत नरक में नारकीयों के बीच चौरासी हजार वर्षों के लिए गर्क हो जा।"

महाशतक श्रमणोपासक के ऐसा कहने पर रेवती ने इस प्रकार कहा—' मेरे महाशतक श्रमणोपासक मेरे प्रति रुष्ट हो गए? मेरे महाशतक मेरे प्रति हीन हो गए? (महाशतक ने मुझे अभिशाप दे दिया?) महाशतक ने मुझे पहचाना नहीं? ओह! नहीं जानती, मैं किस कठोर मृत्यु द्वारा किस दुर्गति के साथ मारी जाऊँगी?" इस प्रकार कह कर भय से भीत और आकुल-व्याकुल वह रेवती धीरे-धरे वहाँ से अपने घर चली आई और भयानक दुश्चिन्ता में पड़ गई।

उसके बाद रेवती गृहपत्नी सात-रात के भीतर अलसक से पीड़ित होकर, अत्यधिक दुःख सहते हुए, दुर्गति के साथ तड़प-तड़प कर मरी और यथाशाप रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे लोलुपच्युत नरक में नारकीयों के बीच चौरासी हजार वर्षों के लिए गर्क हो गई।

उसी समय श्रमण भगवान् महावीर का वहाँ पदार्पण हुआ। सभा लगी। प्रवचन हुआ।

(उसके बाद) श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम से इस प्रकार कहा—"गौतम! इस राजगृह नगर में मेरा प्रियशिष्य महाशतक श्रमणोपासक पोषध-शाला में अपश्चिममारणन्तिकी, संलेखना आदि तपस्या द्वारा अपने शरीर को जुष्ट कर भोजन-पान की उपेक्षा कर काल की अनाकांक्षा रखते हुए (अनिश्चित काल तक के लिए) तपोविहार कर रहा है। इसी अवस्था में उसकी गृहपत्नी रेवती ने एक दिन आकर, श्रमणोपासक से धर्म-कर्म छोड़ अपने साथ रमण करने का प्रस्ताव किया। (भोगवादिनी रेवती ने भोग को ही 'स्वर्गादपि गरीयान्' बतलाया)। परन्तु महाशतक ने रेवती की बातों पर ध्यान नहीं दिया।

तब रेवती ने श्रमणोपासक के सामने अपने भोग-प्रस्ताव को दुहराया-तिहराया। (विचित्र प्रस्ताव) का दुहराना सुनकर महाशतक श्रमणोपासक क्रोधारक्त हो उठा तथा अपनी तपःप्राप्त दिव्य-दृष्टि द्वारा रहस्यतत्त्व (असलियत) का पता लगाकर रेवती को चौरासी हजार वर्षों के लिए नरकवास का घोर अभिशाप दे डाला। यह (सर्वथा) अनुपयुक्त है। अथच, श्रमणोपासक महाशतक के लिए वैसी कठोर तपस्या भी अनुचित (अनाचर्य) है। अतएव, हे गौतम! तुम जाओ और जाकर श्रमणोपासक से कहो— देवानुप्रिय! तुम्हारे लिए यह उग्र तपस्या कदापि उपयुक्त नहीं है। अनिष्ट, अप्रिय, अमनोज्ञ, अकान्त एवं अशुद्ध तर्क और व्याकरण (विश्लेषण) द्वारा तथ्यों का संज्ञान संभव नहीं है। और, तुमने जो अपनी गृहपत्नी रेवती को अभिशाप देकर उसकी दुर्गति की है इसके लिए इस विषय पर (शुद्ध हृदय से) विचार करो और प्रायश्चित ग्रहण करो।

भगवान् गौतम ने श्रवण भगवान् महावीर की बातों को सविनय सुनकर 'यथाज्ञा' कहा और वहाँ से निकल गए। उसके बाद वे राजगृह नगर के बीचो-बीच प्रवेश कर श्रमणोपासक महाशतक के घर पर उसके संनिकट जा पहुँचे।

उसके बाद श्रमणोपासक महाशतक ने भगवान् गौतम को आये हुए देखकर हृदय से प्रसन्न होते हुए उनकी वन्दना की।

उसके बाद भगवान् गौतम ने महाशतक से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर ने तुम्हारे पास मेरे द्वारा यह आदेश भेजा है कि तुम्हारे लिए यह अपश्चिम-मारणान्तिकी आदि कठोर तपस्याएँ कदापि उपयुक्त नहीं हैं। और, तुमने जो अपनी रेवती गृहपत्नी को घोर अभिशाप दिया है वह भी तुमसे अभद्र अशोभन आचरण हुआ है। इसलिए, तुम इस विषय पर गंभीर होकर विचार करो तथा यथोचित प्रायश्चित ग्रहण करो।"

श्रमणोपासक महाशतक ने भगवान् गौतम के वचन को सविनय ग्रहण कर उस विषयपर गंभीर होकर विचार किया और समुचित प्रायश्चित ग्रहण किया।

उसके बाद भगवान् गौतम श्रमणोपासक महाशतक के निकट से चले गए और राजगृह के बीचो-बीच से निकल कर श्रमण भगवान् महावीर के निकट जा पहुँचे। (पहुँचकर) भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया। उसके बाद संयम और तपस्या द्वारा अपने को भावित कर विहार-मग्न हो गए।

उसके बाद श्रमण भगवान् महावीर अन्य किसी दिन राजगृह नगर से भिन्न देश में पर्यटन करने चले गए।

इधर, श्रमणोपासक महाशतक ने शील, व्रत आदि द्वारा अपने को भावित कर, बीस वर्षों तक 'श्रमणोपासकपर्यायिक' का वरण कर, ग्यारहो व्रत-प्रतिमाओं का अपने शरीर-से अनुष्ठान कर, ''मासिक संलेखन' से अपने को जुष्ट कर और साठ शाम अनशन में बिताकर समाधि प्राप्त कर ली। और, समयानुसार सौधर्म कल्प (स्वर्ग) के 'अरुणावतंस' विमान (भवन) में देवत्व को लाभ किया। वहाँ उसके आवास के लिए चार पल्योपमों का प्रबन्ध भी हो गया।

गौतम के पूछने पर भगवान् महावीर ने महाविदेह देश में श्रमणोपासक महाशतक के पूर्णताप्राप्त्यर्थ पुनर्जन्म की बात कही।

सप्तम अंग : नवम अध्ययन

जम्बु के जिज्ञासोपरान्त आर्यसुधर्मा ने कहा—

बहुत ठीक, जम्बु! उस युग में, उस समय श्रावस्ती नाम की नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नाम का एक चैत्य था। उस नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करते थे।

उस श्रावस्ती में नन्दिनीपिता नामका एक गृहपति रहता था। उस नगरी का वह अद्वितीय धनी और अपराजित बली था। उस गृहपति का चार करोड़ का सोना खजाने में सुरक्षित था। चार करोड़ का सोना सूद पर लगाया हुआ था और चार करोड़ के सोने की अचल सम्पत्ति थी। चार गोशालाएँ थीं। प्रत्येक में चार हजार गायें थीं।

नन्दिनीपिता के अश्विनी नाम की एक स्त्री थी जो सर्वथा रूपवती और सती थी।

एक दिन उस नगरी में स्वामी महावीर का पदार्पण हुआ।' आनन्द गृहपति के समान नन्दिनीपिता ने भी गृहधर्म को उपलब्ध किया।

उसके बाद स्वामी किसी अन्य देश में विहारार्थ चले गए।

उधर नन्दिनीपिता श्रमणोपासक होकर विहरने लगा।

उसके बाद शील, व्रत आदि अनेक तपस्याओं में नन्दिनीपिता के चौदह वर्ष बीत गए। पन्द्रहवें वर्ष उसने गार्हस्थ्य-भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे दिया। स्वयं धर्मप्रज्ञप्ति प्राप्त की। बीस वर्षों तक श्रमणोपासक नन्दिनीपिता उक्त धर्मों तथा श्रमणोपासक-पर्यायक का पालन करता रहा। उसके बाद उसे समाधि प्राप्त हुई। समाधि-प्राप्ति के बाद सौधर्म कल्प (स्वर्ग) के अरुणगव विमान (भवन) में उसने देवत्व लाभ किया।

गौतम के पूछने पर भगवान् महावीर ने कहा कि नन्दिनीपिना पूर्णता-प्राप्ति के लिए महाविदेह देश में पुनर्जन्म ग्रहण करेगा।

सप्तम अंग : दशम अध्ययन

जम्बु के जिज्ञासोपरांत आर्यसुधर्मा ने कहा—

बहुत ठीक, जम्बु! उस युग में, उस समय श्रावस्ती नाम की नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नाम का एक चैत्य था। उस नगरी में राजा जितशत्रु राज्य करते थे।

उस श्रावस्ती में सालिहीपिता नाम का एक गृहपति रहता था। उस नगरी का वह अद्वितीय धनी और अपराजित वली था। उसका चार करोड़ का नकद सोना खजाने में सुरक्षित था। चार करोड़ का सोना सूद पर लगाया हुआ था और चार करोड़ के सोने की अचल सम्पत्ति थी। चार गोशालाएँ थीं। प्रत्येक में दस हजार गायें थीं।

सालिहीपिता के फाल्गुनी नाम की (एक) भार्या थी जो सती और रूपवती थी।

एक दिन उस नगरी में स्वामी महावीर का पदार्पण हुआ। आनन्द गृहपति के समान सालिहीपिता ने गृहधर्म को ग्रहण किया।

कामदेव गृहपति के समान उसने ज्येष्ठ पुत्र को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित किया, स्वयं धर्मप्रज्ञप्ति लेकर पोषधशाला में तपोविहार करने लगा।

(अवशेष घटनाएँ कामदेव श्रमणोपासक जैसी समझनी चाहिए।)

इस प्रकार, विविध शील, व्रत आदि द्वारा सालिहीपिता ने समाधि लाभ की और सौधर्म कल्प (स्वर्ग) के अरुणकील विमान (भवन) में देवता हो गया।

गौतम के पूछने पर भगवान् महावीर ने कहा कि सालिहीपिता पूर्णता-प्राप्त्यर्थ महाविदेह देश में पुनर्जन्म ग्रहण करेगा।

(कथासमाप्ति के बाद) आर्यसुधर्मा ने जम्बु से कहा—"जम्बु! इस प्रकार अन्तर्धनता को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अंग के दस उपासकों के दस अध्ययन कहे हैं।

॥ उपासक-दशासूत्र समाप्त ॥

नवीन....और....उल्लेख्य

मनुष्य के रूप

लें०—श्री यशपाल

प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ

मूल्य—साढ़े पाँच रुपया

आलोचक

प्रो० श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

'मनुष्य के रूप' यशपाल का सबसे नया उपन्यास है। दादा 'कामरेड' 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'दिव्या' आदि उपन्यासों की रचना करके यशपाल पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। उनके इन उपन्यासों में राजनीति के साथ-साथ सेक्स की समस्या की प्रधानता है। सेक्स समस्या का चित्रण करने में यशपाल रोमांस की रंगीनी को नहीं भूलते, हालाँकि उनका दृष्टिकोण सदा यथार्थवादी रहा है। उनके इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण ही कुछ लोगों को उनके यौन-चित्रण में नग्नता दिखाई पड़ती है। यह ठीक है कि यशपाल अपने उपन्यासों में एक विशेष राजनीतिक मतवाद को लेकर चले हैं, किन्तु साथ ही इसके यह मानना पड़ेगा कि उनके उपन्यासों में राजनीतिक दृष्टिकोण होते हुए भी उनका कलाकार रूप तिरोहित नहीं होने पाया है। अपने उपन्यासों में वह कलापक्ष को दुर्बल नहीं होने देते। उनकी इस अभिनव रचना में राजनीति, यौन-समस्या, प्रेम आदि तो हैं ही इनके अलावा और भी कुछ बातें हैं जिनके कारण यह उपन्यास अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

उपन्यास का मूल कथानक धन सिंह और सोमा की कहानी तथा उनके जीवन-वृत्त को लेकर चलता है; किन्तु इसके साथ और भी कई पात्र पात्रियों की कहिनियाँ जड़ित हैं। पुस्तक का नाम 'मनुष्य के रूप' वस्तुतः धन सिंह और सोमा दोनों के जीवन के प्रति चरितार्थ होता है। दोनों ही जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ से होकर गुजरते हैं और इन परिस्थितियों का गम्भीर प्रभाव उनके जीवन पर पड़ता है। सोमा के चरित्र में लेखक ने नारी-चरित्र का जो रूप हमारे सामने रखा है वह जटिल होने के साथ-साथ अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। सोमा विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर प्रेम और वासना का शिकार बनती है। किन्तु उसमें प्रेम की प्रधानता है अथवा कामवासना की यह कहना कठिन है। सोमा एक गरीब घर की विधवा है। उसके साथ उसके घरवालों का व्यवहार अत्यन्त निठुर होता है। धन सिंह के साथ अकस्मात् उसकी भेंट होती है और उसके प्रेम में पड़कर वह घर से भाग निकलती है। यहीं से कहानी का आरम्भ होता है। धन सिंह के साथ प्रेम करके उसने घर छोड़ा किन्तु बाद में उसके जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आतो हैं जिनमें उसे अपने नारीत्व से हाथ धोना पड़ा। बार-बार उसे अपना सतीत्व लोलुप पुरुषों को काम वासना की तृप्ति के लिए समर्पित करना पड़ा ताकि वह स्वाभिमान की रक्षा कर सके। उसके जीवन में अन्तर्द्वन्द्व के कितने ही प्रसंग उपस्थि त हुए। एक ओर नारी

का व्यक्तित्व और दूसरी ओर उसका सतीत्व। अपने व्यक्तित्व को अपमान के वृश्चिक-दंशन से बचाये रखने के लिए वह सतीत्व का बलिदान करने में कुंठित नहीं होती। किन्तु इस बलिदान में उसका मन निर्लिप्त रहता है। नारी अपना मन किसी एक पुरुष को ही दे सकती है किन्तु शरीर अनेक को। यही कारण है कि सोमा के चरित्र में सतीत्व का स्खलन यद्यपि बार-बार दिखलाया गया है किन्तु उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति बराबर बनी रहती है। सोमा के पतन पर हमें घृणा नहीं होती। इस दृष्टि से सोमा का चरित्र-चित्रण अवश्य ही सफल कहा जायगा। सोमा का चारित्रिक पतन होने पर भी उसके व्यक्तित्व का पतन नहीं होता। पाप की भावना उसके मन-प्राण को ग्रस्त नहीं करती। उसके जीवन में एक अदम्य गतिवेग है। इस गतिवेग के कारण ही उसका चरित्र पाप की मलिनता से कहीं धूमिल नहीं होने पाया है।

यशपाल ने अपने इस उपन्यास में मनुष्य के मन का जो रहस्य उपस्थित किया है वह अध्ययन करने की वस्तु है। सचमुच मनुष्य के मन का रहस्य गम्भीर समुद्र के समान अतल है। मन के उस अतल प्रदेश में न मालूम कितने रहस्य छिपे हुए हैं। उनका पता कौन लगा सकता है? हम अकस्मात् जीवन में एक प्रचण्ड आघात का अनुभव करते है और हमारे मन के गह्वर से दो-एक रहस्य चेतना के आलोक में व्यक्त हो उठते हैं। उस समय अपने मन के गोपन-रहस्य को जान कर हम स्वयं चकित-विस्मित हो उठते हैं। ऐसा क्यों होता है? मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार मनुष्य अपने मन की सब बातें नहीं जान पाता। उसके अवचेतन में दिवा-रात्रि विचित्र विचारों की अद्भुत तरंगलीला चलती रहती है। बाह्यतः जो समाज की दृष्टि में सच्चरित्र, साधु एवं निष्कलंक जान पड़ते हैं, उनका 'अन्तर्यामी' उनके अन्तर् के समस्त गूढ़ रहस्यों को आँख खोल कर देखता रहता है। फ्रायड ने लिखा है :"But men's craving for the grandiosity is now suffering the third and most bitter blow from present day psychological research which is endeavouring to prove to the 'ego' of each of us that he is not even master in his own house, but that he must remain content with the veriest scraps of information about what is going on unconsciously in his own mind." मनुष्य की अपने संबन्ध में जो प्रकाण्ड धारणा है उस पर तीसरी बार निष्ठुर आघात पहुँचा है मनोविश्लेषण विज्ञान द्वारा। उस विज्ञान द्वारा हम जान पाये हैं कि हममें कोई भी अपने घर का मालिक नहीं है। हमारे मन के अन्तस्तल में अचेतन भाव से जो कुछ चल रहा है उसकी खण्ड–खण्ड सूचना ही हमें मिला करती है। सोमा के चरित्र के साथ जो घटनाएँ संश्लिष्ट हैं उनमें हमें मन के गोपन रहस्य का ही आभास मिलता है।

उपन्यास के मूल कथानक के साथ प्रासंगिक रूप में मनोरमा और भूषण का प्रेम दिखलाया गया है। मनोरमा एक धनी घराने की उच्च शिक्षिता लड़की है और भूषण एक शिक्षित कम्युनिष्ट कार्यकर्त्ता। मनोरमा के चरित्र के साथ भी सेक्स की समस्या जड़ित है।

भूषण और मनोरमा के बीच प्रेम को लेकर जो कथोपकथन होता है उसमें प्रेम का एक यथार्थवादी स्वस्थ एवं बौद्धिक रूप उपस्थित किया गया है। प्रेम की व्याख्या करते हुए भूषण कहता है—'प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है। यदि वह बिलकुल ढिल्ला और शिथिल रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है और यदि जीवन में प्रेम या आकर्षण का संयम विवेक से न हो तो वह जीवन के लिए घातक हो जाता है।" भूषण मनोरमा से प्रेम करता है किन्तु अपनी वासना को वह विवेक द्वारा संयत रखता है। हममें अहं (ego) की जो भावना होती है वह जब शुभ बुद्धि द्वारा चालित होती है तब हम संयम एवं विवेक से काम लेते हैं और वासना के अंधकूप में पतित होने से बच जाते हैं। फ्रायड ने शुभ बुद्धि को Reality principle कहा है। आनन्द के प्रति मनुष्य का जो स्वाभाविक अनुराग होता है उसे फ्रायड ने Pleasure principle की संज्ञा दी है। एक ओर अहंभाव और दूसरी ओर भोग की प्रवृत्ति दोनों के बीच संग्राम चलता रहता है। अहंभाव जब बुद्धि द्वारा परिचालित होता है तब वह युक्तिसंगत बन जाता है और भोगवृत्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होता। "The ego becomes 'reasonable' is no longer controlled by the pleasure principle, but follows the Reality-principle, which at bottom also seeks pleasure although a delayed and diminshed pleasure, one which is assured by its realisation of fact, its relation to reality," भूषण का व्यवहार मनोरमा के प्रति आपाततः रूक्ष था। मनोरमा अपने प्रेम का प्रतिदान जिस रूप में भूषण से चाहती थी वह उसे नहीं मिलता था। उसे प्रेम के बदले निराशा मिलती थी। फिर भी 'मनोरमा को दूसरों का व्यक्तित्व कुछ जँचता ही न था। पुरुष तो वही है जिसके सन्मुख नारी झुक सके.........।' पुरुष तो वही है जिसके सन्मुख नारी झुक सके, इस एक वाक्य में उपन्यासकार ने नारी-चरित्र का एक बहुत बड़ा रहस्य हमारे सामने खोलकर रख दिया है। वह रहस्य यही है कि नारी जिस पुरुष को मन-प्राण से चाहती है उसमें वह पौरुष का दृप्त प्रकाश देखना चाहती है। जिस प्रेम में पौरुष होता है वही प्रेम नारी को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। स्त्रैणभाव लेकर नारी का हृदय नहीं जीता जा सकता। पुरुष द्वारा निपीड़ित होने की नारी की इच्छा को, मनोविश्लेषण विज्ञान की भाषा में, Masochism कहते हैं। भूषण के रूखे व्यवहार और उपेक्षा से मनोरमा उसके प्रति विरक्त न होकर और भी अनुरक्त होती है। वह अपने प्रति की गई उपेक्षा की कठोरता से मन ही मन पुलकित होती है। जिस पुरुष में यह पौरुष नहीं होता, जो नारी के प्रति समय-समय पर कठोर एवं रूक्ष नहीं बन सकता उसके प्रति नारी की उपेक्षा सनातन है। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में समाज का यथार्थ चित्रण तो किया ही गया है, साथ ही समाज की समस्याओं के प्रति एक स्वस्थ बौद्धिक दृष्टिकोण भी उपस्थित किया गया है। समाज में विधवा के प्रति हृदयहीन व्यवहार, वैधव्य की विडंबना, अवैध प्रेम, पुलिस का अत्याचार, समाज की बाहरी टीमटाम के पीछे घोर दुर्नीति और पाखंड इन सभी तत्त्वों पर लेखक ने तीक्ष्ण प्रकाश डाला है। समाज

निर्जीव रूढ़ियों को लाश की तरह अपने कंधे पर ढो रहा है। उन रूढ़ियों में किसी की आस्था नहीं है। नैतिक मूल्यों के प्रति आन्तरिक श्रद्धा किसी में भी नहीं रह गई है। व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्वत्र पद-दलित हो रहा है। मनोरमा जैसी सुशिक्षित एवं सुसंस्कृतिक पत्नी का पति भी अर्थलोभ के कारण उसे एक सेठ के पास अकेले में छोड़ कुण्ठा का बोध नहीं करता। किन्तु इस प्रकार के अनेक वातावरण के बीच भी लेखक ने अपने पात्रों को व्यक्तित्व की मर्यादा प्रदान की है। उसके पात्र-पात्रियाँ पाप-पंक में फँसकर भी अपने व्यक्तित्व के तेज को खो नहीं देते, अपने अन्तर् की विशुद्धता और मनोबल को कायम रखते हैं। अपने चरित्र द्वारा मानों वे कह रहे हैं—"We are not heroes. But we can become so, when we will when we must. And we must." अर्थात् हमलोग आदर्शवाद नहीं हैं। किन्तु संकल्प कर लेने पर हम वैसा बन सकते हैं—जब हमें वैसा बनना चाहिए—और जरूर बनना चाहिए। धन सिंह और भूषण के चरित्र की परिणति इस रूप में ही हुई है।

परिस्थितियों के प्रभाव से मानव-चरित्र में किस प्रकार के परिवर्त्तन हो सकते हैं और इस दृष्टि से मानव-चरित्र कितना गहन एवं रहस्यमय है इसका दिग्दर्शन इस उपन्यास में लेखक ने बड़ी कुशलता के साथ कराया है।

——:——

सुखदा | **आलोचक**

लें०—श्री जैनेन्द्र कुमार | प्रो० श्री शिवनन्दन प्रसाद, एम्० ए०

प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली



'सुखदा' श्री जैनेन्द्र कुमार का सद्यः प्रकाशित उपन्यास है। पहले यह 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो चुका है। विवेच्य वस्तु की दृष्टि से यह जैनेन्द्र जी के अन्य उपन्यासों से भिन्न और विशिष्ट है। विधान की दृष्टि से भी नवीनता है।

वस्तुवर्णन प्रथम पुरुष में हुआ है। मरणासन्न सुखदा अस्पताल में पड़ी-पड़ी अतीत जीवन का सिंहावलोकन करती है। संक्षेप में विवाह के पूर्व की उसकी परिस्थिति बता दी जाती है। सम्पन्न परिवार में उत्पन्न हुई, दुलार में पली, अच्छी शिक्षा पाई। विवाह के सम्बन्ध में, स्वाभाविक है कि उसके सपने ऊँचे हों। जहाँ विवाह करना चाहती थी, नहीं कर सकी—विवाह हुआ एक अल्पवेतनभोगी के साथ। सुख-समृद्धि का जीवन बिताने का स्वप्न अधूरा ही रह गया और उसके अन्दर एक अतृप्ति घर करने लगी। चेतन मन की परिस्थिति-वश दमित अभिलाषाएँ कहीं उपचेतन या अचेतन मन में अदृश्य हो गईं, पर अनुकूल वातावरण मिलते ही उनका विस्फोट हुआ करता। यह मानसिक कुण्ठा का ही परिणाम था कि सुखदा सहज ही क्रान्तिकारी दल से सहानुभूति ही नहीं रखने लगी, वरन् उसके कामों में प्रमुख और सक्रिय

भाग भी लेने लगी। पति के प्रति उसका अनायास, आकस्मिक और अकारण क्षोभ गृहजीवन से असन्तोष का ही परिणाम है। गृहस्थी के दायरे में असन्तुष्ट उसका अहं बाहर के जीवन में तृप्ति खोजता है—वह दिखा देना चाहती है कि मैं क्या हूँ, क्या हो सकती हूँ।

दल के प्रमुख सदस्य हरीश और लाल—दो भिन्न व्यक्तित्ववाले चरित्र—सुखदा के सम्पर्क में आते और उसे प्रभावित करते हैं। हरीश आदर्शवादी, अपने में लीन और अनासक्त है। सुखदा की अहं भावना—घर की सीमाओं के अन्दर भूखी और असन्तुष्ट—हरीश के सम्पर्क से तृप्ति नहीं पाती। वह सुखदा की ओर उतना ध्यान नहीं दे पाता। पर लाल है कि सुखदा को सर-आँखों पर रखने को उत्सुक है, बेतकल्लुफ़ है और शारीरिक सम्पर्क के सम्बन्ध में भी सावधान नहीं, लापरवाह है। लाल और सुखदा का परस्पर अनुराग इतना बढ़ जाता है कि वह हरीश द्वारा मृत्युदंड स्वीकार करने को प्रस्तुत है, पर सुखदा के प्रति तटस्थ होना उसके लिए सम्भव नहीं है। पति सब कुछ जानता है, हरीश से इस विषम परिस्थिति के सम्बन्ध में विचार-विनिमय भी किया करता है, क्योंकि लाल और सुखदा के अनुराग को वह अच्छा नहीं समझता। पर वह सुखदा के व्यक्तित्व को विकसित होने की पूरी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, अतएव कहीं भी उसकी गतिविधि में बाधा नहीं डालता। परिस्थिति के साथ सुखदा की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को वह मूक-भाव से स्वीकार कर लेता है, चाहे परिणाम जो भी हो।

लगता है, इस उपन्यास में व्यक्ति के विकास के सम्बन्ध में एक प्रयोग है। पति ने सुखदा को जो छूट दे रखी है उसके आलोक में उसके चरित्र का विकास—उसकी पारिवारिक अतृप्ति-जनित कुण्ठा की व्यावहारिक परिणति और फिर इसके बाद आचरण की पवित्रता और देश के प्रति निःशेष आत्म-समर्पण सम्बन्धी हरीश के ऊँचे आदर्शों से लाल की विवशता-जनित दुर्बल मनोदशा के सन्तुलन का प्रयास—ये कुछ समस्याएँ हैं जिनको लेकर कलाकार आगे बढ़ा है।

इस उपन्यास में सुखदा का चरित्र अधूरा है—लेखक ने आश्वासन दिया है कि संभवतः शेषांश भी सामने आ सकेगा। इसलिए इस उपन्यास की सीमाओं में सुखदा के व्यक्तित्व को अपनी सम्पूर्णता में हम नहीं देख पा सकेंगे। इस उपन्यास में घटनाओं का केवल चढ़ाव है, उतार नहीं। परिस्थिति उलझती गई है, उलझती गई है। हरीश और सुखदा के पति परिस्थिति के अनौचित्य को समझते हैं लेकिन सुखदा को उससे बाहर निकालने के लिए निष्फल प्रयास करते हैं। अंत आरम्भ में ही है—सुखदा मरणासन्न है, उसे अपने किये का पछतावा है, लेकिन पति के प्रति उसका तनाव बना ही है। शायद बीमार वह इसलिए है कि भीतर की आग उसे खाये डालती है—हरीश के प्रयत्नों से शायद पति के प्रति उत्तरदायित्व का भान उसे हुआ है अथवा लाल और पति को लेकर कोई अन्तर्द्वन्द्व उसके अन्दर जगा है। अन्तर्द्वन्द्व द्वारा मथित चेतना पश्चात्ताप में शीतलता खोजती है, पर अतीत जो बन चुका, मिटाये नहीं मिट रहा। एक आग उसके अन्दर सुलगती रहती है, धीमी आग जो भीतर ही भीतर उसे

घुलाये जा रही है और वह बीमार रहा करने लगी है और अन्त में यहाँ अस्पताल में हम उसे मरणासन्न देखते हैं। पर यह सब मेरा अन्दाज है, उपन्यास के मध्य और अन्त के बीच की कल्पित कड़ियाँ हैं। क्योंकि घटना-क्रम का उतार लेखक को अभी नियोजित करना शेष है। जो भी हो, शेषांश में ही सुखदा के चरित्र की ग्रंथियों का उद्घाटन होगा सुखदा का व्यक्तित्व अपने गन्तव्य तक पहुँचेगा।

यों, उपन्यास जिस रूप में है, कलाकार जैनेन्द्र की यशस्विता के अनुकूल ही है। व्यक्ति के मनोविज्ञान का सूक्ष्म तो नहीं, पर सुश्रृंखल अध्ययन, आदर्श और मन की प्रवृत्ति के सन्तुलन का प्रयास, वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक उद्देश्य की परस्पर महत्ता का मूल्यांकन, नारी के प्रकृत कार्य-क्षेत्र के चुनाव का विचार—ये इस उपन्यास की कुछ विषयगत विशेषताएं हैं।

रचना-विधान की दृष्टि से कलाकार सफल है। प्रथम पुरुष में वस्तु-वर्णन होने के कारण प्रधान पात्र सुखदा की भावनाओं और मानसिक प्रतिक्रियाओं के सुसंगत चित्र स्वाभाविक रूप में सामने आते गए हैं। व्यक्ति-प्रधान उपन्यास होने के कारण घटनाएं थोड़ी ही हैं, और जो हैं वे विशेष परिस्थिति में निबद्ध चरित्रों से निःसृत होकर उन्हीं को प्रकाशित करती हुई आगे बढ़ती हैं। वार्तालाप और चेष्टाओं द्वारा भी पात्रों का चरित्र-चित्रण ही अभीष्ट है। कोई महदनुष्ठान या व्यापक सामाजिक घटना-श्रृंखला की अवतारणा नहीं हुई है। प्रेमचन्द की व्यापक सामाजिक दृष्टि जैनेन्द्र में नहीं, पर एक ऐसी गहराई है और अनुभूति की ऐसी सजगता है जो इनके पात्रों में सजीवता भर देने में समर्थ है।

अभिव्यक्ति में सरल शब्द-चयन, पर प्राणवत्ता और प्रभावक्षमता, कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक विचार भर देने की योग्यता, वाक्य-विन्यास में आकर्षक सादगी और सर्वत्र एक घोर ईमानदारी जैनेन्द्र की शैली की सामान्य विशेषताएँ हैं। सर्वत्र जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की सात्विक सादगी झलकती है, जैसे वाक्य उनके प्राणों के अन्तस्तम प्रदेश से निकले हों, जैसे अनुभूति स्वयं वाक्यों के रूप में ढल गई हो। जैनेन्द्र की शैली में उनके व्यक्तित्व की यह अनिवार्य छाप, चाहे तो आप कह सकते हैं, एक दोष है, क्योंकि इसके कारण शैली में वस्तु या विषय की अनुरूपता नहीं आ पाती। फिर भी एक ऐसी सजीवता का संचार इसके चलते हो जाता है जो पाठकों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

काव्य और कल्पना

ले०—श्री रामखेलावन पाण्डेय
प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना
पृ० सं० १५०; मूल्य—साढ़े तीन रुपये।

आलोचक
प्रो० श्री शिवनन्दन प्रसाद एम्० ए०

'काव्य और कल्पना' श्री रामखेलावन पाण्डेय की आलोचना-सम्बन्धी दूसरी पुस्तक है। इसमें लेखक के ग्यारह आलोचनात्मक निबन्ध संकलित हैं। निबन्धों के शीर्षक इस प्रकार

हैं—काव्य और कल्पना, कविता और उसका स्वरूप, आधुनिक हिन्दी कविता, गीतिकाव्य की परम्परा, काव्य में आत्माभिव्यक्ति, वर्त्तमान हिन्दी काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, वर्णन-विधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, काव्य में अस्पष्टता, कवि और प्रकृति-चित्रण, कलाकार की आलोचनात्मक प्रतिमा, और हिन्दी कविता के विकास की इंगित दिशा। ये निबन्ध परस्पर असम्बद्ध और एक दूसरे से स्वतंत्र हैं—सम्भवतः भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गए हैं। इसी कारण इनकी कोटि और बौद्धिक स्तर भी समान नहीं।

'काव्य और कल्पना शीर्षक' प्रथम निबन्ध में पाण्डेय जी का पाण्डित्य ही प्रमुख हैं। उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी के साहित्य-शास्त्रियों के ग्रंथों से भरपूर उद्धरण देकर काव्य तथा कल्पना के स्वरूप तथा इनके परस्पर सम्बन्ध के उदघाटन करने का प्रचुर प्रयास किया है। भाषा कुछ क्लिष्ट है। दूसरे निबन्ध की भाषा अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। भाषा के स्वस्थ प्रवाह के साथ उद्धरणों की भरमार के अभाव के कारण लेखक को अपने सुनिश्चित विचारों की शृंखलाबद्ध अभिव्यक्ति का अधिक अवसर मिला है। 'आधुनिक हिन्दी कविता' शीर्षक तीसरे निबन्ध में लेखक की आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि और उसकी सहज सहृदयता का परिचय मिलता है। मात्र बौद्धिक सहानुभूति के आधार पर रचित प्रगतिवादी काव्य को, रागात्मक आवेश के अभाव के कारण, लेखक ने काव्य ही नहीं माना है। यह तो ठीक है, लेकिन काव्य के परम्परागत मूल्यों और मानों में परिवर्त्तन की आवश्यकता-अनावश्यकता पर लेखक ने पर्याप्त विचार नहीं किया है। 'गीति काव्य की परम्परा' एक उत्कृष्ट निबन्ध है। प्रवाहपूर्ण और सघन अर्थ-गर्भित भाषा, विस्तृत अध्ययन और गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध सिद्धान्त-तत्त्व और विकास-सूत्र, तथा सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय—ये इस निबन्ध की, विशेषताएँ हैं। 'काव्य में आत्माभिव्यक्ति,' 'वर्त्तमान हिन्दी काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ,' 'वर्णन-विधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ', 'काव्य में अस्पष्टता' तथा 'कवि और प्रकृति-चित्रण,' भी अच्छे निबन्ध हैं। 'कलाकार की अलोचनात्मक प्रतिभा' में प्राच्य की अपेक्षा पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। 'हिन्दी कविता के विकास की इंगित दिशा' अंतिम निबन्ध हैं।

पाण्डेय जी आलोचना-क्षेत्र में नये नहीं। उनकी भाषा में बल है और विचारों में अध्ययन की गरिमा। उनकी यह नई पुस्तक साहित्य के अध्येताओं के लिए उपादेय है।

—————

कोशा

लेः—पोद्दार रामावतार अरुण
प्रकाशक—किरणकुंज; समस्तीपुर (बिहार)
मूल्य—सजिल्द तीन रुपये।

आलोचक
प्रो॰ श्री शिवनन्दन प्रसाद,
एम्॰ ए॰

◆

'कोशा' नौ सर्गों में लिखित कवि अरुण का ऐतिहासिक प्रबन्धकाव्य है। सम्राट् नन्द के मन्त्री शकडाल के पुत्र सिद्धयोगी स्थूलभद्र के साथ पाटलिपुत्र की महान् नर्तकी 'कोशा' का प्रेम इस काव्य का विषय है। कवि के शब्दों में—'कविता के इंगित से कथानक की कल्पना ने

इतिहास के मोह को सगर्व त्याग दिया है।' इतिहास की घटनाओं के यथातथ्य चित्रण की अपेक्षा शाश्वत मानव मनोरागों और आदर्शों का संघर्ष इसमें अधिक सफलता के साथ अभिव्यक्ति पा सका है।

'कोशा' काव्य की कथावस्तु मार्मिक और महिम है। सकडाल के पुत्र स्थूलभद्र और नर्तकी कोशा के बीच अनायास प्रथम दर्शन में ही प्रेम हो जाता है। और फिर, स्थूलभद्र कोशा के विलास-उपवन में ही अधिक समय बिताने लगता है। उसका छोटा भाई और सम्राट् का अङ्गरक्षक श्रेयक सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवाले अपने पिता मन्त्री शकडाल का बध कर राजभक्ति का परिचय देता है। इसपर नन्द उसे मन्त्री बनाना चाहता है, पर वह बड़े भाई स्थूलभद्र को मन्त्री बनाने का प्रस्ताव करता है। पर स्थूलभद्र पिता की चिता-ज्वाला में जीवन की क्षणभंगुरता का सन्देश पा भोग से उदासीन हो जाने के कारण मंत्रीपद अस्वीकार कर देता है और तपस्या करने चला जाता है। इधर नर्तकी कोशा उसके वियोग में विह्वल, भोग-विलास से उदासीन हो जाती है। अनङ्ग की विलास-मंत्रणा को ठुकरा कर वह अपने अन्दर नारीत्व की ज्योति जगाती है।

स्थूलभद्र के गुरु योगी सम्भूतिविजय के शिष्यगण वर्षा में विविध प्रकार कठोर तप करने का आदेश माँगते है। स्थूलभद्र कोशा के कलाकुञ्ज में रहकर तप करने की आज्ञा लेता है। अन्य शिष्य इस पर व्यंग्य करते हैं। स्थूलभद्र कोशा के उद्यान में तप करने जाता है। कोशा वर्षों बाद उसे पाकर फूली नहीं समाती, तथा अपनी कला की शक्ति से उसे भोगपथ पर वापस लाना चाहती है। पर, असफल हो वह स्वयं स्थूलभद्र के आदर्श की महत्ता के आगे सर झुका देती है। तप और संयम से दीप्त पौरुष विजयी होता है। स्थूलभद्र व्रत में सफल हो कोशा से विदा लेता है। स्थूलभद्र की सिद्धि-सफलता देख ईर्ष्यावश उसका प्रतिद्वन्द्वी भिक्षुक रौद्रक भी हठकर गुरु की आज्ञा ले कोशा के उद्यान में तप करने आता है। पर कोशा के रूप, यौवन और कला की चकाचौंध से वासनापङ्क में फँस जाता है। और, सुनसान रात में कोशा के शयनकक्ष में अनधिकार प्रवेश करता है। इस पर क्रुद्ध कोशा उसकी भर्त्सना करती है और उसे सन्मार्ग का उपदेश देती है। पराजित रौद्रक गुरु के पास लौटता है। कोशा वासना का तम-मार्ग छोड़ चुकी है—उसकी कला आत्म-प्रकाश की प्रतिध्वनि है। वह कला-साधिका का सात्विक जीवन बिताती है, पर वार्द्धक्य में मरण के पूर्व तक उसे स्थूल-भद्र का प्रेम नहीं भूलता। मरने के पूर्व वह आलोकनृत्य का उपक्रम करती है और उसके प्रेम का जीवित सत्य सिद्ध योगी स्थूलभद्र को कोशा की लाश उठाने तक को विवश करता है।

इस कथावस्तु के भीतर पौरुष के कठोर तप और नारीत्व के तरल प्रेम का संघर्ष ध्वनित है। कहना कठिन है, जीत कोशा की रूपज्वाला से न पिघलनेवाले हिमालयतुल्य योगी स्थूलभद्र की हुई या उसकी याद में अपने विलास-सुरभित यौवन और जीवन को बहा देनेवाली पवित्र तरल गंगा—कोशा की!

इस काव्य में कोशा का चरित्र आकर्षक है। वह रूप और यौवन से पूर्ण मात्र नर्तकी

नहीं एक कला-साधिका है। उसकी कला आत्म-जागरण की किरणें बिखेरती हैं वासना का अन्धकार नहीं फैलाती। स्थूलभद्र के तप के पीछे उसका तेज दीखता है। रौद्रक को मोहनिद्रा से वह जगाती है। लेकिन जीवन की सन्ध्या-वेला में कोशा के नारीत्व का करुण हाहाकार सुनाई देता है—वह इस भाव से सन्तोष नहीं कर पाती कि स्थूलभद्र मात्र उसका नहीं, सबका है। इस हाहाकार की मूक प्रतिध्वनि स्थूलभद्र को कोशा का शव उठाने के लिए खींच लाती है। कोशा के चरित्र का परिचय कवि के शब्दों में देखिये—

कोशा केवल प्रेयसी नहीं, नर्तकी नहीं
अनुभूति-ज्योति की वाणी की गीताञ्जलि है।
वह कला-शिल्पिनी, मानव को भी गढ़ती है।

कला और प्रेम के सम्बन्ध में कवि की उक्ति देखिये—

जीवन की निर्मलता से कला निकलती है
संगीत—स्वर्ण-संगीत आत्मा से आता है
और प्रेम?
सत्य के प्राणों की उन्मुक्त प्रतिध्वनि ही तो है।

ये स्थूलभद्र के विचार हैं जिनसे कोशा प्रभावित है। पर अन्त समय में कोशा के नारीत्व की प्रतिध्वनि देखिये—

हो गई श्रमण, लेकिन अतृप्त था यह जीवन
उमड़े आँसू को रोक सकी मैं कभी नहीं
रोका करता है पुरुष प्रेम की धारा को
नारी का हृदय नहीं पाषाण हुआ करता।

सम्पूर्ण काव्य नारी, रूप, सौन्दर्य और प्रेम के इर्द-गिर्द घूमता है, पर सर्वत्र एक आध्यात्मिक उन्मेष है जो चित्रों पर वासना का रंग चढ़ने नहीं देता। आदर्श चरित्रों के समावेश के कारण इस काव्य में लोक-मंगल के तत्त्व वर्त्तमान हैं। फिर भी इस काव्य को कला की दृष्टि से हम प्रथम कोटि की रचना नहीं मान सकेंगे। कारण, इसके चरित्रों में रक्त और मांस का अभाव है—वे स्वतः नहीं चलते, वरन् लेखक अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर जिधर चाहता है, उनकी गति मोड़ देता है। घटनाएँ, इसीलिए, चरित्रों से निकलती हुई नैसर्गिक प्रवाह के साथ आगे नहीं बढ़तीं—उनके विन्यास में कृत्रिमता है। उनकी गति में लेखक का हाथ स्पष्ट लक्षित हो जाता है।

वस्तु-विन्यास में संतुलन का अभाव और अभिव्यञ्जना में शब्द-संयम की कमी की ओर भी ध्यान जाता है। पुनरुक्तियाँ बहुत हैं। फिर भी भाषा में लाक्षणिक वक्रता तथा सम्यक् अलंकार-योजना के कारण अभिव्यक्ति सामान्यतः शिथिल नहीं—उसमें पर्याप्त बल है। कवि शब्दों की आत्मा को पहचानता है और उनका स्थलोचित प्रयोग करता है। कुल मिलाकर 'कोशा' काव्य हिन्दी साहित्य को कवि की एक नई देन है और इसलिए वह अवश्य पठनीय है।

———

संकलन

तुलसीदास

रागात्मक प्रवृत्तियाँ रसों की आधारभूमि हैं। जीवन में रागात्मक प्रवृत्तियों का स्थान सरिता में लहरों के समान है। जिस सर या सरिता में लहरों की उद्भावना नहीं होती उसमें प्राकृतिक सौन्दर्य भी नहीं होता। भले ही आसपास घाटों का आवरण कर दिया जाय। साहित्य भी यदि आवरण-प्रधान, अलंकार एवं रीति-प्रधान रहा तब तो उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं रहता। आचार्य केशव की रचना इसी प्रकार की है। जब मार्मिक एवं मनोरम स्थल आते हैं तब केशवदास जी अलंकारों और छन्दों के बंध में बँध जाते हैं। हृदय के पारखी तो तुलसी थे। उन्होंने राम के जीवन में आने वाले प्रत्येक क्षण को खूब सोचा-समझा है। भले ही तुलसी कहते रहें कि—

'कवित विवेक एक नहीं मोरे,
साँच कहौं लिखि कागद कोरे।'

अच्छा ही हुआ, कहीं 'कवित-विवेक' आ जाता तो हो जाती केशव-सी हालत! तुलसीदास एवं केशवदास समकालीन थे। परन्तु, एक ओर हो गये भाव-प्रधान तुलसी और दूसरी ओर कला-प्रधान केशव। केशव में 'गिरा व अरथ जल बीचि सम' न रहकर, ऐसा प्रतीत होता है, जल का स्राव अलग हो गया और लहरों का अलग। इसके विपरीत तुलसी में 'जल बीचि' वाली बात खूब निभाई गई है।

रागात्मक प्रवृत्तियों से हमारा आशय मानव-सुलभ सुख-दुःख की भावना, प्रेम, हर्ष, क्रोध, काम, विषाद की भावनाओं से है। इन सभी भावनाओं का आधार दैनिक जीवन है। जीवन की धारा में लहरों की तरह आने-जाने वाली प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करती हैं। मनोविज्ञान इस तथ्य में विश्वास करता है कि इन प्रवृत्तियों का समुचित विकास न होने से मनुष्य में अपूर्णता रह जाती है। जीवन में ऐसे अवसर आने चाहिए या दिये जाने चाहिए जिनसे इन भावनाओं की उद्भावना हो सके और मनुष्य यह महसूस कर सके कि वह जीवित है। स्पंदन का नाम ही जीवन है। कवि यदि ऐसे क्षणों को पहचान सके तो निश्चय ही वह अपने कार्य में सफल हो जाता है। कविता में भाषा का महत्त्व नहीं रहता जितना कि भावों का। भाव कविता की आत्मा है। भाषा शुद्ध साहित्यिक न होने पर भी, कबीर का साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। और, जनता भी तो अपने कवि को अपने हृदय का आसन दिये रहती है। केवल भाषा, छंद या कला के लिए कला के उद्देश्य से लिखने वालों को जनता ने न तो आज तक अपनाया है, न अपनायगी।

कवि की सबसे बड़ी सफलता मार्मिक स्थलों की पहचान में है।[1] वे मार्मिक स्थल जीवन

---

१. यह लेखक की अपनी स्थापना नहीं है। उसे शुक्ल जी का आभार स्वीकार करना चाहिए था।

की प्रवृत्यात्मक घटनाओं के सिवा और कुछ नहीं। प्रवृत्तियाँ परिवर्तित हो सकती हैं पर समूल नष्ट नहीं हो सकतीं। इनकी स्थिति शाश्वत है। इनके रूपों में परिवर्त्तन हो सकता है। परन्तु, इनके उद्भव का मूलोच्छेद नहीं हो सकता। मनुष्य जाति के आविर्भाव से ही इनका आविर्भाव हुआ। इस कारण, इन्हें शाश्वत मानकर ऐसा कहा जा सकता है कि कवि इन्हें पहचाने बिना कभी सफल नहीं हो सकता। कवि की कीमत उसके जीवन-काल में ठीक ठीक नहीं आँकी जा सकती। जब आनेवाली पीढ़ियाँ उसे अपने युगानुकूल एवं प्रेरणाप्रद समझेंगीं तब उसकी सफलता मानी जा सकती है। कवि पैदा होते हैं, मर भी जाते हैं। कविताएँ होती हैं, मिट जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं। पर मीरा के भजन यदि लिखे न भी होते फिर भी आगे आनेवाली कई पीढ़ियाँ उसे गाकर झूमती रहेंगी। सत्साहित्य का यही प्रमाण हो सकता है। यही कसौटी है, अन्य कोई नहीं। तुलसी पर ये सब बातें फिट बैठती हैं। यही कारण है कि कई उथल-पुथल वाले युग देखने के बाद आज भी उनकी कविता प्राणवती है। उसमें अभी भी मानवीय प्रेरणाओं के स्रोत हैं। तुलसी-साहित्य राजा और रंक सभी में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। मानव-सुलभ प्रवृत्तियों के दिग्दर्शन से कवि का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है।

लगभग सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का उद्भव राम के जीवन में होता है। तुलसी लगभग सभी को पहचानते हैं। कवि के लिए इन प्रवृत्तियों का जानकार होना इसलिए भी आवश्यक है कि ये सार्वभौम होती हैं। प्रवृत्तियाँ राजा और रंक में अन्तर नहीं समझती। अपनी लड़की को ससुराल भेजते समय जितना दुःख एक साधारण मजदूर को होता है उतना ही जनक को भी। बिना किसी भेद-भाव के प्रवृत्तियाँ सबमें स्थित होती हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि एक मानव एवं एक विश्व की कल्पना इन्हीं मानव-सुलभ प्रवृत्तियों के आधार पर हो सकती है। तुलसी इस तथ्य को पहचान सके थे इसी कारण आज उनका साहित्य पहाड़ों, समुद्रों, राजनीति एवं भाषा को, प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक सीमाओं को पार कर देश-विदेश पहुँच रहा है। जितनी प्रभावोत्पादक रामायण की सीता हिन्दुस्थान में हैं उतनी ही विदेशों में भी। इसका कारण यही है कि तुलसीदास ने, कम-से-कम रामचरित मानस में तो, अपनी अन्तर्मुखी भक्ति को दूर रख मानव-प्रवृत्तियों में ही अपनी धूनी रमा ली थी। तुलसी की सफलता का यही कारण है।

'मानव-सुलभ-प्रवृत्ति-विशेषज्ञ तुलसी'
ले०—श्री ब्रजविहारी निगम
'मानवता', अकोला; (सित०—अक्टूबर १९५२ ई०)

भारतेन्दु-जयन्ती

किसी कवि ने कहा है कि अपने जीवन-सागर का मंथन कर कवि विष के रूप में जो कुछ प्राप्त करता है उसे वह स्वयं पी लेता है और अमृत के रूप में जो कुछ वह पाता है, उसे वह संसार को दे डालता है। भारतेन्दु जी का गौरव अब उनकी रचनाओं में ही लक्षित होता है। उनके व्यक्तिगत जीवन की कथा अब एक कहानी मात्र रह गई है। स्वयं हरिश्चन्द्र ने कहा

है—'प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायगी।' इसमें सन्देह नहीं कि अब उनके जीवन की यथार्थता केवल एक कहानी ही के रूप में रह गई है। लोग अब आँखों में जल भर-भर कर उनकी वह कहानी कहा करते हैं।

तारीख १ सितम्बर १९५२ को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की जयन्ती मनाई गई। उनमें असाधारण प्रतिभा थी। असाधारण रचना-शक्ति थी। पर, उन दोनों से बढ़कर उनका असाधारण व्यक्तित्व था। अपने उसी असाधारण व्यक्तित्व के कारण उन्होंने काशी में जिस भारतेन्दु-मंडल की स्थापना की, उसी के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य का उत्थान हुआ। अँगरेजी साहित्य में डॉ॰ जानसेन की तरह वे भी तत्कालीन साहित्य के मुख्य केन्द्र थे। अन्य सभी लेखक उन्हीं के आकर्षण से मानों उनकी परिक्रमा कर रहे थे। हिन्दी के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि डॉक्टर जानसेन की तरह भारतेन्दु जी के मण्डल में बासवेल की तरह उनका कोई ऐसा भक्त अनुचर नहीं हुआ, जो उनके चरित्र की छोटी-बड़ी सभी बातों को लिपिबद्ध करता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जानसेन के मण्डल से कम विलक्षण उनका मंडल नहीं था। उस मंडल के सात सदस्य सात नक्षत्रों की तरह हिन्दी के तत्कालीन साहित्य-गगन को प्रकाशित करते थे। वे हैं पंडित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं॰ प्रतापनारायण मिश्र, पं॰ राधाचरण गोस्वामी, साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास, महामहोपाध्याय पं॰ सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्ण दास और महाराज कुमार रामदीन सिंह।

साहित्य का निरन्तर विकास होता रहता है। एक विशेष युग में जो रचनाएँ लोकप्रिय हो जाती हैं, उसकी लोकप्रियता दूसरे युग में विनष्ट हो जाती है। साहित्य में अधिकांश रचनाएँ केवल अपने युग की आवश्यकता के अनुकूल ही निर्मित होती हैं। इसके अतिरिक्त सभी युगों में कोई न कोई एक विशेष आदर्श काम करता रहता है। कविता का आज जो आदर्श हिन्दी-साहित्य में प्रचलित है, वह हरिश्चन्द्र युग में नहीं था। आधुनिक युग के कितने ही समालोचकों को रीति-काल के कवियों की रचनाओं में नायिका-भेद का वर्णन पढ़ विरक्ति होती है। उनकी कुछ ऐसी धारणा हो गई है कि नायिका-भेद का वह साहित्य एकमात्र मुगलकाल की विलासिता का द्योतक है। राजा-महाराजाओं के संरक्षण में रहकर कवियों ने एकमात्र अपने उन संरक्षकों की मनस्तुष्टि के लिए शृङ्गाररस से पूर्ण कविताएँ लिखीं। यह सच है कि अधिकांश कविताएँ एक रसिक वर्ग के लिए लिखी जाती हैं। जो काव्य का रसिक नहीं है, उसके समक्ष कविता का निवेदन कवियों के लिए एक पाप के समान था। साधारण जन-साहित्य से रसिक-वर्ग का यह रस-साहित्य विलक्षण होता है। आधुनिक साहित्य में भी अधिकांश कविताएँ और रचनाएँ एक विशेष श्रेणी के पाठकों के लिए ही उपयुक्त हैं। उन सभी की गणना जन-साहित्य या लौकिक साहित्य में नहीं की जा सकती। साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाले जो कवि होते हैं उनमें लोक-कल्याण की ही भावना काम करती है। वे जिस प्रकार लोक-रुचि का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार लोक-कल्याण की कामना से भी प्रेरित होते हैं। प्रेम के संयोग-वियोग की भावनाओं को भिन्न-भिन्न कवियों ने आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक

कविता के रूप में व्यक्त किया है। हिन्दी-साहित्य में शृंगार रस का जो विशेष आधिक्य हुआ उसका मुख्य कारण वैष्णव धर्म की वह प्रेम-भावना है,—जिसके कारण भावना-जीवन में भगवान् के सगुण रूप का दर्शन किया गया। सभी नायिकाओं और नायकों में राधा और कृष्ण की कथाएँ विद्यमान हैं। ठाकुर, घनानन्द, ग्वाल, आलम आदि सभी कवियों की तरह उन्होंने भी अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है। उनकी भी रचना शृंगार रस से पूर्ण है। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि श्रीकृष्ण और राधा के रूप में एक ही उन्होंने नायक-नायिकाओं की लीला का गान किया है। एक स्थान में उनकी नायिका कह रही है—

'मुझे कोई कुलटा कहे या कुलीन, अकुलीन, रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी कुछ भी कहे, मुझे इसकी परवाह नहीं है। पर-लोक और नर-लोक तो क्या, मैंने श्रेष्ठ लोकों से उस लोक को लिया है, जो शोक-रहित है। इसीसे मैं सब लोगों से अलग हूँ। शरीर भले ही चला जाय, मन भी जाय, पर मेरा प्राण नहीं टूटेगा। मैं तो वृन्दावन के पीताम्बरधारी वनवारी के मुकुट पर न्योछावर हूँ।'

प्रेम की ये भावनाएँ इतनी साधारण हैं कि लौकिक साहित्य के ग्राम्य-गीतों में भी उनकी अभिव्यक्ति हुई है। उन लौकिक भावनाओं को अलौकिक रूप देने का प्रयास रीति-काल के कवियों ने किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने भी पुनीत प्रेम के उसी आदर्श का अनुकरण कर कविताएँ लिखी हैं। व्रज-साहित्य में जिस रूप की प्राप्ति के लिए व्यग्रता थी, वही उनकी रचनाओं में विद्यमान है।

आधुनिक युग में क्रान्ति की जो भावना प्रचलित हुई और उग्र रूप से फैलती जा रही है, उसका मूल आर्थिक हीनावस्था और आर्थिक विषमता में है। मध्ययुग में क्रान्ति की जो भावना संतों और भक्त कवियों के द्वारा प्रवर्त्तित हुई; उसका मूल धार्मिक हीनता और धार्मिक विषमता में है। भारतेन्दु जी ने भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था पर दृष्टि डाल कर राष्ट्रीयता के उद्बोधक भावों से पूर्ण कविताएँ अवश्य लिखीं; परन्तु देश की महत्ता को स्वीकार करने पर भी कविता की सच्ची प्रेरणा उन्हें उसी भाव से प्राप्त हुई, जिसके कारण उन्होंने अपने को प्यारे कृष्ण का सखा और राधारानी का गुलाम कहा है।

कुछ समय पहले वेल्स साहब ने विश्व के इतिहास का मन्थन कर छै महापुरुषों के रूप में छै रत्न ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने लिए जो कसौटी निश्चित की, वह यह थी कि किसकी कृतियों का कितने अधिक प्रभाव कितने अधिक लोगों पर कितने अधिक काल तक विद्यमान रहा। उसी से किसी महापुरुष के जीवन के सच्चे गौरव की यथार्थ परीक्षा हो सकती है। जो महापुरुष होते हैं, वे अपने समय में एक ऐसी विचार-धारा प्रवर्त्तित कर देते हैं जिसके कारण जीवन प्रगतिशील हो जाता है। वेल्स साहब ने जिन छै महापुरुषों की खोज की, उसका माहात्म्य इसी में है कि उन्होंने अपने-अपने युग में भाव, कर्म और ज्ञान के विकास के लिए मूल प्रेरणाएँ विकसित कर दीं।

आधुनिक भारतवर्ष के नव निर्माण में जो विचारधाराएँ काम कर रही हैं, उनमें

सबसे प्रमुख राष्ट्रीयता की भावना है। भारतवर्ष शासन की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विभक्त हो गया। परन्तु, उन प्रान्तों में एकमात्र शासन की दृष्टि से ही प्रान्तीयता स्थापित नहीं हुई। भारतवर्ष में भाषाओं के साथ आचार, व्यवहार और रीति-नीति की भी इतनी विभिन्नता है कि एक ओर जहाँ देश में भौगोलिक एकता है, वहाँ विभिन्नता भी है। भारत मानो छोटे-छोटे देशों का एक बड़ा देश है। उन सभी छोटे-छोटे देशों की अपनी एक विशेष भाषा और अपनी एक विशेष संस्कृति भी है। मध्ययुग में राजनीति की दृष्टि से भी भारतवर्ष में कभी सच्ची एकता नहीं थी। भिन्न-भिन्न जातियों में ही नहीं, भिन्न-भिन्न वर्गों और कुलों में संघर्ष था। इतनी विभिन्नताओं और संघर्षों के बीच में भी एकता की जो एक भावना थी, वह एक ऐसे धार्मिक भाव पर आश्रित थी, जहाँ अनेकता में ही एकता देखी जाती थी। अनेकताओं को स्वीकार कर उनके मूल में एकता की भावना उत्पन्न करना भारतीय धर्म और संस्कृति की सच्ची विशेषता थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं में जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसमें भारतीय समन्वय की यही विचारधारा काम कर रही थी। साहित्य के क्षेत्र में जब कभी कोई विचारधारा प्रवर्त्तित हुई, तब वह एक ही भाषा में बद्ध नहीं रही। वह सभी प्रान्तों की सभी भाषाओं में एक ही रूप से विकसित हुई। मध्ययुग में वैष्णवधर्म के कारण भक्ति की जो धारा उद्भूत हुई, वह केवल उत्तर भारत में ही नहीं रही, वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में भी फैल गई। तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाओं के भावों की एकता कभी विच्छिन्न नहीं हुई।

विजेता मुसलमानों के शासन में रहकर भारतवर्ष ने पराधीनता और मानसिक दासत्व का अनुभव नहीं किया जो उसने अँगरेजों के शासन-काल में किया। उस समय राजनीति की दृष्टि से पराधीन होने पर भी भारतीयों में सच्ची कर्त्तृत्व-शक्ति थी। इसीलिए उनके साहित्य-कला तथा समाज की भी उन्नति में कोई विशेष बाधा नहीं हुई। परन्तु मुगल शासन की क्षीणता के साथ सारे साम्राज्य में मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट के भाव फैले और सारे देश में एक ऐसी अव्यवस्था आ गई कि लोग सत्साहित्य शिल्प और कला; यहाँ तक कि धर्म के आधार-भूत सिद्धान्तों को भी भूल बैठे। आधुनिक भारतवर्ष के इतिहास में वही काल अन्धयुग कहा जाता है। १८५७ में जो क्रान्ति हुई, उसकी विफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि उस समय भारतीय जाति निश्चेष्ट-सी हो गई थी। मध्ययुग की सभ्यता और संस्कृति तो निष्प्राण हो चुकी थी। नवयुग के अनुकूल नव प्रेरणा प्रदान करनेवाला कोई भी आदर्श उनके सम्मुख नहीं था। यही कारण है कि ज्यों ही पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हुआ, त्यों ही सारे देश में लोगों ने आग्रहपूर्वक पाश्चात्य आदर्शों को स्वीकार कर लिया। पश्चिम भारतीयों के लिए उपास्य हो गया। अँगरेजी भाषा और साहित्य में ही उन्होंने ज्ञान का नव आलोक पाया। प्राचीन आदर्शों और रीति-नीति से उन्हें कुछ ऐसी विरक्ति के साथ घृणा हो गई कि अधिकांश शिक्षित जनों के हृदय में भारतीयता के प्रति एक लज्जा और हीनता का भाव आ गया। मानसिक दासत्व के उसी युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ था।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र केवल चौंतीस वर्ष तक जीवित रहे; परन्तु उनमें विलक्षण रचना-शक्ति थी। उनकी प्रतिभा भी सर्वतोमुखी थी। उन्होंने कितने ही नाटकों, उपन्यासों और काव्यों के साथ-साथ धार्मिक और ऐतिहासिक विषयों पर भी पुस्तकों की रचना की। उन्होंने कितने ही निबन्ध लिखे। आजकल उनकी अधिकांश रचनाएँ पढ़ी भी नहीं जातीं। वे केवल विद्वानों के लिए साहित्यिक गवेषणा की सामग्री हो गई हैं। यह सच है कि उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य में प्राण-प्रतिष्ठा की और उसीके साथ समग्र जाति में नवचेतना-शक्ति प्रबुद्ध की। उनकी एक भी रचना ऐसी नहीं है, जो उस युग में उपेक्षणीय हो सकती थी।

भारतेन्दु जी ने भाषा की उन्नति की। वे जानते थे कि अपनी भाषा की उन्नति में ही सच्ची उन्नति का मूल है। जनता में सच्चे आलोक का ज्ञान फैलाने के लिए हिन्दी भाषा की उन्नति ही आवश्यक है। उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी भाषाओं के गौरव को स्वीकार किया। परन्तु वे जानते थे कि बिना अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त किये; भारतीयों में सच्चे गुण का गौरव नहीं आ सकता। उन्हें सदैव ज्ञान की हीनावस्था और बौद्धिक पराधीनता का ही अनुभव करना पड़ेगा। देश की उन्नति जनता की उन्नति पर आश्रित है। जनता की तभी उन्नति हो सकती है जब उसकी भाषा की उन्नति हो। अपनी भाषा के द्वारा ही लोग ज्ञान को स्वायत्त कर सकते हैं। इसीलिए उन्होंने हिन्दी भाषा में वह शक्ति उत्पन्न कर दी कि आज वह सर्वांगीण उन्नति कर सकती है।

भाषा का निरन्तर विकास होता रहता है। उसमें नये-नये शब्द भी आते हैं। जो शब्द प्रचलित हो जाते हैं उनका तिरस्कार किया नहीं जा सकता। इसलिए भारतेन्दु जी ने संस्कृत और उर्दू दोनों भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया। उन्होंने हिन्दी को जो रूप दिया, उसी से हिन्दी भाषा का अब क्रमशः विकास होता जा रहा है और वही राष्ट्रभाषा का सच्चा रूप है। राष्ट्रभाषा के रूप में जिस हिन्दी का प्रचार है और होगा, वह हरिश्चन्द्र की हिन्दी है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्र के संगठन में हिन्दी भाषा और साहित्य की गति निर्दिष्ट कर भारतेन्दु राष्ट्र के निर्माता हुए। यही उनका सच्चा गौरव है।

—संपादकीय

'सरस्वती', प्रयाग; (अक्टूबर १९५२ ई०)

पत्र-पत्रिकाओं की परम्परा में मौलिकता का अभाव

हिन्दी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ रही है, प्रेस और प्रकाशन का कार्य प्रगति कर रहा है। पत्र-पत्रिकाओं की वृद्धि यह उस भाषा की प्रगति की सूचक अवश्य हो सकती है, परन्तु क्या उन सभी पत्रों के पाठक पर्याप्त होते हैं और कितने पत्र ऐसे होते हैं जो चिरकाल की जीवनी लेकर अवतरित होते हैं? अवश्य ही प्रत्येक पत्र-प्रकाशक को 'सम्पादक' कहलाने की हविस पूरी करने का क्षणिक माध्यम वे बन जाते हैं, फिर कुछ काल के बाद ही उन्हें भूतपूर्व बनने का भाग्य क्यों न भोगना पड़े। अधिकाँश अपरिपक्वमति पत्रकार पत्र लेकर प्रकाश में

आते हैं, जो विचारों का विकार फैलाकर समाज में एक नई सडायंध छोड़ समाप्त हो जाते हैं। आज तो हिन्दी को इतना बड़ा क्षेत्र मिला है कि वे विभिन्न क्षेत्रों में उतर कर कार्य कर सकते हैं, जागृति ला सकते हैं, किन्तु नवीनता और कल्पकता के अभाव में लकीर पीटते ही नजर आते हैं। आज एक ऐसे सुन्दर पत्र की आवश्यकता है जो हिन्दी में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की स्पष्ट, निर्भीक और नवीनता के साथ सर्वांगीण सरस सुन्दर समालोचना उपस्थित करे। प्रतिमास प्रकाशित साहित्य, कविता, निबंध, कहानी एकांकी आदि पर एक-एक अधिकारी लेखक द्वारा स्पष्ट आलोचनात्मक निबध लिखवाये जायँ ,और मास भर के प्रकाशित साहित्य की स्वस्थ चर्चा की जाय। अवश्य ही ऐसे पत्र के प्रकाशन के लिए पर्याप्त व्यय आदि की सुविधा और अधिकारी लेखकों का सहयोग अपेक्षित होगा, परन्तु जब तक ऐसे साधन उपलब्ध न हों, अपने-अपने विषय के स्वतन्त्र लेखकों द्वारा पर्याप्त पुरस्कार देकर यह सुविधा की जा सकती है। इस तरह प्रत्येक मासिक-साप्ताहिक पत्र और उनके लेखकों को भी सतर्क हो जाना पड़ेगा। सोचने और लिखने के लिए विचार करना पड़ेगा, पत्रकारों को भी ध्यान रखना पड़ेगा। प्रतिमास हर विषय का लेखक और पत्रकार कसौटी पर कसा जायगा। इससे मार्गदर्शन भी होगा और पत्र या लेखक की ओर आकर्षण भी होगा।

अवश्य ही अधिकारी तथा निष्पक्ष निर्णयकर्त्ता, वादरहित विद्वान् लेखक की लेखनी से संयमित-संतुलित आलोचना लिखवानी होगी। इस प्रकार हमारी साहित्यिक गतिविधि का मासिक अध्ययन भी होगा। उत्तम तो यह होगा कि ऐसे पत्र के आयोजन को सरकार द्वारा समस्त सुविधाएँ प्रदान की जातीं। सम्मेलन, साहित्यकार संसद्, नागरी-प्रचारिणी सभा अथवा कोई सुयोग्य प्रकाशक ही यह महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में ले तो साहित्य-सूत्र उसके आस-पास बँधे नजर आयेंगे। पर हम अपने उन जाति-बन्धुओं (सम्पादकों) से कहना चाहते हैं कि आप नये पंथ, नये मार्ग का निर्माण कीजिए। उसी लकीर, उसी पद्धति और उसी पिटी-पिटाई परम्परा के ही प्रकाशक न बनिए, मौलिकता और नवीनता को लेकर अपने वर्ग की विशेषता और विलक्षणता की प्रतिमा प्रस्तुत कीजिए।

—संपादकीय; 'विक्रम' उज्जैन; मई, (सन् १९५२ ई०);

प्राचीन साहित्य में शान्ति की परम्परा

भारतीय साहित्य की परम्परा कल्याणमयी रही है—अपेक्षाकृत अधिकतर। उसकी कल्याण-चेतना वस्तुतः मानवीय परिधि को लाँघकर बाहर चली गई है। जीवमात्र, चराचर, उसके स्नेह-स्रोत से शीतल होता है। वह स्रोत कभी किसी से विमुख नहीं होता, जन-जन में जीव-जीव में अन्तर नहीं डालता। सबको समान रूप से स्वीकार करता है, सबको समान मात्रा में अपने स्पर्श से आर्द्र करता है।

'समानो मंत्रः', 'समितिः समानी' की कामना करनेवालों की साधना अकेले समृद्ध होने की न थी। उन्हें साथ एक स्वर में बोलने (संवदध्वं), साथ चलने (संगच्छध्वं) की प्रेरणा इष्ट थी।

अपने उदात्त उपकरणों के ओज का परिणाम ऋषि असंदिग्ध, स्पष्ट, विद्वेषरहित शान्ति में देखता है और उसीका वह आवाहन करता है। उसकी शान्ति केवल वैयक्तिक नहीं है, पड़ोसी की है, चराचर जगत् की है। वह सर्वत्र शान्ति चाहता है—स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में, पृथ्वीपर, नदियों-समुद्रों के जल पर, सर्वत्र। उसके लिए विशाल अश्वत्थ और क्षुद्र दूर्वा में इस विचार से कोई अन्तर नहीं। जितना अधिकार वन की भूमि पर अश्वत्थ का है, उतना ही दूर्वा का भी है। औषधियों में—वनस्पतियों में—सर्वत्र वह शांति चाहता है। वह जानता है कि मानवों अतिमानवों में, देवों-दानवों में और इन सबमें परस्पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध छिड़ा रहता है। उनमें भी देवताओं ब्रह्मादि की प्रयत्न-भूमि में भी—वह शान्ति का राज चाहता है।

वस्तुतः अनेक बार शान्ति की रक्षा के लिए युद्ध का आचरण अनिवार्य हो जाता है। सीमोल्लंघन, राजनीतिक अथवा नैतिक, सभी दिशाओं में स्थिति-विकार उत्पन्न करता है और पुनः स्थिति स्थापना के लिए सभी प्रकार के उपकरणों की सहायता समीचीन होती है। रामायण और महाभारत दोनों युद्ध नैतिक रूप में सराहनीय हैं; क्योंकि दोनों अधिकारों के लिए लड़े गये थे। एक में चुराई अथवा बलपूर्वक हरी पत्नी की पुनः प्राप्ति अभीष्ट था, दूसरे में अनाचारपूर्वक अपहृत भूमि पर पुनरधिकार। राम-रावण-युद्ध में रावण का आचरण अनाचार और दुराचार-युक्त होने के कारण विभीषण का शत्रुपक्ष-समर्थन भी जायज हो जाता है। परम बौद्ध अशोक की जनहित वृत्ति भारतीय शांति और कल्याण की परम्परा में ही थी, जिसने कभी भौगोलिक और राजनीतिक सीमाओं का परिमाण न माना। अशोक ने कलिंग के भयानक हत्याकाण्ड के परिणाम-स्वरूप जो 'धर्मघोष' को 'भेरीघोष' का स्थानापन्न बनाया, वह न केवल प्रतिष्ठित राजनीति में एक क्रांति थी, बल्कि मानवता के इतिहास में भी वह अलौकिक जननिष्ठा का परिचायक था।

भारतीय परम्परा का वह स्थल समुज्ज्वल है, जहाँ व्यक्ति कल्याण का स्वार्थहीन प्रगतिशील सिद्धान्त आचरण में उपस्थित करता है—व्यक्ति और कुल में जब विषमता आये, तो व्यक्ति को चाहिए कि वह कुल-कल्याण को सोचे, वैयक्तिक लाभ को छोड़ दे; कुल और ग्राम के बीच विषमता होने पर व्यक्ति ग्राम का पक्ष-साधन करे, ग्राम और राष्ट्र के स्वार्थों में संघर्ष होने पर राष्ट्र का अनुमोदन करे; राष्ट्र और मानवता के बीच संघर्ष होने पर मानवता का समर्थन करे और राष्ट्र को छोड़ दे और अन्ततः संसार और आत्मचेतना के बीच संघर्ष उपस्थित होने पर आत्म-चेतना को पकड़े, संसार को छोड़ दे।

सिद्धान्त यह है कि सहिष्णुता और युद्धविरोधी परम्परा, जो सदैव भारत की अपनी रही है, राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय दोनों नीतियों में विस्तार पायें; शान्ति और अहिंसा अपने कल्याणकर स्पर्श से जगत् को उल्लसित करें। शान्ति और अहिंसा कभी कायरता के पोषक न बनें, अधिकारों के साधक हों। आक्रान्ता के विरुद्ध निरीह-से-निरीह, शान्त-से-शान्त, अहिंसक से-अहिंसक प्राणी भी औचित्य-साधन व्रत का धारण करे।

'प्राचीन साहित्य में शान्ति की परम्परा'
ले०—श्री भगवतशरण उपाध्याय
'नया समाज'; कलकत्ता, (मई १९५२ ई०)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से शीघ्र प्रकाशित होनेवाले

चार अमूल्य ग्रन्थ

सार्थवाह

भारतीय संस्कृति के तत्त्ववेत्ता डॉ० मोतीचन्द्र

इस सचित्र पुस्तक में, विद्याव्यसनी लेखक ने, प्राचीन काल में विदेशों से व्यापार करने की कौन-सी भारतीय पथ-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसका बहुत रोचक और अध्ययनपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। भारतीय भाषा में यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'साहित्य' के आकार के तीन सौ से अधिक पृष्ठ; इसके अतिरिक्त अनुक्रमणिका और लगभग सौ अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र।

रामावतार शर्मा-निबंधावली

स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

यह पुस्तक विद्वान् लेखक के विभिन्नविषयक अलभ्य और बहुमूल्य निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबंध में ज्ञान की एक नई दिशा का संकेत है, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। ग्रन्थ बड़ा पाण्डित्यपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है। लगभग चार सौ पृष्ठ; लेखक का सचित्र परिचय।

दरियासाहब-ग्रन्थावली

संत-साहित्य-मर्मज्ञ डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

यह 'बिहार के कबीर' सन्त दरियासाहब के धर्म, दर्शन, सिद्धान्त और साहित्य का विवेचनापूर्ण बृहत् ग्रन्थ है। अधीती लेखक ने इसके लिखने के लिए रहस्यवादी कवि कबीर से लेकर अनेक कबीरपंथी सन्तों के धर्म-दर्शन का अनुशीलन किया है। ग्रन्थ शोध, समीक्षा और गवेणाषपूर्ण है। अनुमानतः चार सौ पृष्ठ।

भोजपुरी भाषा और साहित्य

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० उदय नारायण तिवारी।

इस पुस्तक में भोजपुरी भाषा और उसके साहित्य का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इसके लेखक भाषा-विज्ञान के विद्वानों में से हैं। जनपदीय भाषाओं का हिन्दी के विकास में जो सहयोग है इसका गंभीर अध्ययन इसमें है। हिन्दी भाषा में, अपने विषय पर यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। रायल साइज के चार सौ से अधिक पृष्ठ; साथ में भाषा की ध्वनियों के रेखा-चित्र।

मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना-३

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित चार महत्वपूर्ण ग्रंथ

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

ले०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने हिन्दी के आदि युग का प्रामाणिक इतिहास लिखा है। भाषा और साहित्य के आरम्भिक रूप का अध्ययन करने में यह पुस्तक अपूर्व सहायता देगी। डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) रुपया और अजिल्द का २॥।) रुपया है।

यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

स्व० शर्मा जी की यह अलभ्य पुस्तक बड़ी सजधज से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक १९०५ ई० में प्रकाशित होने के बाद बड़ी दुर्लभ हो गई थी। परिषद् ने एक दार्शनिक विद्वान् से पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखवा कर पुस्तक को आधुनिक पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक बनवा दिया है। १९०५ ई० के बाद से आजतक के पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास इसकी भूमिका में दे दिया गया है। दर्शन शास्त्र के स्वाध्यायी विद्वानों के लिए यह एक अमूल्य पुस्तक है। डेढ़ सौ पृष्ठों की सुमुद्रित सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) और अजिल्द का २॥।) है।

विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलियाबिहारी लाल वर्मा, एडवोकेट

इस पुस्तक में संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस एक ही पुस्तक को पढ़कर हिन्दी जाननेवाले पाठक भूमण्डल के प्रमुख धर्मों का परिचय पा सकते हैं। इसे लिखने के लिए स्वाध्यायी लेखक ने असंख्य प्रामाणिक पुस्तकों का मनन किया है और उनकी सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी है। सर्व-धर्म-समन्वय और धार्मिक एकता पर लेखक ने विशेष जोर दिया है। और, सप्रमाण दिखलाया है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्व एक ही हैं। सात सौ पृष्ठों की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का दाम १३॥) रुपया और अजिल्द का १२) रुपया है।

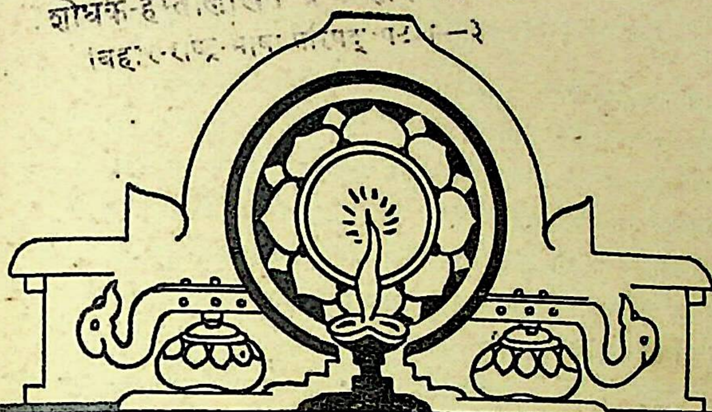
हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने बड़ी ही सरस शैली में बिहार के महाकवि बाणभट्ट के समय की संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक वातावरण, मानव समाज की स्थिति आदि का सजीव चित्रण किया है। 'साहित्य' के आकार के लगभग तीन सौ पृष्ठ; अन्त में अनुक्रमणिका; दो तिरंगे और लगभग एक सौ एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र, असली आर्ट पेपर पर छपे हुए; भव्य आवरण; मूल्य—सजिल्द का ९॥) और अजिल्द का ८॥) है।

मन्त्री
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना-३

मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-४ प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३



साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष ३ } पौष, सम्वत् २००९; जनवरी, १९५३ ई० { अंक ४

संपादक
शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

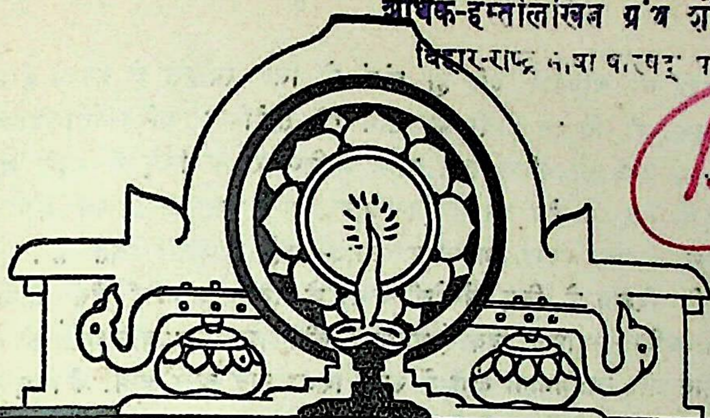
सम्मेलन के सभापतियों के भाषणों की आवश्यकता

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शुरू से आज तक जितने अधिवेशन हुए हैं, उनके सभापतियों के भाषणों का संग्रह प्रकाशित करने के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से तीन हजार रुपये मिले हैं। शुरू के पाँच भाषण पुस्तक के रूप में छप चुके थे। उन भाषणों के नवीन संस्करण इस समय छपवाये जा रहे हैं। छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण नहीं मिल रहे हैं। यदि हिन्दी-प्रेमी सज्जनों के पास किसी भाषण की मुद्रित प्रतिलिपि या कतरन हो तो वे निःसंकोच भेजने की कृपा करें। उनका नाम भाषण-संग्रह में सादर प्रकाशित कर दिया जायगा।

छठे से बीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के भाषण

६ राजाबहादुर कीर्त्यानन्द सिंह : १९२४ मुजफ्फरपुर; ७ देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद १९२५ लहेरियासराय; ८ आचार्य बदरीनाथ वर्मा : १९२५ गया; ९ रायबहादुर रामरणविजय सिंह : १९२९ मुंगेर; १० स्वामी भवानीदयाल संन्यासी : १९३१ वैद्यनाथ धाम; ११ डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल : १९३३ भागलपुर; १२ पं० जनार्द्दन झा 'द्विज': १९३५ छपरा; १३ श्री यशोदानन्द अखौरी : १९३६ पूर्णिया; १४ श्री व्रजनन्दन सहाय: १९३६ बेगूसराय; १५ श्री पीर मुहम्मद मूनिस: १९३६ आरा; १६ महापंडित राहुल सांकृत्यायन : १९३८ राँची; १७ आचार्य शिवपूजन सहाय : १९४१ पटना; १८ श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह : १९४२ मोतीहारी; १९ श्री रामधारी प्रसाद : १९४५ मन्दार (बौंसी); २० प्रो० जगन्नाथ प्रसाद : १९४८ मुजफ्फरपुर।

व्रजशङ्कर वर्मा
मंत्री, सम्मेलन-भवन, पटना-३



साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष ३ } पौष, सम्वत् २००९; जनवरी, १९५३ ई० { अंक ४

संपादकीय

विज्ञान की भाषा

भारत के भारत-प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को यह चिंता सता रही है कि देश में अँगरेजी का स्तर गिरता जा रहा है! इतने बड़े देश में जो उंगलियों पर गिने जाने लायक वैज्ञानिक हैं, उनमें से आजतक किसी ने हिंदी में, या किसी भी देश-भाषा में, कुछ लिखा हो तो कम-से-कम हमें नहीं मालूम। किंतु, हाल में ही, छब्बीस भारतीय वैज्ञानिकों के हस्ताक्षरों से समर्थित, अँगरेजी भाषा का स्तर उन्नत बनाये रखने की अनिवार्यता के संबंध में, जो स्मृति-पत्र पं० नेहरू के पास भेजा गया था और जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ था उसकी स्पष्ट ध्वनि है कि ऐसा नहीं हुआ तो घोर राष्ट्रीय संकट सर पर आया ही समझिए!

हम मानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में अँगरेजी की जानकारी जरूरी है—अँगरेजी ही क्यों, एक से अधिक विदेशी भाषाओं का परिचय नितांत आवश्यक है। इस संबंध में पहली बात यह है कि अँगरेजी या विदेशी भाषाओं के ज्ञान की अनिवार्यता पर जोर दे कर

छ कहने का अधिकार ऐसे ही लोगों के लिए स्वीकृत हो सकता है जो यह सिद्ध कर चुके हों कि वे हिंदी के ज्ञान की ततोधिक अनिवार्यता मानते हैं और हिंदी का, विश्व को चकित करने वाले आविष्कारों के लिए न सही, साधारण लेख आदि के लिए उपयोग करते हैं। और, क्या उक्त स्मृति-पत्र और वक्तव्य के हस्ताक्षरक—रमन, भाभा, भटनागर आदि—यह योग्यता रखते हैं? दूसरी बात यह है कि विज्ञान के लिए अँगरेजी भाषा के विशुद्ध ज्ञान की वैसी आवश्यकता नहीं है जैसी अधिक-से-अधिक विदेशी भाषाओं की कामचलाऊ जानकारी की। रूस आदि प्रगतिशील और स्वाभिमानी देशों में उच्च शिक्षा पाने वाले छात्रों के लिए जरूरी होता है—विज्ञान वालों के लिए तो विशेष रूप से—कि वे स्कूल से विश्वविद्यालय तक पहुँचते-पहुँचते कम-से-कम दो-तीन विदेशी भाषाओं का इतना ज्ञान प्राप्त कर लें कि तत्तत् भाषाओं में प्रचलित नवीनतम शोधों का लाभ उठा सकें। वे उन विदेशी भाषाओं में उस तरह लिख और बोल सकें, जैसे, उदाहरण के लिए, रमन अँगरेजी में लिख-बोल सकते हैं, इसकी आवश्यकता नहीं मानी जाती; इसके बदले प्रयत्न यह किया जाता है कि विज्ञान के छात्र अधिक-से-अधिक विदेशी भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लें।

दुर्भाग्य का विषय यह है कि हिंदी को विज्ञान की भाषा बनाने का थोड़ा प्रयत्न भी स्वयं वैज्ञानिक नहीं कर रहे हैं—यों, सच बात तो यह है कि हमें यह भी विश्वास नहीं है कि उन्हें विज्ञान से फुर्सत मिलती ही नहीं कि हिंदी की चिंता करते! ऐसी स्थिति में वैज्ञानिकों के लिए शब्द गढ़ने का स्तुत्य प्रयास भाषाशास्त्री कर रहे हैं, जिसके लिए वैज्ञानिकों को उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, न कि उनका मखौल करना!

स्वयं भाषा-शास्त्रियों में भी कम मतभेद नहीं है। राहुल जी और डॉ० रघुवीर एक दूसरे से मतभेद रखने पर जैसे सहमत हो चुके हैं! इधर प्रयाग के सम्मेलन की व्यवस्था (अव्यवस्था) के कारण राहुल जी ने इस क्षेत्र में अपना कार्य अधूरा ही छोड़ दिया है। डॉ० रघुवीर ने एक विशाल और अनेक छोटे-बड़े कोष, विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए, तैयार किए हैं। किंतु कुछ तो उनकी असहिष्णुता और पूर्वग्रहग्रस्तता के कारण और कुछ वैज्ञानिकों के अँगरेजी-प्रेम के कारण हिंदी के वैज्ञानिक शब्द कोष में ही बंद पड़े हुए हैं, भाषा में घुलमिल नहीं पा रहे।

केंद्रीय सरकार की अनिश्चयात्मकता से प्रेरणा पाकर वैज्ञानिक भाषा के निर्माण के संबंध में भाषा के विद्वान् भी ऐसी बातें कहने लग गए हैं जिनकी अपेक्षा अवश्य उनसे नहीं की जा सकती थी। उदाहरण के लिए यह कहना कि नए शब्द गढ़ने के पहले विभिन्न व्यवसायों में लगे शिल्पियों द्वारा तथा विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में व्यवहृत शब्दों को इकट्ठा करना आवश्यक है, एक ऐसी मरीचिका है जो लोभनीय होने पर भी अन्वेषणीय अवश्य नहीं है। शोध-प्रेमी भाषा-शास्त्री इस तरह के काम कर चुके हैं और करते रहेंगे, किंतु इनसे उस अभाव की पूर्त्ति नहीं हो सकती जिसकी पूर्त्ति वैज्ञानिकों के द्वारा हो सकती थी पर जिसका दायित्व कोषकारों को स्वीकार करना पड़ गया है। ग्रियर्सन ने बिहार के विभिन्न विभाषा-क्षेत्रों के ग्रामों में किसानों, लुहारों, कुम्हारों, आदि

के द्वारा व्यवहृत शब्दों का ऐसा संग्रह बहुत पहले तैयार किया था और जामिया-मिल्लिया के तत्त्वावधान में, उर्दू लिपि में, शहरों में विभिन्न व्यवसायों में प्रचलित शब्द संगृहीत हुए थे। ऐसे शब्दों के उदाहरण के रूप में अक्सर दो शब्द रखे जाते हैं। वे हैं बिजली के मिस्त्रियों के द्वारा व्यवहृत शब्द—ठंडा तार और गर्म तार—जो क्रमशः नेगेटिव और पाजिटिव के लिए काम देते हैं। भाषा-विशारदों को यह बताने की जरूरत नहीं कि ऐसे शब्दों को 'स्लैंग' कहते हैं, ये किसी दशा में वैज्ञानिक शब्द नहीं माने जा सकते, न इनसे विज्ञान का काम ही चल सकता है। ऐसे असंख्य 'स्लैंग' शब्द उन उन्नत भाषाओं में भी मिलते हैं जिनमें वैज्ञानिक शब्दों का कोई अभाव नहीं रहता। यदि एम्० एस्सी की कक्षा में गर्म और ठंडे तार से काम चलाने की बात कही जा सकती है तो हमारा यह भी निवेदन होगा कि विद्युत्-शास्त्र का सैद्धान्तिक ज्ञान रखने वाले प्राध्यापक के बदले व्यावहारिक कुशलता रखने वाले मिस्त्री को ही अध्यापन का काम भी सुपुर्द कर देना ठीक होगा।

हम यह सोचें कि आखिर हमारे वैज्ञानिक हिंदी के नव-निर्मित शब्दों से घबराते क्यों हैं और वे उनका विरोध क्यों करते हैं? उनका तर्क, जहाँ तक हम समझ सके हैं, यही है कि ये शब्द अप्रचलित हैं, कठिन हैं और संस्कृत पर अवलंबित हैं।

हमारे सामने एक बहुत ही मनोरंजक और ज्ञानवर्धक पुस्तक पड़ी हुई है—Browsing Among Words of Science. उसके विद्वान् किंतु हास्य-प्रेमी लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार अँगरेजी में ऐसे असंख्य वैज्ञानिक शब्द हैं जो अप्रचलित तथा कठिन हैं। हम कुछ उदाहरण देते हैं—Opilonology, Pycnogonid, Dodecalopoda। हम तो नहीं, पर अँगरेजी को आयत्तीकृत करनेवाले भारतीय विद्वान् कह सकते हैं कि ये भी भला अप्रचलित या कठिन शब्द हैं! तो हम उनसे इन शब्दों के बारे में सुनना चाहेंगे—Paranitrosodimethylanilinehydrochloride या Tetranhydrotetrakisdiphenylsilicanediol. इतना तो हम भी समझते हैं कि देखने-सुनने में ये शब्द चाहे जितने भयावह हों, लेकिन एक वैज्ञानिक के लिए तो ये बहुत ही सरल हैं, क्योंकि इनमें विभिन्न तत्त्वों के नामों का समास कर दिया गया है। हम यह भी मानते हैं कि विज्ञान के बहुतेरे शब्द इसी तरह से बन ही सकते हैं। इसीलिए हम यह भी कहते हैं कि हिंदी के पारिभाषिक शब्दों के निर्मापकों ने भी तो यही प्रक्रिया अपनाई है और यदि ये शब्द कंठाग्र कर लिए जा सकते हैं—जिसके लिए सर्वथा अयोग्य होने के कारण हम तो बहुत पहले से विज्ञान से बचते रहे हैं—तो उस बदनाम 'रघुवीरी हिंदी' का हलाहल भी भारत के वैज्ञानिक पी सकते हैं और उनका कंठ नीला न भी पड़े तो वह आश्चर्य की बात नहीं होगी। और, जहाँ तक संस्कृत पर निर्भर रहने का प्रश्न है, यह तो सिद्धान्त-सत्य है कि वैज्ञानिक शब्दों के लिए शास्त्रीय भाषा को छोड़ कर कोई दूसरा सहारा नहीं होता। पूर्वोक्त पुस्तक के लेखक का ही यह कथन द्रष्टव्य है—"विज्ञान के प्रायः सभी नए शब्द लैटिन

था ग्रीक व्युत्पत्ति के हैं।" यही क्यों—"वैज्ञानिक के द्वारा व्यवहृत शास्त्रीय परंपरा इस प्रकार आधारभूत है कि उसे उद्योगपतियों ने भी अपनाया है।"

अतः हम अपने कोषकारों से ब्योरों में असहमत हो सकते हैं, किंतु उनकी शब्द-निर्माण-प्रक्रिया सर्वथा युक्ति-संगत है और एकमात्र प्रक्रिया है। फिर भी कोषकारों ने शब्द गढ़े भर हैं, उनमें प्राण-प्रतिष्ठा तो वैज्ञानिक ही कर सकते हैं।

—न० वि० श०

हिंदी के पत्र और 'पत्रं-पुष्पम्'

हम सरकार से हिंदी-साहित्य और हिंदी के साहित्यकारों के लिए लंबी-चौड़ी माँगें करते रहते हैं। इनके बारे में हम क्या कर रहे हैं—हम, यानी हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ? क्या हम अपने लेखकों को समय पर उचित पारिश्रमिक देते हैं? उचित पारिश्रमिक नहीं तो 'पत्रं-पुष्पम्' ही सही? हिंदी में ऐसी कितनी पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो स्वीकृत और मुद्रित प्रत्येक रचना के लिए कुछ-न-कुछ देती जरूर हैं?

हमें विश्वास है कि अब ऐसे संचालक-संपादक हिंदी में नहीं होंगे जो लेखकों को इसलिए पारिश्रमिक देने में संकोच अनुभव करते हैं कि कहीं लेखक इसे अनैतिक कार्य तो नहीं समझेगा! हमें यह भी विश्वास है कि पत्रों के संचालक इसे व्यवस्था-संबंधी घोर गोपनीय बात और हमारी जिज्ञासा को कुरुचिपूर्ण बना कर मौन रह जाना ही श्रेयस्कर नहीं समझेंगे।

हम प्रकाश सिर्फ इन बातों पर चाहते हैं:—

क्या आप रचना प्रकाशित होते ही पारिश्रमिक भेज देते हैं? (पहले भेजने का तो प्रश्न ही नहीं उठता!)

क्या आप यह दावा कर सकते हैं कि आपके पत्र में प्रकाशित प्रत्येक रचना के लिए पारिश्रमिक दिया जाता है?

आप किसी रचना के लिए कम-से-कम और ज्यादा-से-ज्यादा कितना देते हैं?

वह कुल रकम कितनी है जो प्रतिमास लेखकों के पारिश्रमिक के लिए सुरक्षित रहती है?

क्या आप यह उचित नहीं समझते कि प्रत्येक स्वीकृत और प्रकाशित रचना पर पारिश्रमिक देना ही चाहिए! (अवश्य यह प्रश्न तभी उठता है यदि आप ऐसा नहीं करते)।

हम ये प्रश्न उन पत्रिकाओं से नहीं पूछते जो संस्थाओं के द्वारा प्रकाशित होती हैं, जिनके संपादक अवैतनिक होते हैं, जो घाटे पर ही निकलती हैं और जो लाभ होने पर पारिश्रमिक अवश्य देना पसंद करेंगी। ऐसा कह कर हम अपने प्रश्नों से खुद बच निकलना नहीं चाहते, हालाँकि, हम कुबूल करते हैं, हमारी स्थिति यही है।

जिन पत्रों से हमें उत्तर मिलेंगे, उन्हें हम 'साहित्य' में सहर्ष प्रकाशित करेंगे और हमें विश्वास है हिंदी के लेखक ऐसे पत्रों का अभिनंदन करेंगे। हम लेखकों के भी पारि-

श्रमिक-संबंधी अनुभव प्रकाशित करना चाहेंगे। उन्हें तो वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालना ही चाहिए।

—न० वि० श०

'एक सुझाव'

सहयोगी 'कल्पना' सुदूर दक्षिण, हैदराबाद, को केंद्र बना कर हिंदी भाषा और साहित्य की सर्वांगीण अभिवृद्धि के लिए जिस तत्परता और अध्यवसाय से कार्य कर रही है उससे वे भी बहुत-कुछ सोख सकते हैं जिन्हें हिंदी के केंद्र में रहने का सौभाग्य प्राप्त है और जो इसे हिंदी का दुर्भाग्य बना डालने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रहे हैं।

'कल्पना' के संपादकीय लेख विद्वत्तापूर्ण और उपयोगी होते हैं। दिसंबर, १९५२, के अंक में 'एक सुझाव' शीर्षक संपादकीय में साहित्य-निर्माण और हिंदी के साहित्यिकों की विपन्नता के निराकरण के संबंध में सचमुच ही बहुत उपयोगी सुझाव उपस्थित किए गए हैं। इन विषयों पर अधिक-से-अधिक हिंदी-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से इस संपादकीय को अलग से मुद्रित कर प्रचारित किया गया है। साथ में निम्नोद्धृत मुद्रित पत्र भी है :—

"महानुभाव,

साहित्य-निर्माण तथा उससे सम्बन्धित अन्य अनेक कार्य आज अर्थाभाव के कारण रुके पड़े हैं। सरकार के पास अनिवार्य तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए भी पर्याप्त निधि नहीं है। ऐसी स्थिति में आय के ऐसे निर्दोष उपाय ढूंढने की आवश्यकता है, जो निधि की पूर्त्ति के साथ-साथ साहित्य को उचित प्रेरणा दे। इसी दृष्टिकोण से दिसंबर, '५२, की 'कल्पना' में हमने 'एक सुझाव' शीर्षक एक संपादकीय टिप्पणी दी है, जिसका अविकल उद्धरण अगले पृष्ठों में दिया जा रहा है।

इस सुझाव को आपकी सहमति और सक्रिय सहयोग का बल मिल गया, तो इसकी सफल संपूर्त्ति अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र सम्भव हो सकेगी।

इसी उद्देश्य से टिप्पणी-सहित यह पत्र आपकी सेवा में प्रेषित है। कृपया अपनी प्रतिक्रिया सूचित करें।"

हम बड़ी प्रसन्नता के साथ 'कल्पना' के 'एक सुझाव' को अपने पाठकों तक पहुँचा रहे हैं। जहाँ तक हिंदी के साहित्यकारों की विपन्नता का प्रश्न है, इन पंक्तियों के लेखक ने 'दृष्टिकोण' के एक अग्रलेख में बहुत पहले लिखा था कि जहाँ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का सबसे बड़ा तर्क है कि उसमें 'निराला' जैसा कवि है वहीं उसकी सबसे निंदनीय हीनता यह है कि हिंदी भाषा-भाषी निराला जैसे महाकवि के साथ वह व्यवहार कर सकते हैं जो हिंदी के केंद्र में उनके साथ हो रहा है। लेकिन इस संबंध में 'कल्पना' में जो सुझाव रखा गया है पहले वह आप अवधान के साथ पढ़ लें :—

"साहित्य और साहित्यकारों के प्रति सरकार का रुख उत्साहवर्धक नहीं है, बल्कि उपेक्षापूर्ण है, प्रायः साहित्यिक सज्जनों और संस्थाओं से ऐसी शिकायत सुनी जाती है।

किसी कवि के बीमार हो जाने पर उसके इलाज के लिए, और दिवंगत हो जाने पर उसके परिवार के पालन-पोषण तथा उसके अप्रकाशित साहित्य और जीवनी आदि के प्रकाशन के लिए, सरकार से अपीलें की जाती हैं। ऐसी सभी अपीलें अकसर अरण्यरोदन हो कर रह जाती हैं। अतः इनका उपसंहार कोसने से होता है और कुल मिलाकर इन अपीलों का असर साहित्यिक और साहित्य पर बुरा ही पड़ता है।

पाठकों को बुन्देलखण्ड के कवि 'शील' के आत्मघात के बाद उठाये गये आन्दोलन और 'निराला' जी की छीछालेदर की याद ताजा बनी है। गत अक्तूबर मास की, कानपुर से निकलने वाली 'सुमित्रा' में 'हम कितने कृतघ्न हैं' शीर्षक से श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने श्री योगेश्वर गुलेरी और श्री रामनाथ का एक-एक पत्र छाप कर नागरी प्रचारिणी सभा, आर्य समाज आदि संस्थाओं से लेकर राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद और स्वयं अपनी भी खबर ली है। इसलिए कि श्री चन्द्रधर गुलेरी का विस्तृत जीवन-चरित्र अब तक नहीं छापा गया और श्री पद्मसिंह शर्मा का पुस्तकालय उनके पुत्र रामनाथ जी बेच रहे हैं। चतुर्वेदी जी ने आगे लिखा है, 'अब समय आ गया है जब कि सार्वजनिक रूप से शिकायत की जाय उन मुजरिमों की (जिनमें इन पंक्तियों का लेखक भी शामिल है), जिन्होंने स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के साहित्यिक श्राद्ध को जहाँ का तहाँ पड़ा रहने दिया है'—याने उनके लेखों, व्याख्यानों और टिप्पणियों का संग्रह, 'ला मिजरेबल' का अनुवाद तथा बनारसीदास जी द्वारा लिखे गये उनके संस्मरण अभी तक प्रकाशित नहीं कराये हैं।

हमारी इन त्रुटियों का कारण क्या है? पैसा! संस्थाएँ सेवाभाव को छोड़ कर व्यापारी बुद्धि को अपना चुकी हैं। श्रेष्ठ साहित्य की रचना या प्रकाशन में उनकी दिलचस्पी नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति आदि हमारी काफी धनाढ्य संस्थाएँ हैं, किन्तु वे केवल अपने परीक्षार्थियों की संख्या बढ़ा कर फीस लेने तथा पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण और बिक्री से पूँजी बढ़ाते चले जाने के फेर में पड़ी हैं। सेवा का व्रत लेकर प्रारम्भ की गई संस्थाएँ अब केवल सेवा का नाम भर लेने में दक्ष हो गई हैं। साधारण व्यापारी संस्थाओं से कोई उम्मीद करना तो गलत है ही! ले-दे कर बच जाती है सरकार, इसी पर हम जोर डाल सकते हैं; किन्तु आसमान फटा है, कहाँ-कहाँ पैबन्द लगाये जायें। जो काम सरकार करना चाहती है उन्हीं के लिए वह पैसे की कमी की दुहाई दे रही है। साहित्य और साहित्यिकों के आँसू पोंछने के लिए उसने कहीं-कहीं वजीफों और पुरस्कारों की योजना कर दी है! किन्तु इतना कर देने से न जरूरतमन्द अच्छे साहित्यिकों को मदद मिली है, न कहने लायक ठीक साहित्य-रचना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

इस सम्बन्ध में आज हम अपना एक बहुत-कुछ सोचा-विचारा सुझाव साहित्य-संस्थाओं, साहित्य-नेताओं और साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित करना चाहते हैं, और चाहते हैं कि इस सुझाव पर क्रियात्मक रूप से कदम उठाया जाए। साहित्य की अबाध उन्नति में आड़े आने वाले अनेक रोड़े इस उपाय के सफल होने पर हट जायँगे।

हमारे देश की तमाम प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का पुराना साहित्य, जो कापीराइट-एक्ट की परिधि में नहीं आता, पर्याप्त विविध और महान् है। संस्कृत, पाली और प्राकृत का धार्मिक साहित्य; रामायण, महाभारत, भागवतादि पुराण, उपनिषद्, गीता, त्रिपिटक, धम्मपद, जातक कथाएँ; कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, वाणभट्ट आदि कवियों के काव्यादि; दर्शन, आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि विषयों के ग्रन्थ। इसी प्रकार हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला, तमिल, मलयालम, कन्नड़ आदि भाषाओं का प्राचीन साहित्य भी विविध और महान् है। आज भी तुलसी, सूर, कबीर, नरसी, मीरा, ज्ञानदेव, तुकाराम, समर्थ, रंगनाथ तथा पोतन्ना प्रभृति की कृतियों के सारे देश में प्रतिवर्ष अनेक संस्मरण और संग्रह सम्पादित और अनुवादित हो कर निकलते हैं और प्रकाशकों को उनसे अनन्त धनराशि प्राप्त होती है। स्पष्ट ही हमारे ये ग्रन्थ-रत्न राष्ट्रीय निधि हैं, किन्तु इनसे होनेवाली आमदनी का शत-प्रतिशत लाभ प्रकाशकों के पल्ले पड़ता है। साधारणतः लेखक को दी जाने वाली १५ से २० प्रतिशत रायल्टी की इन्हें सहज ही बचत हो जाती है। हमारी राय है कि इस राष्ट्रीय साहित्य की आमदनी का कोई निश्चित अंश 'राष्ट्रीय सरकार' को मिलना चाहिए। प्रकाशकों की उक्त आमदनी का छोटे से छोटा अंश भी अगर सरकार लेने लगे, तो उससे प्राप्त होनेवाली रकम से कितनी साहित्यिक खोज, नया निर्माण और पुरस्कार आदि की व्यवस्था सहज ही हो सकेगी! तव हमें रोज-रोज शिकायतों और अपीलों की दीनता नहीं ओढ़नी पड़ेगी, हमारे अनेक प्रेय सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सकेंगे।

देश की विधान-सभा में आज देश के विभिन्न राज्यों से साहित्य-प्रेमी और समझदार सदस्य एकत्र हुए हैं। हमारा उनसे आग्रह है कि वे हमारे इस व्यावहारिक सुझाव पर विचार करें!

केवल हिंदी के ही सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, सेठ गोविंददास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और अन्य भाषाओं के हरीन्द्र चट्टोपाध्याय, हीरेन मुखर्जी तथा हरिकृष्ण महताब जैसे साहित्यिक दिग्गज आज संसद् में हैं।

कापीराइट-एक्ट शीघ्र ही संसद के सामने विचारार्थ आने वाला है। क्यों न उस समय तक साहित्य की विभिन्न संस्थाओं, व्यक्तियों और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा यह प्रश्न एक सार्वजनिक प्रश्न बना दिया जाय और क्यों न संसद् में 'राष्ट्रीय साहित्य' की आमदनी का कोई निश्चित अंश 'राष्ट्रीय सरकार' को दिये जाने के विषय में अधिनियम बने?

हम स्वयं अपनी शक्ति और साधनों की समग्रता के साथ इस पुण्य-कार्य में हाथ बँटाना चाहते हैं और अपने समस्त प्रेमी पाठकों और लेखकों से आग्रहपूर्वक निवेदन करते हैं कि 'कल्पना' द्वारा वे अपनी राय इस सुझाव के पक्ष या विपक्ष में व्यक्त करें।"

'कल्पना' ने दूसरे पत्रों को इन विषयों पर टिप्पणियाँ लिखने के लिए आहूत किया है। हम समय-समय पर स्वयं इन पृष्ठों में और अन्यत्र, नक्कारखाने में ही सही, लेकिन तूती बजाते रहे हैं। हिंदी-भाषियों का क्या कर्तव्य है, यह वे बँगला-भाषियों से सीख सकते हैं। उनसे सरकार भी, चाहे तो, शिक्षा ले सकती है। हम यहाँ दैनिक पत्रों में प्रकाशित एक समाचार अविकल रूप में उद्धृत कर रहे हैं:—

"बंगाल के ५५ वर्षीय प्रसिद्ध कवि काजी नजरुल इस्लाम, जिनका गत ८ मास से रांची अस्पताल में इलाज हो रहा है, अगले सप्ताह इलाज के लिए ब्रिटेन को प्रस्थान करेंगे।

'कवि नजरुल ने, जो प्रथम विश्वयुद्ध में एक हवलदार थे, एक महान् संगीतज्ञ के रूप में भी नाम कमाया है।

कवि की पत्नी प्रमिला इस्लाम उनके साथ जायँगी। वे ११ मई को कलकत्ता से बम्बई के लिए रवाना होंगे और बम्बई से १४ मई को 'जल आजाद' द्वारा प्रस्थान करेंगे।

बम्बई के नाविक-हितकारी अफसर ने कवि और उनके साथियों के लिए बम्बई से लिवरपुल तक ५ प्रथम दर्जे की सीटें रिजर्व कर ली हैं। कवि के दल में नजरुल, 'नजरुल-निरामय-समिति' की कुमारी लतिका घोष और आर० अहमद शामिल हैं।

ज्ञात हुआ है कि लंदन में भारतीय हाई कमिश्नर और पाकिस्तानी ट्रेड अटैची ने मिलकर श्रीमती इलासेन (रीड) की अध्यक्षता में एक समिति बनाई है जो कवि और उनकी पत्नी के इलाज के लिए धन संग्रह करेगी।

'नजरुल-निरामय-समिति' ने अब तक १८,५०० रुपये एकत्र कर लिए हैं जिनमें से ४,५०० रुपये पूर्वी पाकिस्तान से प्राप्त हुए हैं और ५,००० रु० भारत-सरकार से।"

इसके बाद कुछ और लिखना भी आवश्यक है, यह हम समझ नहीं पाते। क्या हिंदी-भाषी और भारत-सरकार 'निराला' के लिए उतना भी नहीं कर सकती जितना बँगला-भाषी और भारत-सरकार नजरुल इस्लाम के लिए कर रही है—और हमें संतोष है कि कर रही है!

जहाँ तक साहित्य-निर्माण का प्रश्न है, हमारे पाठकों को स्मरण होगा, हम इन पृष्ठों में इसके लिए एक 'पंचवर्षीय योजना' तब उपस्थित कर चुके थे जब भारत सरकारवाली बहु-प्रचारित पंचवर्षीय योजना सामने नहीं आई थी।

हम आशा करें, हमारे क्षीण स्वर को हिंदी के वे साहित्यिक उन राजनीतिज्ञों तक पहुँचायेंगे, जिनके बीच इसी काम के लिए तो वे आज दिल्ली में पहुँचे और पहुँचाए गए हैं!

—न० वि० घ०

भारतीय भाषाएँ और विदेशी विद्वान्

(प्रारंभिक काल)

प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही योरोप में भारतीय-भाषाओं के उदाहरण और उनके व्याकरण की रूप-रेखाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। १७७२ में हिंदी का प्रथम अँगरेजी में लिखित व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसका लेखक था जार्ज हेड्ले (George Hadley) उसने बंगाल की सेवा में काम किया था। उसके व्याकरण के एकाधिक संस्करण मुद्रित हुए।

हिंदी (इस प्रारंभिक युग में भी विदेशी विद्वान् हिंदोस्तानी शब्द का ही अधिकतर व्यवहार करते थे) का प्रथम कोष जे. फर्गुसन (J. Fergusson) ने तैयार किया और वह उपर्युक्त ग्रंथ के एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। जे० बी० गिलक्राइष्ट (J. B. Gilchrist) ने व्याकरण और कोष दोनों ही क्षेत्रों में अनेक सुधार किए। वह स्काटलैंड का निवासी था और उसने ईष्ट इंडिया कंपनी के चिकित्सा-विभाग में १७९४ में प्रवेश किया था। अपनी नौकरी की अवधि में ही उसने हिंदी का गंभीर ज्ञान उपार्जित किया था। उसकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। वह अपने सभी सामयिक विदेशी विद्वानों के भाषा-संबंधी ज्ञान की उपेक्षा के साथ चर्चा करता है—यहाँ तक कि हेड्ले की पुस्तक A...Grammar of...the Jargon of Hindoostan को लक्ष्य कर उसने अपनी एक व्याकरण पुस्तक का नामकरण ही कर दिया है The Anti-Jargonist!

१७७६ में नेथानिमल हालहेड ने एक बँगला व्याकरण प्रकाशित किया। इसका मुद्रण उत्तर भारत के सर्वप्रथम मुद्रणालय में हुआ था। इसी ने हेस्टिंग्ज की फारसी में लिखित Code of Gentoo Laws का अँगरेजी में अनुवाद किया था। इसकी शिक्षा हैरो और क्राइष्ट चर्च जैसी प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाओं में हुई थी। अपने बँगला व्याकरण में इसने संस्कृत और योरोपीय भाषाओं की समानता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसने ही सबसे पहले विल्किन्स के हृदय में संस्कृत और फारसी के लिए अभिरुचि उत्पन्न की थी। सर्वप्रथम बँगला-अँगरेजी और अँगरेजी-बँगला कोष Calcutta Chronicle के कार्यालय से मुद्रित हुआ था। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

अब वह स्थिति आ गई थी जब इसाई पादड़ी प्रचार कार्य के निमित्त विभिन्न भारतीय भाषाओं की कामचलाऊ जानकारी हासिल करने के लिए ही उनका अध्ययन नहीं करते थे। उन पादड़ियों में जिन्होंने भाषा-संबंधी प्रारंभिक अध्ययन से आगे बढ़कर गंभीर अध्ययन की ओर प्रवृत्ति दिखाई, विलियम केरी (William Carey) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। केरी ने एक साधारण चर्मकार के रूप में अपने जीवन का आरंभ

किया था। फिर वह पादड़ी बना और विदेशी भाषाओं तथा जीवन-प्रणालियों के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। उसने १७६२ में बैप्टिष्ट मिशनरी सोसायटी की स्थापना की। इसी संस्था की ओर से १७६२ में दो पादड़ी भारत भेजे गए और उनमें एक स्वयं केरी था। उसका साथी था जान टामस जो पहले ईष्ट इंडिया कंपनी के एक जहाज का शल्य-चिकित्सक था पर बाद में पादड़ी बन गया था। उसने बँगला में न्यू टेष्टमेंट का अनुवाद प्रारंभ किया था किंतु इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिल पाई। केरी ने भारत आते समय इसी टामस से बँगला का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त किया था। भारत आने पर इन दोनों व्यक्तियों ने सीमित साधनों तथा अधिकारियों की पदाड़ियों के प्रति प्रतिकूल मनोवृत्ति से बाध्य हो कर एक निलहे साहब के यहाँ नौकरी कर ली। इस अवधि में केरी ने अपने अवकाश का सारा समय बँगला और संस्कृत के अध्ययन में लगाया और १७९६ तक तो वह महाभारत पढ़ने के लायक संस्कृत का ज्ञान अर्जित कर चुका था। १७९६ में उसने संस्कृत का एक व्याकरण पूरा किया और एक कोष के लिए शब्द-संग्रह भी करता रहा।

जिस व्यापार में केरी और टामस सहयोग दे रहे थे उसमें तो घाटा लगता ही रहा, अपने धर्म-प्रचार में भी उन्हें यह सफलता नहीं मिली कि वे बहुसंख्य लोगों को धर्म-परिवर्त्तन के लिए तैयार कर पाते। १७९९ में केरी जिस नील-कोठी में कार्य करता था वह बंद हो गई और अब उसके पास आजीविका का कोई साधन नहीं रह गया क्योंकि जो रकम इंगलैंड से उसे भेजी जाती थी वह बहुत कम थी। इन्हीं दिनों उपर्युक्त मिशन ने अपने चार अन्य सदस्यों को भारत रवाना किया। केरी ने अँगरेजी सरकार की पादड़ी-विरोधी नीति देखकर कलकत्ते के बदले सिरामपुर को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। सिरामपुर डनिश प्रदेश था और वहाँ के डेनिश राज्यपाल से उसे सहयोग प्राप्त हुआ। केरी को यहाँ अपनी लगन, अध्यवसाय और धैर्य के फलस्वरूप यथेष्ट सफलता मिली। उसके नये सहयोगियों में एक, जिनका नाम था वार्ड, मुद्रण-कला का ज्ञाता था। उसकी सहायता से केरी ने एक मुद्रणालय स्थापित कर लिया और उसकी स्थिति अब बहुत सुविधापूर्ण हो गई।

१७९० में लार्ड कार्नवालिस ने कंपनी के अँगरेज कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं की विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए पुरस्कार और अन्य सुविधाएँ देने की घोषणा की थी। १७९९ में डा० गिलक्राइष्ट, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, कंपनी के निम्न कार्यकर्त्ताओं को फारसी और हिंदी सिखाने के लिए नियुक्त हुए। अट्ठारह महीने बाद इन कार्यकर्त्ताओं की परीक्षा लेने के लिए पाँच उच्च पदाधिकारी मनोनीत हुए। उन्होंने पाया कि जिन कर्मचारियों ने गिलक्राइष्ट से शिक्षा पाई थी उनकी प्रगति उनसे अधिक हुई थी जिन्होंने अपने लिए अलग अध्यापक रखकर फारसी हिंदी सीखी थी। लार्ड वेलेजली ने गिलक्राइष्ट के प्रयोग में बहुत दिलचस्पी ली थी। प्रयोग की सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने कलकत्ते के फोर्ट विलियम में एक कालेज स्थापित करने का निर्णय किया। अपने पुस्तक में उन्होंने स्पष्ट लिखा था—"ईष्ट इंडिया कंपनी के शासनाधिकारी अब एक

व्यापारिक संस्था के कर्मचारी मात्र नहीं रह गए है, अब तो वे एक शक्तिशाली राजा के सचिव और पदाधिकारी हो गए हैं।" कालेज की स्थापना का उद्देश्य यह बताया गया कि सोलह से अट्ठारह के जो अनुभवहीन युवा पदाधिकारी इंगलैंड से आएँ वे उन प्रदेशों की भाषाओं तथा रस्मो-रिवाज के बारे में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लें जिनके शासक के रूप म उनकी नियुक्ति हो। लार्ड वेलेजली की योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक था कि काफी खर्च करके कालेज के लिए इमारत बनाई जाए। कंपनी के निर्देशकों न इसके लिए स्वीकृति नहीं दी। उन्होंने इसके बदले हेलेबरी (Haileybury) में ईष्ट इंडिया कालेज की स्थापना की योजना बनाई और यह निर्णय किया कि इस संस्था में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद जो व्यक्ति पदाधिकारियों के रूप में भारत जायेंगे वे फोट विलियम कालेज में अपनी शिक्षा पूरी कर लेंगे। हेलेबरी में १८०६ तक कालेज की स्थापना नहीं हुई और इस बीच छै सालतक फोर्ट विलियम कालेज ही एकमात्र ऐसी संस्था थी जहाँ नवागत अँगरेज पदाधिकारियों को शासन के लिए आवश्यक शिक्षा दी जाती रही। १८०० में जब इसकी स्थापना हुई थी तब कोलब्रक (Colebrooke) संस्कृत और 'हिंदू ला' की शिक्षा के संचालक थे। वे स्वयं अध्ययन न कर केवल इन विषयों के शिक्षण का निर्देशन करते थे और शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद पदाधिकारियों की परीक्षा ले लेते थे। गिलक्राइष्ट हिंदी के अध्यापक थे और फ्रांसीसी ग्लैड्वीन (Francis Gladwin) फारसी के। इन सभी विभागों में भारतीय सहाध्यापक भी नियुक्त किए गए थे १८०१ में लार्ड वेलेजली ने बँगला और संस्कृत के अध्यापक के रूप में केरी की नियुक्ति के लिए स्वीकृति प्रदान की। बाद में वह मराठी भी पढ़ता था। वह १८३१ तक अपने पद पर कार्य करता रहा।

इस प्रकार के शिक्षा-कार्य में सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में उस समय गद्य की पुस्तकें सुलभ नहीं थीं। केरी के व्यक्तित्व और गिलक्राइष्ट के अध्यवसाय से कालेज के भारतीय सहाध्यापकों ने अपनी-अपनी भाषाओं में पहले तो अनुवाद और फिर मौलिक गद्य-ग्रंथ प्रस्तुत किए। स्वयं केरी के द्वारा किया गया न्यू टेष्टमेंट का बंगानुवाद १८०१ में, और ओल्ड टेष्टमेंट का १८०२ में, प्रकाशित हुआ। उसके द्वारा रचित बँगला व्याकारण भी, जो हालहेड की पुस्तक से अच्छा था और जिसमें बँगला-संस्कृत का भी निर्देश था, १८०१ में ही प्रकाशित हुआ। उसमें उदाहरण के रूप में ऐसे कथोपकथन किए गए थे जो बोलचाल की बँगला में लिखे गए थे। १७९९-१८०२ में एक अन्य बँगला-कोष भी प्रकाशित हुआ। इसका लेखक था एक शासनाधिकारी, एच० पी० फोर्ष्टर (H. P. Forster)। उसका कोष दो खंडों में था—अँगरेजी-बँगला और बँगला-अँगरेजी। अपनी कविता में फोर्ष्टर ने लिखा है कि चूँकि बंगाली विद्वान् ने बँगला का व्याकरण तब तक तैयार नहीं किया था इसलिए वर्ण-योजना अव्यवस्थित थी। उसने हालहेड (Halhed) के इस पुस्तक का भी समर्थन किया ब्रिटिश सरकार को फारसी के बदले बँगला को कचहरी की भाषा के रूप में स्वीकार करना उचित था। चूँकि बँगला को कोई दूसरा कोष नहीं था—बँगला में भी नहीं था—इसलिए

इसी के सहारे उन अनुवादों और गद्य-पुस्तकों की भाषा की प्रतिमिति की जाती थी जिन्हें केरी के भारतीय सहाध्यापक तैयार करते थे। १८१५–२५ में स्वयं केरी ने एक बृहत् कोष तैयार किया जिसमें ८०,००० शब्द थे।

केरी स्वयं भी बँगला गद्य लिखता था, जो सरल और बोलचाल की भाषा के निकट था। उससे प्रेरणा पा कर जो बंगाली विद्वान् गद्य-रचना करते थे उनके सामने संस्कृत और फारसी के अलंकृत गद्य का आदर्श रहता था और वे उसीका अनुकरण करते थे। राम राम बसु, जो बंगला गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, संस्कृत के अतिरिक्त अरबी और फारसी के भी ज्ञाता थे। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में फारसी के शब्दों की प्रचुरता पाई जाती है। इस तरह की गद्य-रचना कुछ वर्ष पूर्व जोनाथन डंकन (Jonathan Duncan), एच्० पी० फोर्स्टर (H. P. Forster) और एन्० बी० एडमंस्टन (N. B. Edmonstone) ने, कानूनी नियमों के अपने अनुवादों में प्रस्तुत की थी। मृत्युंजय, जो हेड पंडित थे, केरी से भिन्न और परिमाणित गद्य की परंपरा का प्रवर्त्तन किया किंतु वह भी अत्यंत संस्कृत-गर्भित थी। केरी का बँगला गद्य साहित्यकता की दृष्टि से नहीं अपितु सरलता, निश्चयात्मकता और ऋजुता के गुणों के कारण उल्लेख्य है।

हिंदी के अध्यापकों ने फारसी, अरबी और संस्कृत से ऐसे अनुवाद किए जिनकी भाषा दिल्ली-बरेली के बीच बोली जाने वाली खड़ी बोली नामक विभाषा थी। प्रारंभिक पुस्तकों में, यदि मूल अरबी का फारसी में था, तो अरबी में फारसी शब्दों की प्रचुरता रहती थी और इस प्रकार की भाषा उर्दू के नाम से अभिहित होती थी, दूसरे प्रकार की भाषा में मूल संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता रहती थी और वह संस्कृत कही जाती थी।

ये सभी पुस्तकें सिरामपुर के मिशन प्रेस में मुद्रित हुई थीं। यहाँ से १८१६ तक ३३ भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। १८३२ तक भी संख्या ४० तक पहुँच गई थी। यहाँ से १८१८ में 'दिग्दर्शन' नामक मासिक और 'समाचार दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुए। इन्होंने ही बँगला पत्रकारिता का सूत्रपात किया। इनसे प्रभावित होकर शिक्षित बँगाली स्वयं ही इस प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में प्रवृत्त हुए।

१७९२ में केरी ने जिस बैप्टिष्ट मिशनरी सोसायटी की स्थापना की थी उसकी ओर से स्वयं केरी तो भारत आया ही था, कालांतर में चार और पादड़ी आए थे, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनमें से एक, जोशुआ मार्शमैन (Joshua Marshman) और फिर उसका पुत्र जे० एल्० मार्शमैन (J. L. Marshman) पत्रकारिता में बहुत दिलचस्पी रखते थे। जोशुआ मार्शमैन ने केरी के वृहत् कोष का संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया और उसके पुत्रने इतिहास और कानून की पुस्तकों के रचयिता के रूप में प्रसिद्धि पाई। उसने एक अँगरेजी-बँगला-कोष भी बनाया था, जिससे केरी के बृहत् और संक्षिप्त कोषों के अभावों और त्रुटियों की पूर्त्ति हो जाती थी।

बँगला भाषा के अध्ययन की इस प्रगति की समानता मराठी भाषा के क्षेत्र में भी दीख पड़ती है। केरी ने १८०५ में मराठी भाषा का एक व्याकरण प्रस्तुत किया। तदनंतर उसने सेंट मैथ्यू के गास्पेल और दो उपदेशात्मक कथाओं के संग्रहों के मराठी अनुवाद भी प्रकाशित किए। इसके साथ ही स्काटिश मिशनरी सोसायटी के तत्त्वावधान में बाइवल का भी मराठी अनुवाद संपन्न हुआ। इन कार्यों के फलस्वरूप मराठी भाषा के अध्ययन की ओर विद्वान् प्रवृत्त हुए। गवर्नर माउंट स्टुअर्ट एल्फिन्सटन ने १८२० में एक स्कूली पुस्तकों और स्कूल की समिति की स्थापना की।

सुदूर दक्षिण भारत में कैथोलिक पादड़ियों ने १६७७ में ही तामिल भाषा में पुस्तकें मुद्रित की थीं। अँगरेजों ने द्राविड़ भाषाओं का अध्ययन बहुत बाद में प्रारंभ किया।

१८०६ में इंगलैंड में हर्टफोर्ड (Hartford) इंगलिश कालेज खोला गया था। १८०९ में वह हेलेबरी में नए भवन में स्थानांतरित किया गया। १८५८ के पहले तक, जब यह संस्था बंद हो गई, यहाँ से विज्ञान, साहित्य, इतिहास, राजनीति और कानून के छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। इसके अतिरिक्त इस संस्था में प्राच्य अध्ययन के विभाग भी थे, जिनमें एशिया, अरेबिया, फारस के इतिहास तथा हिंदुस्तानी, संस्कृत, बँगला, तेलगू और मराठी के शिक्षण की व्यवस्था थी। यहाँ के अध्यापक क्रमशः उन भाषाओं के विशेषज्ञ बन गए जिन्हें वे पढ़ाते थे और उन्होंने इनके वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योग दिया। ईष्ट इंडिया कंपनी ने भी दो सैनिक कालेज खोल रखे थे जिनमें सेना में नियुक्त होनेवाले पदाधिकारी शिक्षा पाते थे एक तो इंगलैंड के Addiscombe स्थान में जो १८०९ से १८६२ तक बना रहा, और दूसरा अपेक्षाकृत कम दिनों के लिए कलकत्ते के पास Baraset में। इनमें भारतीय भाषाओं की, विशेषतः हिंदुस्तानी की शिक्षा की व्यवस्था थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में केवल ये ही ऐसी संस्थाएँ थीं जिनमें भारत से संबद्ध विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अँगरेज विद्वानों ने इस अवधि में जो कुछ किया उसमें उन्हें भारतीय विद्वानों का भरपूर सहयोग मिला। उदाहरण के लिए जगन्नाथ पंचानन ने, जिनकी मृत्यु १८०६ में हुई थी, सर विलियम जोन्स और जे० एच्० हैरिंग्टन, जो फोर्ट विलियम कालेज में कानून के अध्यापक थे, को यथेष्ट सहायता दी थी।

इसी प्रकार गिलक्राइष्ट के तत्त्वावधान में इसी कालेज में लल्लू लाल ने १८०३ में प्रेमसागर की रचना की थी। और, मीर अम्मन ने फारसी से उर्दू में बागो-बहार को अनूदित किया था। इन साहित्यिक कार्यों में ही नहीं, बल्कि मुद्रण के यंत्र-संबंधी कार्यों में भी स्थानीय शिल्पियों ने विल्किन्स केरी और मार्शमैन को बहुत सहायता पहुँचाई थी, जिसे इन्होंने साभार स्वीकार किया है।

एशियाटिक सोसायटी अब बंगाल के प्रारंभिक सदस्यों में विलियम चेंबर्स नामक विद्वान् भी थे, जिनका उल्लेख तेलगू भाषा के ज्ञाता के रूप में किया गया है। किंतु

द्राविड़ कुल की भाषाओं के सर्वप्रथम उल्लेखनीय अँगरेज विद्वान् Francis Whyte Ellis थे, जो १७९६ में कंपनी के कर्मचारी नियुक्त हुए थे और जिनकी मृत्यु १८१९ में हुई थी। वे तामिल भाषा और साहित्य के निष्णात विद्वान् थे। उनके बाद C. P. Brown (१७९८–१८८४) का उल्लेख उचित है। इन्होंने मद्रास सिविल सर्विस में १८१७ में नियुक्ति पाई और फिर फारसी और तेलगू भाषा के सरकारी अनुवादक हुए। इन्होंने १८४० में एक व्याकरण प्रस्तुत किया। १८४५-५३ में तेलगू-अँगरेजी और अँगरेजी-तेलगू कोष बनाए। G. U. Pope ने १८२०–१९०८ में इस प्रकार के कार्य तामिल के संबंध में किए। ये पादड़ी थे और इन्होंने १८४२ में तामिल भाषा में ही तामिल व्याकरण की रचना की और १८९४ में इसे अँगरेजी अनुवाद के साथ पुनः प्रकाशित कराया। इन्होंने एकाधिक प्राचीन तामिल ग्रंथों का संपादन भी किया और ब्रिटिश म्युजियम में संगृहीत तामिल पुस्तकों की सूची बनाने का काम भी शुरू किया था।

दक्षिण भारत की भाषाओं का नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन का आरंभ किया पादड़ी R. Caldwell (१८१४–९१) ने जिसकी पुस्तक Comparative Grammar of South Indian Language में कन्नड और मलयलम् तथा तामिल और तेलगू इन सभी भाषाओं पर विचार किया गया है। लेकिन, यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि बहुत सारा प्रारंभिक कार्य और अन्य देशों के ईसाई पादड़ियों द्वारा सोलहवीं, सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों में ही संपन्न हो चुका था।

Carey ने भारत की उत्तरी भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की एक योजना बनाई थी और इस विषय पर एक प्रबंध तैयार किया था, किंतु वह १८१२ में सिरामपुर प्रेस में आग लग जाने के कारण नष्ट हो गया और फिर आगे नहीं लिखा गया। इसके पहले और बाद में Journal of the Asiatic Society of Bengal में भारत की अनेक आधुनिक उत्तरी और पश्चिमी भाषाओं के विषय में निबंध प्रकाशित हुए थे।

James Prinsep ने इस तथ्य का सर्वप्रथम निर्देश किया था कि इनका आविर्भाव पालि भाषा से भी पहले की पुरानी प्राकृत भाषाओं से हुआ था।

आधुनिक भारतीय भाषाओं से संबंध रखने वाली संक्षिप्त टिप्पणियों के अतिरिक्त बारहवीं और बाद की शताब्दियों में रचित पुस्तकों के विवरण भी इस पत्र में प्रकाशित होते थे। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो का उल्लेख किया जा सकता है।

A. F. R. Hoernle (१८४१–१९१८) ने जो 'कलकत्ता मदरसा' (Calcutta Madrasa) के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे और जो Asiatic Society of Bengal के भाषा-विज्ञान-विभाग के मंत्री और बाद में अध्यक्ष भी हुए, उत्तरी भारत की भाषाओं पर अनेक निबंध लिखे थे। वे Comparative Grammar of the North Indian Vernaculars (१८७८) के नाम से संगृहीत और प्रकाशित हुए। प्रायः इसी समय John Beames (१८३७–१९०२) का Comparative Grammar of the Aryan Languages (१८७२–१८७९) भी प्रकाशित हुआ था। ये दोनों ग्रंथ एक दूसरे के पूरक सिद्ध हुए।

किंतु इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं Sir G. A. Grierson (१८५१–१९४१) की जो भारत में १८७३ में आए और जिन्होंने चार वर्षों के बाद भारतीय भाषाओं पर लिखना शुरू किया। और फिर, बाद में प्रायः साठ वर्षों तक इस दिशा में निरंतर अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अधिकतर विहार में ही Indian Civil Service की नौकरी की। उनकी विद्वत्ता का प्रमाण हमें सबसे पहले Seven Grammar of the Bihari Dialects (१८८३–८७) में मिलता है। Bihar Peasant Life (१८८५) नामक पुस्तक में इन्होंने कृषकों, व्यापारियों और शिल्पियों तथा सामान्यरूप से साधारण जनता के जीवन से संबद्ध १२,००० शब्दों का विवरणात्मक कोष प्रस्तुत किया। १९८९ में इनकी पुस्तक The Modern Vernacular Literature of Hindustan प्रकाशित हुई। इसमें राजपुताना से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक बोली जानेवाली हिंदी तथा उसकी विभाषाओं के, प्रायः ११५० ई० के बाद के ९५२ लेखकों तथा उनकी कृतियों का विवरण है। १८९८ में भारत सरकार ने ग्रियर्सन को भारत के व्यापक 'Linguistic Survey' का कार्य संपादित करने के लिए नियुक्त किया। इस कार्य के बारें मे ठीक ही कहा गया है कि यह—"the biggest thing of the kind that had ever been attempted in any part of the world" पहले तो भारत तथा देशी राज्यों के जिलाधीशों के द्वारा प्रत्येक अंचल में बोली जाने वाली विभाषाओं की सूची मँगाई गई। फिर इसी अध्ययन से प्रत्येक विभाग के विश्वसनीय और सुपरीक्षित उदाहरण भी प्राप्त किए गए। प्रत्येक उदाहरण का निरीक्षण स्वयं ग्रियर्सन करते थे और जहाँ कहीं भी शंका होती थी वहाँ आवश्यक पूछ-ताछ की जाती थी।

इस सामग्री की प्रारंभिक समीक्षा के आधार पर ग्रियर्सन ने १९०१ की जन-गणना की रिपोर्ट के लिए ऐसा एक विस्तृत परिच्छेद तैयार किया जैसा पहले की किसी रिपोर्ट में नहीं दिया गया था। इसमें विस्तार के अतिरिक्त सुव्यवस्थित वर्गीकरण भी था जिसकी तुलना पहले के अस्पष्ट और असंतोषजनक विवरणों से नहीं की जा सकती।

लिंगुइष्टिक सर्वे के कार्य के आरंभ के तीन वर्षों के बाद इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अंतिम खंड प्रकाशित हुआ। संपूर्ण ग्रंथ वीस खंडों में है जिनमें कुल मिलाकर प्रायः ८,००० पृष्ठ हैं प्रारं के कुछ खंडों का संकलन नार्वे निवासी Dr. Sten Konow ने किया था। किंतु शेष खंडों का श्रेय अकेले ग्रियर्सन को है। इस 'सर्वे' में चार भाषा के परिवारों का उल्लेख है—The Austro-Asiatic, The Sino Tibetan, The Dravidian and The Aryan। इनके अंतर्गत १७९ भाषाएँ हैं और ५४४ विभाषाएँ। ग्रियर्सन को इस कठिन कार्य को संपन्न करने के लिए Order of Merit प्रदान कर ब्रिटिश सरकार ने सम्मानित किया तथा अनेक देशों के विश्वविद्यालयों और संस्थाओं ने भी उनका असामयिक सम्मान किया।

———

संतालों की गुती-प्रथा

श्री पंचानन मिश्र

संताल एक संगठित जाति है। इसका संपूर्ण धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन ग्राम-सभा द्वारा संचालित होता है। इनकी ठोस सामूहिकता आज के सभ्य कहे जाने वाले समाज के लिए अनुकरणीय वस्तु है। संतालपरगने में आने के समय तक इनमें उद्यान और झूम-जीवन की सारी विशेषताएँ मौजूद थीं। भूमि पर उत्पादन के लिए नियतकालीन अधिकार था, स्थायी स्वामित्व का कोई प्रश्न ही नहीं था। हर वर्ष परिवार की आवश्यकता तथा क्षमता के अनुसार खेतों का वितरण होता था। आज भी संतालों को कोई स्थान या खेत छोड़ते विशेष कष्ट नहीं होता। माघ त्योहार (माघ-सिम) उस प्रणाली की विधि आज भी पूरी करता है। माघ में धान काट कर खेत साफ कर लेने के पश्चात् गाँव भर के संताल इकट्ठे होते हैं। इसी समय सरदार का निर्वाचन और भूमि का वितरण होता था। आज भी सरदार (माँझी) तथा अन्य पदाधिकारी अपने-अपने पदों का त्याग करते हैं और अन्त में रैयत बोलते हैं——

"आले हो वावाले मोकोंचेना। जुमी जाइगा को ले जिमा वान काना माँझी वावा। सेतोड़ दिन भोर एकेन मारे डिराडाले दोखोल इदिया। ओनादो वाले जिमा-वान काना। आर कुंवा होले दोहो इदिगिया।"

अर्थात् "हम लोग भी ऊब गए हैं। जमीन जगह सरदार को जिम्मा देते हैं। गर्मी के दिन तक घर बनाने के स्थान अपने अधिकार में रखेंगे। उसे जिम्मा नहीं दे रहे हैं, और झोपड़ी भी नहीं देंगे।"

आज खेतों का पुनर्वितरण नहीं होता और सरदार का नव-निर्वाचन भी नहीं; परंतु विधि दोनों की पूरी की जाती है। नृतत्व शास्त्रियों का अनुमान है कि उन लोगों ने पशुपालन भी दूसरों से लिया है। ऐसी सामाजिक-व्यवस्था के रहते धनी, गरीब, मजदूर और शोषणका सवाल ही नहीं उठता। छोटे और बड़े बनने का आधार भौतिक नहीं अभौतिक होगा। जो अपनी योग्यता, बुद्धि, जातीय नियमों तथा विधियों के ज्ञान और समाज-सेवा के बलपर सरदार आदि चुना जाता था, वह सब के आदर का पात्र होता था और बड़ा माना जाता था। भूमि-वितरण आदि के कार्य वही करता था। दैविक-विपत्ति से कोई दरिद्र बन सकता था। यदि किसी के घर के कमानेवाले व्यक्ति मर गए या खेतों में किन्हीं कारणों से कुछ उत्पन्न नहीं हुआ तो वह भूखा रहता था या कष्ट से अपने दिन काटता था, अथवा जाति के भाई और संबंधी उसकी सहायता कर दिया करते थे। धीरे-धीरे इतिहास के चक्र और अन्य जातियों के संपर्क से इनके खेतों पर स्थायी स्वामित्व की परिपाटी चल पड़ी तो धनी गरीब के भेद हो गए। जिनके पास खेत थे वे धनी बन गये

और जिनके पास नहीं थे वे दरिद्र। १७८२ में अँगरेज राज्य की स्थापना के बाद क्लीभ-लैंडर (Clive Lander) ने पहाड़िया लोगों के विद्रोह को शांत करने के लिए कई नये सुधार किये। आज भी पहाड़िया तथा संताल क्लीभलैंडर को चिली-मिली साहब के नाम से स्मरण करते हैं। उन्होंने सरदारों को भत्ता देना शुरू किया। उनके पद स्थायी और पैतृक हो गए। व्यक्तिगत संपत्ति का बीज बोया गया। इसी समय संतालों का आगमन संताल परगने में हुआ और थोड़े दिनों में वे सर्वत्र छा गए। सरदारों के प्रभाव और अनुकरण पर माँझी आदि भी पद के कारण मिली भूमि के स्थायी स्वामी हो गए और पुनर्वितरण की परिपाटी समाप्त कर दी गई। यही कारण है कि संताल में धनी गरीब के लिए स्वतंत्र शब्द नहीं हैं। धनी को 'किसाँड़' और गरीब को 'रेंगेच' कहते हैं। 'किसाँड़' स्पष्टतया किसान है। धनी का अर्थ ही था, खेत वाला किसान। 'रेंगेच' का अर्थ है 'भूखा', 'रेंगेच होड़' का अर्थ होता है 'भूखा आदमी'। दरिद्र वही है जो भूखा हो, पहले दैविक विपत्ति के कारण, पीछे खाद्योत्पादन के साधनों के अभाव में।

विषमता का अनिवार्य परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरों के लिए श्रम करें और अपनी मिहनत बेचें। आज संतालों में ऐसे लोगों की दो कोटियाँ हैं, एक में जोन या मूनिस और अचुहोड़ आयेंगे तथा द्वितीय में 'गुती'। प्रथम कोटि के श्रमिक दैनिक मजदूर हैं, जिनको प्रायः सूखासूखी ८ पाई धान या एक शाम भोजन और ६ पाई धान मिलता है। पाई एक धान मापने का वर्तन है, जिसमें आधासेर के करीब अँटता है। संताली में अन्न के रूप में मिली मजूरी को 'बेरहोन' कहते हैं। 'बेरहोन' का मैथिली 'बअनि' भोजपुरी 'बनि' और पछाही के 'बन्नी' से निकट संबंध जान पड़ता है। हिन्दी में 'बन्नी' को कोषकारों ने देशज बताया है, क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। 'बेरहन' इस क्षेत्र के गैर संताली भी बोलते हैं। इसका मूल बेला + अन्न, अर्थात् बेला के अनुसार मिला अन्न, जान पड़ता है। 'ह' का आगम स्वाभाविक है। बिया + अन्न = बियहन, खाद्य + अन्न = खदिहन, संताली के साथ की कई बोलियों में प्रयुक्त होते हैं। 'बन्नी' शब्द भी बार + अन्न से निकला जान पड़ता है या यह भी संभव है कि अन्न रूप में दी हुई मजूरी होने के कारण 'अन्नी' शब्द बना और फिर 'अन्नी' से 'बन्नी' का विकास हुआ।

'जोन' स्पष्ट रूप में संस्कृत का 'जन' है जिसमें बंगला-उच्चारण के प्रभाव से 'ज' 'जो' बन गया है। यह शब्द खेतिहर मजदूर के लिए विहार के एक बड़े भूभाग में प्रयुक्त होता है। 'मूनिस' और 'जन' पर्यायवाची है। मूनिस (मनुष्य) बंगाल में बोला जाता है। संताल परगना का जो भाग बंगाल के निकट है, उसीमें 'मूनिस' सुनाई पड़ता है। इतना निश्चित है कि जन और मूनिस शब्द संतालों के पीछे मिलते हैं और बहुत दिनों के मिले नहीं हैं। 'अचुहोड़' में 'अचु' प्रेरणार्थक है। 'गुरुजी जी ठेन इञ्ञ दाल अचुमेया' का अर्थ होता है 'गुरुजी से पिटवाऊँगा' (इञ्ञ—मैं, दाल—पीटना)। 'अचुहोड़' का अर्थ हुआ, वह मनुष्य (होड़) जिससे काम कराया जाता है।

'गुती' वह नौकर है, जिसे साल भर के लिए रखा जाता है। स्वामी भोजन वस्त्र आदि देता है और पारिश्रमिक माता-पिता से निश्चित करता है। विशेषतया इस कार्य के लिए कुमार ही रहते हैं, विवाहित होने पर अधिकांश अपना स्वतंत्र घर बसा लेते हैं। उराँवों में इसी प्रकार 'धाँगर' रहते हैं। 'धाँगर' शब्द का अर्थ ही अविवाहित युवक है। धाँगर और गुती दोनों के साथ सुन्दर बर्त्ताव होता है और वह परिवार का ही व्यक्ति जैसा रहता है। संताली के महान् पण्डित श्री बोडिंग संताल डिक्शनरी (कोष) में 'गुती' को हिंदी 'गोती' से व्युत्पन्न माना है। अपने पट्टीदार को हिन्दी भाषा-भाषियों के समान संताल 'गोतिया' ही कहते हैं, केवल 'आ' के उच्चारण में थोड़ा भेद हो गया है। उनमें सगोत्र और विगोत्र की विभाजक रेखा बड़ी स्पष्ट है। परंतु आज 'गुती' केवल सगोत्री ही नहीं होते विगोत्री भी रहते हैं; यद्यपि सगोत्री रहने में अनेक लाभ है। सगोत्र-विवाह संतालों में महान् अपराध है, और सगोत्र अवैध संबंधी भी प्रायः कम होते हैं। ऐसी स्थिति में चरित्र आदि के संबंध में काफी निर्भयता रहती है। लेकिन सदा ऐसे 'गुती' उपलब्ध नहीं हो पाते। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में दैविक विपत्ति का मारा, मातृ-पितृहीन बालक अपने 'गोतिया' के यहाँ परिवार के व्यक्ति जैसा रह जाता था। धनी-गरीब का भेद स्थापित होने पर यही शब्द उपचार से नौकर के लिए प्रयुक्त होने लगा।

'गुती' प्रथा की उत्पत्ति के एक और मूल का अनुमान किया जा सकता है। उड़ीसा की जन-जातियों में 'गोती' की प्रणाली है, जिसे इनसे अर्द्ध-परिचित विद्वानों ने दासता या अर्द्ध-दासता का ही रूप मान लिया है। प्रसिद्ध जन-सेवी तथा नृतत्व-शास्त्री श्री लक्ष्मीनारायण साहु के अनुसार 'गोती' एक प्रकार से शिष्यत्व की प्राचीन परिपाटी है। बच्चे किसी शिल्पी या गुरु के यहाँ काम सीखने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। गुरु ही उन्हें खाना-पीना देते हैं और शिक्षा-दान के साथ-साथ आवश्यकता तथा शक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत काम भी लेते हैं। उड़ीसा की जन जातियों में से कइयों ने अपनी भाषा छोड़कर उड़िया अपना ली है। ऐसी स्थिति में गोत या गोत्र के कुमार के लिए 'गोती' का संबोधन असंभव नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि अपने 'गोत' के बालक को 'गोती' बनाने या रखने की परिपाटी रही होगी। संतालों का 'गुती' शब्द 'गोती' से भी संबन्धित हो सकता है। और, उनमें भी अनाथ होने से या काम सीखने की इच्छा से 'गुती' किसी के यहाँ रहता होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। खेतों पर स्थायी स्वामित्व हो जाने से यह प्रथा विकृत हो गई और 'गुती' नौकर के रूप में परिणत हो गया।

'गुती' से प्रायः वही काम लिए जाते हैं जो पश्चिमी बिहार तथा उत्तर प्रदेश में चरवाहों से एवं इस क्षेत्र में 'धोरइ' और 'गुपी' से। धोरइ, ढोर-जीवी का बदला रूप है, एवं 'गुपी' गोपी का। ये सब लोग ढोर चराते हैं; किंतु यह अनिवार्य नहीं है। पशु चराने का कार्य गौण पड़ जाने के कारण जानवरों की देखभाल करने वाला तथा इसके साथ ही घर के अन्य काम करने वाला भी चरवाहा, 'धोरइ' या 'गुपी' कहलाता है।

गुती अधिकांश बालक और कुमार रहा करते हैं, इसलिए इन पर प्रायः पशु चराने की जिम्मेवारी ही रहा करती है; परंतु चरवाहों के समान यह अनिवार्य नहीं है। लड़कों के समान लड़कियाँ भी अब रहने लगी हैं, जिन्हें दासी या कड़मी कहते हैं। साफ है कि यह 'कड़मी' शब्द 'कर्मी' है, जो भ्रांति से स्त्रीलिंग समझ लिया गया है।

ऋण देकर सदा के लिए या नियत समय के लिए जन बाँध लेने की प्रथा बड़ी व्यापक है। सामान्यतः ऋण के दो रूप हैं, अन्न-ऋण और द्रव्य-ऋण। इस क्षेत्र में अन्न-ऋण को 'डेढ़िया' कहा करते हैं; क्योंकि इसमें लिया, गल्ला डेढ़ा लौटाना पड़ता है। परंतु बीज के लिए दिया हुआ अन्न दूना देना पड़ता है। आज भी संताल 'डेढ़िया' बहुत कम लगाया करते हैं। वास्तव में यह परिपाटी उन्हीं के शोषण के लिए अन्य क्षेत्रों के अनुकरण पर यहाँ चलाई गई थी। वैषम्य-विकास तथा जातीय उदारता के विनाश के पश्चात् असमय में या विपत्ति पड़ जाने पर पहले उधार लेने की परिपाटी चली, फिर स्वार्थों की वृद्धि हो जाने पर उधार लिए हुए अन्नादि को बढ़ाकर सवाया, डेढ़ा या दूना का क्रम चला। जब द्रव्य विनिमय का साधन बना तब अन्न और द्रव्य दोनों का ऋण प्रचलित हुआ। यह परिपाटी सम्भवतः स्थिर कृषि-जीवन की ही देन है। पशुचारी यायावरों में (Pastoralnomads) स्थिरता नहीं थी, इसलिए ऋण देना सुरक्षित भी नहीं था। उनमें 'चकची' जाति के समान अथवा संताल गुती के समान विपत्ति और अभाव में किसी संबंधी या गोतिया के यहाँ रह जाने के सिवाय कोई चारा नहीं था। मृगया, चयन तथा उद्यान-जीवी जातियों में उधार मौजूद है; परंतु इस्किमो तथा जूनी जातियों के समान उनमें उदारता अधिक है, बदला तथा आय की भावना कम है। ऋण ने उस सहायक लोकाचार या व्यवहार को शोषण का एक साधन बना डाला है। आज भी कई बोलियों में ऋण देने-लेने को 'व्यवहार' ही कहते हैं। भोजपुरी की कहावत है—

'इज्जत चाहे खेती करे, फजिहत चाहे व्यवहार।'

ऋग्वेद की एक ऋचा से पता चलता है कि उस आरम्भिक काल में ही ऋण की प्रणाली चल पड़ी थी। इतना ही नहीं उसका शोषक रूप भी दिखाई पड़ने लगा था। कूर्मो गृत्समद ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हैं—

'पर ऋणासावीर धमत्कृतानिमाहं राजन्नन्यकृतेन अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषस आ मो जीवान् भोजम् वरुण तासु शाधि।

"हे वरुण! दूसरों ने अर्थात् पूर्वजों ने जो ऋण किया था, उसका शोध करो। मैं जो ऋण करता हूँ, उसका भी परिशोध करो; ताकि मुझे दूसरों का उपार्जित न भोगना पड़े। ऋण के कारण ऋणकर्त्ता के लिए जैसे अनेक उषाओं का उदय ही नहीं होता। वरुण! सारी उषाओं में हम जीवित रहें, ऐसी आज्ञा करो।"

'माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्'—'मुझे दूसरों का किया हुआ या उपजाया हुआ नहीं भोगना पड़े', यह अंश बतलाता है कि यह ऋण सम्भवतः अन्न आदि उपभोग्य पदार्थों

का ही था। गृत्समद अत्यधिक चिंतित हैं। इससे शंका होती है कि यह उधार नहीं, ऋण था। यह स्थिति कृषि-जीवन की ही हो सकती है जहाँ विजातियों का ही नहीं, स्वजातियों का भी शोषण आरंभ हो गया था।

आर्यों में, उस दूरातीत में पनपकर भी यह ऋण संतालों में २५०–३०० वर्षों से अधिक का आया हुआ नहीं है। अँगरेजी राज्य की स्थापना के साथ ही एक ओर संताल इस जिले में फैले, दूसरी ओर भोजपुरी और बंगाली व्यापारी अपनी तराजू, ऋण, डेढ़िया, दूना आदि का जाल लिए घुसे। जन-जातियाँ सीधी-सादी थीं रुपयों का मूल्य वे नहीं जानती थीं। फिर तो ऐसे चक्र में पड़ीं कि निकलना कठिन हो गया। इन लोगों ने एक 'कामिया' या 'कमियौती' प्रथा चलाई। रुपये सूद पर देकर एक कागज लिखाया जाता था, जिसके अनुसार 'जन' को तबतक ऋणदाता के घर काम करना पड़ता था, जब तक सूद के साथ सारे रुपये न वसूल हो जायँ। संताली में ऋण और सूद के लिए कोई खास शब्द नहीं हैं। वे भी 'रिण', 'कर्ज' और 'सूद' ही कहते हैं।

१८५५–५६ में संतालों ने विद्रोह किया, जिसे 'संताल-हूल' कहा जाता है। इसके पश्चात् इन्हें शांत करने का प्रयास किया गया और १८५८ में विलियम ले फ्लेमिंग रॉबिसन (William Le. Fleming Robinson) आई० सी० एस्० ने इस 'कमिया प्रथा' को समाप्त कर दिया। उन्होंने इसके दुष्परिणामों पर काफी प्रकाश डाला है। आपके कथनानुसार २५) सैकड़ा सालाना तक व्याज लिया जाता था। एकबार फँस जाने पर 'साहु' के चंगुल से 'कमिया' को निकल पाना कठिन था। संतालों के लिए कचहरी की पद्धतियाँ अगम्य थीं। और, वहाँ साहु को ही डिग्री मिलती थी। मूलधन से तिगुना-चौगुना दे देने पर भी आसामी का पिण्ड नहीं छूट पाता था। कहा जाता है कि संताल-हूल के अनेक कारणों में यह प्रथा भी थी। १८४१ में पुराने रामगढ़ के मैजिस्ट्रट एस्० टी० कुथवर्ट (S. T. Cuthbert) साहब ने एशियाटिक सोसायटी के समक्ष 'छोटानागपुर' शीर्षक एक निबंध पढ़ा था। जिसमें उन्होंने बतलाया था कि छोटा-नागपुर में कृषि-दासता का एक मृदु-रूप उस समय प्रचलित था और यदि गैर-आदिवासी स्वामी होता तो एक कागज भी लिखा जाता था, जिससे ऋणकर्त्ता आजीवन या नियत समय के लिए बाँध लिया जाता था। इस क़ागज को सौनक (Saunak) पत्र कहते थे। श्री शरत् चंद्र राय के मतानुसार यह सौनक नहीं, शायद सेवक था। चाहे जो हो, संतालों के 'गुती' और उराँवों के 'धाँगर' फ्लेमिंग रबिन्सन साहब के 'कमिया' और कुथवर्ट के सौनक या सेवक से नितांत भिन्न हैं। ये उनकी अपनी परिपाटियों के विकास के फल हैं। परंतु कमिया और सेवक दूसरों के द्वारा शोषण के फल हैं। कुछ लोगों ने इनम एकता की कल्पना करके बड़ी भारी भूल की है।

———

सधुक्कड़ी भाषा और विधान

प्रो० श्री सिद्धिनाथ तिवारी, एम्० ए०

भाव जब सच्चे होते हैं तो उन्हें ईमानदारी के साथ प्रकट करने के लिए उछल-कूद मचाने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। जहाँ अनुभूति अस्पष्ट होती है वहीं बनाव-श्रृंगार ज्यादा होता है। सरोवर को सजाने का प्रयत्न इसलिए किया जाता है कि वह स्वतः नहीं बनता, बनाया जाता है—नदी की धारा को सँवारने की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि वह स्वतः प्रसूत है। भावनाओं का वेग जब तीखा होता है तो वे ऐसे-वैसे ही व्यक्त हो जाते हैं; उस समय उन्हें छंद और पिंगल, अलंकार और रस की डोर में बाँधने का ख्याल ही नहीं रहता—निर्झरिणी को बहने के लिए बँधा-बँधाया पाट नहीं मिलता, वह तो पहाड़ के तल को फोड़कर जिधर-तिधर नग्न रूप में बिखर पड़ती है। केशव ने नहर के बीच से अपनी काव्यधारा को दौड़ाया था, मीरा ने पहाड़ी नदी की तरह कलकल गुंजार किया था। संत कवियों में प्रायः सभी को मीरा की आत्मा मिली थी—निश्छल, निष्कपट, अकृत्रिम।

प्रायः सभी संत कवि फक्कड़ थे—मस्त, अल्हड़। इन्होंने अशिक्षित और निम्न-वर्गीय होते हुए भी अपने भीतर हीनपरिज्ञान-भावना को फैलने नहीं दिया और किसी भी शास्त्रज्ञ को अपने सामने बड़ा नहीं लगाया। इन घरफूँकों ने तत्कालीन पंडिताऊ शैली एवं शास्त्रीय भाषा को अँगूठा दिखलाना अपना पेशा बना लिया था। जो चीज सबके लिए नहीं है, वह किसी के लिए ठीक नहीं, अतः उसका बहिष्कार होना ही चाहिए और उसके विरुद्ध इन मस्तों की टोलियाँ गरज उठतीं—फिर चोटें पर चोटें, शह पर शह, सम्हालने की ताकत हो तो पंडित-मुल्ला सम्हालते रहें! शास्त्राचार्य पंडितों के सारे कार्य संस्कृत में चलते थे, भाषा में लिखना-पढ़ना, पढ़ाना-समझाना उनके लिए पाप-तुल्य था। लोग संस्कृत से काफी दूर थे— बोलने की बात छोड़िए, थोड़ी सी समझना भी मुश्किल था। आज संस्कृत को गाँव या शहर वाले जितनी सच्चाई से समझते हैं उतनी ही लगन से तब भी लोग जानते-समझते थे! वह थोड़े से शिक्षितों की भाषा थी और वे ही समाज के स्तम्भ थे। जो कुछ उनके मुँह से देवभाषा के रूप में उच्चरित हो गया वही 'वह' बन गया। इन मुट्ठी भर शिक्षितों को अपनी भाषा पर नाज था, अभिमान था। मूर्ख जनता को गिटपिट बोलकर ठगने में बड़ी आसानी थी—आज गाँवों में थोड़ी अँगरेजी फुटफुटाने वाला जैसा गाँठता है उससे कहीं अधिक अकड़ उन दिनों संस्कृत बोलनेवालों की थी क्योंकि उस भाषा के मात्र उच्चारण से ही धर्म का साक्षात् रूप सामने आ जाता था और धर्मवाणी की जो अवहेलना करे उसे दंड दने का अधिकार भी तो उन्हीं संस्कृतज्ञों को था।

पंडितों को इस बात का अभिमान था कि सारे ज्ञान-विज्ञान की बातें तो हमारे शास्त्र में भरी पड़ी हैं अतः यदि कोई उनका जिज्ञासु बनना चाहेगा तो उसे निश्चय ही संस्कृत-भाषा के माध्यम से हमारे पास पहुँचना पड़ेगा। भाषा की चोटी पकड़े रहने पर उनके मार्ग में कोई भी बाधक दिखलाई नहीं पड़ा। इस तरह भाषा के क्षेत्र में पंडित और मुल्ला अपनी-अपनी सीमाएँ घेरे खड़े थे—उनकी पताकाओं को उखाड़ने का साहस करना पहाड़ से टकराना था।

निर्गुण सुधारकों को जो कुछ भी कहना था जनता से कहना था। किसी विशेष वर्ग या दल के लोगों से मिलने का उद्देश्य नहीं रखते हुए उन्हें प्रत्येक झोपड़े में अपनी आवाज पहुँचानी थी। इन झोपड़ों में रहनेवाले शास्त्रीय भाषा नहीं समझ सकते थे। उन्हें समझाने के लिए उनकी बोली में बोलना आवश्यक था। 'निरगुनियों' ने इनके घर की भाषा में समझाना शुरू किया। शास्त्रपक्ष बिगड़ा। दर्शन और ज्ञान के सिद्धांत मर्त्यभाषा में ? छिः ! संतों ने इसकी तनिक भी परवाह नहीं की। इन संतों के ऊपर युग ने बड़ा भारी उत्तरदायित्व लाद दिया था। हिन्दू-मुस्लिम विषमता को दूर करने का काम इतना कठिन था कि यदि ये 'निरगुनिए' नहीं पैदा होते तो जाने क्या हो जाता। उनके संदेश घर-घर में पहुँचे और सबने उन्हें सुना-समझा। गौतम बुद्ध ने भी अपनी वाणी को घर-घर पहुँचाने के लिए लोकभाषा का ही आश्रय लिया था।

'निरगुनियों' का कहना था कि जिस प्रकार ऊँची जाति में जन्म लेने से ही कोई ऊँचा नहीं बन सकता उसी तरह सिर्फ देवभाषा जान लेने से ही देवतुल्य गुण नहीं आ सकते। कबीर ने भाषाभिमानी पंडितों को महामूर्ख की संज्ञा दी है।[1] उन दिनों साहित्यिक भाषा के पद से च्युत होकर संस्कृत मृत भाषा के रूप में थी और सिर्फ परंपरा के पालन के लिए धार्मिक कृत्यों में उसका उपयोग होता था, जैसा आज भी होता है। संतों का कहना था कि भाषा की यह रूढ़िबद्धता उसकी मृत्यु का लक्षण है। कूपजल-सी बँधी इस भाषा में सरिता की तरह प्रवाह नहीं, स्वच्छंदता नहीं, अतः 'बहतानीर' लोकभाषा की गतिशीलता, चैतन्यता एवं सजीवता को देखकर उसे ही अपने कंठों में बसाना 'निरगुनियों' ने उचित तथा बुद्धिसंगत समझा।

लोकभाषा को अपने भावप्रकटीकरण का माध्यम बनाने के पीछे कुछ के अनुसार, यह भी तथ्य है कि ये सभी संत प्रायः अशिक्षित थे—उस भाषा में बोलने में सर्वथा असमर्थ थे जिस बोली में पंडित और मुल्ला बोल सकते थे। इसलिए उनके इस नवीन दिशाग्रहण को लाचारी की संज्ञा भी दी जा सकती है !

संतों ने देखा कि पूजा-पाठ करने के लिए या किसी भी रूप में भगवान् की आराधना करने के लिए संस्कृत भाषा का ही उपयोग किया जाता है। यहाँ तक कि जो लोग अशिक्षित हैं वे संस्कृत नहीं बोल सकने के कारण यह समझने लगे हैं कि उनकी

---

१ संसकिरत पंडित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानी तर्क करै ते नर मूढ़ अजान॥

आराधना, देववाणी में नहीं होने के कारण दूषित है और शायद उनकी बातें 'भाखा' में होने के कारण भगवान् के दरबार तक नहीं पहुँच पातीं। इस मनोवृत्ति को दूर करने के लिए भी इन संतों ने जान-बूझ कर लोकभाषा में आराधना की और लोगों को इस बात के लिए उत्साहित किया। उनका कहना था कि भगवान् भाषागत पक्षपात के दलदल में नहीं पड़ता, वह प्रेम चाहता है। और, यदि तुममें सच्चा प्रेम है तो किसी वाणी में कहीं, वह समझ जायगा—यदि तुम्हारी वाणी मूक है तो भी तेरे दिल की बात वह समझ लेगा—'क्या भाषा क्या बंदगी, प्रेम चाहिए साँच।'

'साँच प्रेम' का संदेश फैलानेवाले इन सभी संतों की भाषा का प्रधान गुण उसकी प्रसादता है। जो कुछ भी इन लोगों ने अनुभव किया उसे सरल-सरल शब्दों में सीधे-सीधे कह देना ही इनके लिए सब कुछ था। इन्हें पिंगल और अलंकारशास्त्र का ज्ञान नहीं था और यदि रहता भी तो ये शायद उसका उपयोग नहीं करते। यही कारण है कि उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन इनकी कविताओं में बहुत कम होते हैं। रस की दृष्टि से इनकी पंक्तियाँ शायद ओछी लगेंगी। विरह-निवेदन के प्रसंग में विप्रलंभश्रृंगार का थोड़ा पुट जहाँ-तहाँ मिलता है, पर वे स्थल अध्यात्म से इतने बोझिल रहते हैं कि श्रृंगाररस की आत्मा कराह उठती है और बार-बार आत्मा-परमात्मा की भावना की आवृत्ति से श्रृंगार रस ढूँढने वाला पाठक भिन्ना जाता है।

तो, संतों की वाणी में हमें हृदय का निष्कलुष उच्छ्वास मिलता है—भाव उमड़ पड़ते हैं और टपक-टपक कर पंक्तिबद्ध हो जाते हैं। ओस की कणिका की तरह बिना सँवारे और सहेजे हुए शब्द भी सुन्दर लगते हैं—और, सचमुच वे इसीलिए सुन्दर लगते हैं कि वे अनगढ़े हैं; सरिता के तल में लुढ़कते हुए पत्थरों की तरह। इनकी वाणी में ग्रामीण शब्दों की अधिकता है। ठक्-ठक् ध्वनि करनेवाले शब्द गाँव की बोली में बहुत कम बोले जाते हैं; संयुक्ताक्षर वहाँ के बाजार में खोटे सिक्के की तरह नहीं चलते, लंबे समासों को वहाँ कोई नहीं पूछता, घुमा-फिराकर बातें करना वहाँ किसी को नहीं आता—संतों की बोली में ये सारे गुण पाये जाते हैं, इसलिए कि अशिक्षित लोगों की मंडली ही उनके पीछे घूमती-फिरती थी और उसी के अनुरूप बातें कहना उनके लिए समीचीन था। अशिक्षित सहजो की निम्नांकित पंक्तियों की स्वाभाविकता पर विचार करने से संतों की कला की सादगी प्रत्यक्ष हो जाती है। इन पंक्तियों में सीधे-सीधे भाव को कितनी आकुलता से झट-झट व्यक्त कर दिया गया है और तारीफ यह कि कहीं पर भी ढीलापन नहीं मालूम पड़ता। संत काव्य को छोड़कर सादगी की दृष्टि से शायद ही ऐसी पंक्तियाँ अन्यत्र मिलें। पाठक इनमें सचेष्ट हो शब्दालंकार की बारीकियाँ भी खोज सकते हैं, हालाँकि सहजो ने उनका कभी सपना भी नहीं देखा होगा। पढ़िए—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
निरतत नटवर मदन मनोहर कुंडल झलक पलक बिथुराई॥
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल हीठ मटक गति भौंह चलाई।

ठुमुक-ठुमुक पग धरत धरनि पर बाँह उठाय करत चतुराई ।।
झुनक-झुनकं नूपुर झनकारत ताताथेई थेई रीझि रिझाई ।
चरनदास सहजो हिय अंतर, भवन करो जित रहौ सदाई ।।

इसी प्रसंग में जगजीवन की वेकली की भी टोह लगा लीजिए—देखिए, यहाँ जरा मोटी आवाज में मीरा बोल रही हैं—

सखी री करौं मैं कौन उपाई।
मैं तो व्याकुल निसिदिन डोलौं उनहिं दरद नहिं आई।
काह जानि कै सुधि बिसराई कछु गति जानि न जाई ।।
मैं तौ दासी कलपौं पिय बिनु घर आँगन न सुहाई।
तलफि तलफि जल बिना मीन ज्यों अस दुख मोहिं अधिकाई ।।

घुमक्कड़ 'निरगुनियों' की सधुक्कड़ी भाषा एक मिश्रित भाषा के रूप में हमारे सामने आती है जिसका सौंदर्य इसलिए भी अधिक वढ़ गया है कि इसमें अनेक बोलियों के कहीं-कहीं एकत्र दर्शन होते हैं जिससे कथन में नाटकीयता आ जाती है। अजायबघर देखने से जो आनंद मिलता है वही आनन्द परिमार्जित ढंग पर कुछ-कुछ संतकाव्य की भाषा का अध्ययन करने पर मिलता है। लेकिन इतना सदा ध्यान में रखना पड़ेगा कि यह मिश्रित भाषा सभी संतों में एक रूप की नहीं है। जिस संत का निवास जिस प्रदेश में अधिक दिनों तक हुआ उसपर उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा और प्रदेशविशेष की भाषा उसकी वाणी में घर कर गई। पर्यटन के सिलसिले में अर्जित अन्य प्रांतों की भाषाओं के बीच धीरे-धीरे स्थलविशेष की भाषा का प्रभाव वढ़ता गया और कुछ दिनों में उस प्रदेशविशेष की भाषा ही उस संत की भाषा वन गई। प्रत्येक संत की भाषा के साथ यही इतिहास छिपा हुआ है। यही कारण है कि कवीर की वोली वनारसी अधिक है (बोली मेरी पूरबी), नानक की पंजावी, दादू की गुजराती और मारवाड़ी। सुन्दरदास पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है और धरनीदास की भोजपुरी तो प्रसिद्ध ही है। इसी तरह प्रत्येक संत की भाषा अपना अलग-अलग महत्त्व रखती है—निजी विशेषता रखती है। नानक की 'जगत पधाणूं पंध सिर गिणवें लेंदा साहि' जैसी पंक्तियाँ दादू की 'सेवग सेवा करि डरै, हम थैं कछु नें होइ' से सर्वथा पृथक् हैं। इसी तरह सुंदरदास के 'कार उहै अविकार रहै नित सार उहै जु असारहिं नाखै' के सामने धरनीदास की भोजपुरी 'जहिया भइल गुरु उपदेश अंग अंग के मिटल कलेस' भी अपनी अलग सत्ता रखती है। संतों की भाषा में तद्भव शब्द प्रचुरता से मिलते हैं। किसी भी कवि की कविताएँ पढ़िए, तत्त, अलख, सूछम, थूल, पुरुख, रिधि, पाँख, सुन्न, कुइयाँ, सोहागिन आदि शब्द अवश्य मिल जायेंगे। इसके अतिरिक्त मुगलकाल की इन रचनाओं में उर्दू शब्द भी अधिक मात्रा में घुस आए हैं। नानक की भाषा देखिये—

मुरसिद मेरा मरहमी जिन मरम बताया।
दिल अंदर दीदार है खोजा तिन्ह पाया ।।

तसबी एक अजूब हैं जा में हरदम दाना।
कुंज किनारे बैठ के फेरा तिन्ह जाना।।
बुल्लेशाह की विशिष्ट मुसलमानी जुबान देखिये—
टुक बूझ कवन छप आया है।
इस नुकते में जो फेर पड़ा तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसद नुकता दूर किया तब ऐनों ऐन कहाया है।।
तुसीं इलम किताब पढ़ देहो के हे उलटा मानें कर दे हो।
बेमूजब ऐवें लड़ दे हो केहा उलटा वेद पढ़ाया है।।

दूलनदास को भी संगति ने उर्दू का कितना कड़वा जाम पिला दिया था, उसे अनुभव कीजिये—

हुआ है मस्त मंसूरा चढ़ा सूली न छोड़ा हक।
पुकारा इश्कबाजों को अहै मरना यही बरहक।।
जो बोलें आशिकाँ यारों हमारे दिल में हैं जी शक।
अहै यह काम सूरों का लगाए पी से अबतक।।
शम्सतबरेज की सीफत जहाँ में जाहिरा अब तक।
निज्जामुद्दीन सुल्ताना सभी मेरे दुनी के धक।।

दादू ने तो उर्दू शब्दों को ही अख्तियार नहीं किया, बल्कि फारसी भाषा में भी कविताएँ लिखीं। ऐसी कविताओं में चेतावनी या उपदेश नहीं है और न समाज-सुधार की ही बातें हैं। इन पदों में गंभीर दर्शन भरे हुए हैं। सूफी दर्शन की कुछ बातों पर विचार करते हुए दादू लिखते हैं—

तफूस गालिब किब्र काबिज गुस्सः मनी ऐश।
दुई दरोग हिर्स हुज्जत नामे नेकी नेस्त।।
हैवान आलिम गुमराह गाफिल अव्वल शरीअत पंद।
हलाल हराम नेकी बदी दर्से दानिश मंद।।

इस क्षेत्र में गरीबदास ने एक नवीन पद्धति का प्रयोग किया है। उन्होंने खुशरु की तरह संस्कृत, फारसी और खड़ी बोली के शब्दों का एक पद में ही गठबंधन किया है, शायद भाषा की मिलावट से दोनों जातियों के हृदय-सम्मिलन को भावना उनके मन में जम गई हो! इस तरह का प्रयोग इनके सिवा इस युग में अन्यत्र देखने में नहीं आता। एक बानगी देखिये—

रब राजिक तू महरमी करतान बिनानी,
अवगत अलख अलाह तू कादिर परवानी,
खालिक मालिक मेहराँ, सरबंगी स्वामी।
निहचल अचल अगाध तू कुखरत से न्यारा,
गंध पुहुप ज्यों रह रहा फूला गुलजारा,
राम रहीम करीम तू कुदरत से न्यारा।

पुरन ब्रह्म परम गुरु अकाल अबिनासी,
शब्द अतीत विहंगमा किस काल उदासी।...
उस साहब महबूब कू कर हरदम मुजरा,
चित से नेक न बीसरूँ दिल अंदर हुजरा।

इन पंक्तियों के तुकों पर ध्यान देने से एक नई बात मालूम होती है। यहाँ दो-दो पंक्तियों के तुक आरंभिक पंक्तियों में नहीं मिलते। पहली और दूसरी तीन पंक्तियाँ एक विशेष तुक-पद्धति पर लिखी गई हैं। इनके बाद मात्राएँ घटा दी जाती हैं और रेखती आरंभ हो जाती है। तीन-तीन पंक्तियों की तुकबद्धता नई चीज है और कवि के प्रयोगशील मस्तिष्क की परिचायिका है। समग्र संत-साहित्य दोहा और पदशैली में ही लिखा गया मिलता है। उपदेश और नीति के सारे अवतरण दोहे में हैं और विनय तथा विरह के अंश पदों में। दार्शनिक चिंतन या तो पदों में किये गये हैं या दोहे-चौपाइयों में। चौपाई का प्रयोग कबीर में काफी मिलता है हालांकि दोहों में नीति और दर्शन की बातें कबीर ने कम नहीं कही हैं। सुन्दरदास ने पदों के अतिरिक्त कवित्त और सवैये में भी रचनाएँ की। काफी पढ़े-लिखे रहने के कारण इन्होंने प्रायः सभी छंदों में लिखने का प्रयत्न किया और सभी दिशाओं में इन्हें सफलता भी मिली। रेखता का प्रचलन इन संतों में खूब था और दादू तथा पलटू ने रेखता में बहुत कुछ कहा। पलटू की कुंडलियाँ भी संत-साहित्य में अलग स्थान रखती हैं। शेष संतों ने जिनमें जगजीवन, पलटू, धरनीदास, चरनदास, धरमदास आदि प्रमुख हैं, भाव और भाषा दोनों क्षेत्रों में कबीर का अनुकरण किया है।

निर्गुण साहित्य में प्रबंधों की अपेक्षा मुक्तकों का बाहुल्य है। भगवान् को अगम-अगोचर मानकर उसका विवरणात्मक वर्णन उपस्थित करना कठिन है। यदि वैसी चेष्टा की गई और जन्म से लेकर मृत्यु तक का लेख-जोखा जीवन की घटनाओं-सहित प्रकट किया गया तो प्रबन्धात्मकता आ जायगी पर ब्रह्म को निर्गुण से सगुण बन जाना पड़ेगा। सूफी संतों को प्रबंध लिखकर ब्रह्म की निर्गुणता को इसी दुर्घटना का शिकार बनाना पड़ा। अरूप के साथ कथावस्तु का संयोग कैसा और इतिवृत्त ही नहीं तो प्रबन्ध काव्य कहाँ? संतों ने मुक्तक को जानकर या बलात् नहीं अपनाया—वे किसी दूसरे विकल्प को अपना ही नहीं सकते थे। यह मुक्तक के दो रूपों में उपलब्ध है; साखी तथा शब्द, अथवा दोहा तथा पद। इन मुक्तकों को पढ़ने पर 'अंगबद्ध' वर्गीकरण की एक खास खूबी दिखलाई पड़ती है। मुक्तक काव्य को महाकाव्यों की तरह सर्गों में बाँटना मुश्किल है और इसी कठिनाई की वजह से साहित्य-शास्त्रों में मुक्तक के प्रसंग में सर्ग की चर्चा नहीं की गई है। संत कवियों के शिष्यों ने सारी 'बानियों' का वर्गीकरण विषय को ध्यान में रखकर किया है और वे सभी वर्ग एक-एक 'अंग' मान लिये गये हैं। यही कारण है कि संत-काव्य के संग्रहों में कर्ता को अंग, गुरु को अंग, नाम को अंग, परचा को अंग, पतिव्रता को अंग, चेतावनी को अंग आदि नानाविध 'अंगों' की सूची मिलती है। इस प्रकार का वर्गीकरण हिंदी के लिए एक नई चीज थी।

कहा जा चुका है, संतों ने सरल भाषा में अपनी बातें कही हैं। कबीर को इस बात का अभिमान है कि 'मसि कागद' बिना छुए ही उन्होंने चारों युगों का माहात्म्य आत्मज्ञान से ही बतला दिया--इस कथन में दंभ की मात्रा कितनी है इस पर विचार नहीं करते हुए हम जब उनकी 'आँखिन देखी' बातों से आगे बढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि कबीर भाषा का सरल पथ छोड़कर रुखड़े मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं। संतों की साम्प्रदायिक बातें सदा गंभीर शैली में मिलती है—दर्शन का रास्ता ही कुछ ऐसा जटिल है कि उस पर पैर रखनेवाला अपने अनुभवों को सीधे शब्दों में व्यक्त कर ही नहीं सकता। एक बात यह भी है कि दर्शन के सिद्धान्त 'आँखिन देखी' की अपेक्षा, 'कागद लेखी' ही ज्यादा हैं, और 'कागद लेखी' के दलदल में नहीं चाहते हुए भी एकबार पड़ जाने पर 'कागदी भाषा' से छुटकारा पाना कठिन है। संभवतः इसीलिए दर्शन की गुत्थियों को सुलझाते समय 'पिंड और ब्रह्मंड' की ध्वनि में संतों को बोलना पड़ा है—यहाँ 'चुनरी' और 'सुहागिन', 'सेजरिया' और 'पइयाँ' जैसे शब्द चल ही नहीं सकते। 'तोता हीरा हेराइल बा कचड़े में' और 'ठगवा नगरिया लूटल हो' कहनेवाला कबीर अद्वैतवादी बनकर कैसी बोली में बातें करता है, सुनिये--

साधो सतगुरु अलख लखाया आप आप दरसाया।
बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसै बिरछा मध्ये छाया।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया॥
ज्यों नभ में सुन्न देखिए सुन्न अंड आकारा।
निह अच्छर में अच्छर तैसे अच्छर छर विस्तारा॥...
अंडाकार सुन्न नभ आपै स्वाँस शबद अरथाया।
निह अच्छर अच्छर छर आपै मनजिव ब्रह्म समाया॥
आतम में परमातम दरसै परमातम में झाँई।
झाँई में परछाँई दरसै लखै कबीरा साँई॥

इसी तरह 'अविगत' जागल हो सजनी' और 'मन अनुरागल हो सखिया' कहनेवाले गुलाल और भीखा भी जब गंभीर क्षणों में प्रवेश करते हैं तो इतने गंभीर बन जाते हैं कि उन्हें सहसा पहचानना मुश्किल हो जाता है। 'हरि नाम न लेहु गँवारा हो' का लोक-गीत गाने वाला वैतालिक जब नीचे लिखा पद गाने लगता है तो हम चौंककर देखने लगते हैं कि कहीं परदे के पीछे से कोई 'घोस्ट-सिंगर' तो नहीं गुनगुना रहा है—

अवधू निर्मल ज्ञान विचारो।
ब्रह्म अरूप अखंडित पूरन चौथे पद सों न्यारा॥
ना वह उपजै ना वह बिनसै ना भरमे चौरासी।
है सतगुरु सतपुरुष अकेला अजर अमर अबिनासी॥

संतकाव्य को, इस तरह, भाषा के प्रयोगों की 'लेबोरेटरी' कह सकते हैं। जन-आंदोलन चलानेवाला नेता सभी तरह के लोगों से सभी तरह की बोली में बोलनेवाला होता है। इन नेताओं की वाणी में लोकगीतकार की आत्मा बैठी हुई है। निरक्षर ग्रामीणों के गीतों में

हृदय का जो स्पंदन, जीवन की जो घुली-मिली अन्तःसारता दिखलाई पड़ती है संतों के गीतों में वही निसूयटता एवं खुरदुखापन लिये सरसता है। यह भाषा शास्त्रीय खराद से अपरिचित एवं ग्रामगीतों के बिल्कुल समानान्तर है और इसमें काव्यगत गुणों की खोज-ढूँढ़ भ्रामक है। इस भाषा को अनेक विद्वानों ने अशक्त एवं निकम्मा कहा है, पर ध्यान से देखने पर संतों की भाषा में भावप्रकटीकरण की जो तीव्रता तथा अपने को स्पष्ट करने की जो शक्ति दिखलाई पड़ती है वह शायद हिंदी-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिल सके। समाज के प्रत्येक अंग पर हथौड़े की चोट देनेवाली की बोली में मेमने-सी कमजोरी होगी, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। शिखंडीधर्मी रीतिकालीन कवियों की तरह कबीर को दरबार में खुशामदी स्वर से पंचशर की महीन बोली में नहीं बोलना था उन्हें अर्जुन की तरह दहाड़ना था, फिर हिचक की कहीं बात ही नहीं थी। जीवन के संघर्षों के बीच से होकर चलनेवाले मस्तों को भक्ति का संबल प्राप्त था जिसकी वजह से वे आँधियों के सामने भी सीना खोल देते थे—ऐसे मर्दों की भाषा में भावप्रकटीकरण की कितनी शक्ति होगी इसका अंदाजा हजारी प्रसाद द्विवेदी की इन पंक्तियों को पढ़कर लगाइए—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्ती अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लचर-सी नजर आती है। इसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।'—ये बातें सिर्फ कबीर पर ही नहीं, सभी संतकवियों पर न्यूनाधिक लागू होती हैं।

इतना कहने का यह आशय नहीं कि संतों ने जान-बूझकर भाषा को सुन्दर और चटकदार बनाने का प्रयत्न किया। इन दीवानों को आदमियों को ठीक करने से फुरसत ही कहाँ मिलती थी कि भाषा को ठीक करने चलते। और, सच पूछिए तो कबीर ने कभी 'कवि न होऊँ, नहिं चतुर कहाऊँ" कहकर नकारात्मक रूप से भी कवि होने का दावा नहीं किया—हमारे हृदय में उनकी कविताओं को पढ़ने के बाद इतना आह्लाद उमड़ता है कि हम उन्हें कवि कहने लगते हैं। कविता करना इनका पेशा नहीं था और न अलंकार के नगीने जड़ना इनका रोजगार। संत साहित्य में काव्य के गुणों या दोषों का जो स्थान-स्थान पर दर्शन होता है, वह अनायास ही हो जाता है। उनके पीछे न तुलसी की प्रतिभा बैठी है, न केशवदास का पांडित्य—वहाँ है सिर्फ एक मस्त हृदय, जो-जो जी में आये बक देता है; उसमें काव्य हो तो भी परवाह नहीं, न हो तो भी चिंता नहीं।

कबीर की कविता के विवेचन में इस बात पर बराबर जोर डाला गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सहजभाव' की ओर उनका उग्ररूपेण झुकाव था और यही दशा उनके सभी अनुयायियों की है। भाषा का 'सहज' रूप भी इसी सिद्धांत के अनुसार उनके मत में ग्रहण किया गया है। इसी 'सहज' उपत्यका में हमें सुन्दर बेल-बूटों के दर्शन कभी-कभी हो जाते हैं। यहाँ भी साहित्य की छटा है। सौंदर्य की देवी यहाँ भी निवास

करती है, कोयल की कूक के साथ मयूर का नर्तन भी है, मेघों का गर्जन भी है—पर, इन सबके पास ही पहाड़ों को काटती हुई 'सहजभाव' से चुपचाप विना शोरगुल किये स्रोतस्विनी की कलकल सुनाई पड़ती है और इस स्रोतस्विनी की चाल को ध्यान से हटा देने पर समूचा वातावरण फीका पड़ने लगता है। संतों ने प्रकृति से चातक, मीन, कुरंग, तुरग आदि उधार माँगा और लोगों को समझाने के लिए प्रकृति के बीच मानवेतर प्राणियों में चलनेवाली साधना की ओर इंगित किया। चातक की निरंतर पुकार सुनकर विरहिणी आत्मा को अधिक उत्साह मिलता है। मीन की प्रीति देखकर प्रेम में दृढ़ता आती है और कुरंग की एकाग्रता साधक को जान लड़ा देने का संदेश देती है। संतोष की उपमाएँ काफी चुस्त हैं—ऐसा लगता है, वे जान-बूझकर अलंकरण के निमित्त बैठाई गई हैं हालाँकि तथ्य विपरीत ही है। नानक के 'जो दीसै सो समझ बिनासै, ज्यों बादर की छाँह' या 'मृगतृष्णा सो जग सपना यह देखो हृदय विचार' में उपमा का सौंदर्य देख कर दादू के 'कालजाल ते काढ़ि करि आतम अंग लगाइ' में रूपक की बहार देखिये। चेतावनी और उपदेश के प्रसंग में उदाहरण अलंकार का इतना अधिक प्रयोग संतकाव्य में हुआ है कि कहा नहीं जा सकता। दार्शनिक चिंतन के समय जल और तरंग या लहर और दरियाव का रूपक सर्वत्र एक समान ही मिलता है। ब्रह्म और जीव के संबंध को व्यक्त करने के लिए पावक और चिनगारी का रूपक कबीर, दादू, पलटू और भीखा में एक ही तरह ग्रहण किया गया है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपक, उदाहरण आदि अलंकारों को छोड़कर जहाँ-तहाँ निम्नलिखित अलंकार भी देखे जा सकते हैं—

यमक—लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

विरोध—घर जारे घर ऊवरे, घर राखे घर जाय।
एक अचंभा देखिया, मुआ काल को खाय।।

दीपक—नवन नवन बहु अंतरा नवन नवन बहु बान।
ये तीनों बहुतै नवै चीता, चोर, कमान।।

श्लेष— माया महा ठगनि हम जानी
निरगुन फाँस लिये कर डोलै बोले मधुरी बानी

दृष्टांत—अपनपौ आपुन ही बिसर्‌यो।
जैसे सोनहा काँच मंदिर में भरमक भूकि मरो।।
जो केहरि वपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिक सिलापर दसननि आनि अरो।।

संतों के रूपक आधुनिक छायावादियों की तरह नहीं हैं। दार्शनिक चिंतन में भी सरल प्रतीकों का सहारा लिया गया है और उलझती बातों को सहज रूप से सामने रखने के लिए इन संतों ने लोकपरिचित उपदानों की सहायता ली है। यही कारण है कि इनकी बानियों में 'स्वान पूँछ ज्यों होय न सूधो कह्यो न कान धरै' तथा 'बारू की भीत जैसे वसुधा को राज है' जैसी चुभती हुई लोकोक्तियाँ मिलती हैं। ब्रह्म

विश्व में व्याप्त है—इस गहन तथ्य को समझाने के लिए नानक ने 'पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माँह जस छाँहि' कहकर लोगों के चिरपरिचित उपमानों द्वारा विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया। कबीर ने नैहर और सासुर के प्रसिद्ध संबंधों का सहारा लेकर ब्रह्म और जीव की सारी कहानी कह दी है। और, वह भी इतनी बारीकी के साथ कि हमें पता नहीं लगता कि हम दर्शन पढ़ रहे हैं या सरस काव्य !

लेकिन, यह सरसता उस समय एक दम दूर हो जाती है जब निर्गुण संत अपने सम्प्रदाय की बातें उटपटांग बोली में बोलता है। इन उलटवासियों के कारण कबीर बहुत बदनाम हैं। कबीर ने कुछ निश्चित प्रतीक अपनाए थे, जैसे भँवरा जीव है, कमल ब्रह्म है, माया सर्पिणी है आदि—ऐसे स्थलों पर पाठक को विशेष कठिनाई नहीं होती। परंतु, जहाँ वे गगनगुफा की बातें कहने लगते हैं वहाँ वे इतने दूर जा पड़ते हैं कि उनकी आवाज समझ में नही आती। असल में उस आनंद को कहा नहीं जा सकता सिर्फ समझा जा सकता है। कबीर ने उस असंवेद्य अनुभूति को व्यक्त करने का साहस किया है, यही कुछ कम नहीं है। हमें इस क्षेत्र में कबीर की पीठ ही ठोंकनी चाहिए क्योंकि उन्होंने उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है जो वाणी से अगोचर है, उसे पकड़ने की चेष्टा की है जो पहुँच के बाहर है; जो देश, काल और बुद्धि की सीमा से अतीत है उसे कुछ शब्दों में बाँधने का प्रयत्न साहसपूर्ण ही माना जाना चाहिए।

इस आनंदलोक की अनुभूतियों को प्रकट करने का जहाँतक प्रश्न है वहाँ तक संध्या भाषा को स्वीकार किया जा सकता है; क्योंकि अलौकिक बातों को अस्पष्ट वाणी में व्यक्त करने के अतिरिक्त दूसरी व्यवस्था करने में हम सर्वथा लाचार हैं। परंतु, जहाँ लौकिक बातें भी उटपटांग वाणी में बोली जाती हैं, ऐसी बातें जिन्हें साफ-साफ सरल-से-सरल भाषा में समझाया जा सकता है—तो, उन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि जैसे उनका रचयिता जान-बूझकर नहीं समझने लायक भाषा में ही बातें करना चाहता है। इसके लिए कबीर का तत्कालीन समाज ही दोषी ठहराया जा सकता है। उन दिनों योगियों के पीछे जनता काफी क्षिप्रता से दौड़ती थी। उनकी अटपटी बोली को नहीं समझने के कारण विषय की गरिमा से आतंकित होकर रहस्य के प्रशंसक बनते जाते थे। उतर नाथपंथियों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की सारी बातें लोकप्रिय पद्धति से उल्टी कहकर व्यक्त किया। गोमांसभक्षण निषिद्ध माना जाता है, पर इन योगियों ने कहा कि इससे बढ़कर पुण्य तो कहीं है ही नहीं—'गो' जीभ को कहते हैं और उसे मोड़कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाकर अमृत की ओर पहुँचा देना ही 'गोमांसभक्षण' है। इनके अनुसार बालविधवा पर बलात्कार करना ही मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि इड़ा, पिंगला के बीच सुषुम्णा नाड़ी में रहनेवाली कुंडलिनी ही विधवा है और उसपर अधिकार प्राप्त करनेवाला ही परमपद का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार योग की सभी बातों को लौकिकदृष्टि से पहेली बनाकर कहने का इन योगियों को अभ्यास हो गया था। आश्चर्य का विषय यह है कि इस घचपच भाषा में बोलने वाले की प्रतिष्ठा घटने की अपेक्षा बढ़ती ही गई—लोग और तेजी से इनकी ओर

आकृष्ट हुए, इनके मठों में मेले लगने लगे। कबीर के समय इन योगियों की रूपात्मक भाषा काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी। जहाँ योगपरक सर्वमान्य रूपकों का व्यवहार इन्होंने किया है, वहाँ तो कठिनाई कम होती है, पर जहाँ जान-बूझकर किसी को चिढ़ाने के लिए अटपटी वोली का व्यवहार मिलता है वहाँ तो बस पहेली का ही मजा आता है और वह भी पहेली ऐसी जिसका हल ही नहीं हो।

कबीर की उलटवासियों में ऐसी उलटवासियों की संख्या ही अधिक है जिनका संकेत स्पष्ट है। 'ऐसो अचरज देखिये कबीर' में कबीर ने यह देखा कि यह विश्व दही (ब्रह्म) के धोखे में पानी (माया) को मथ रहा है। गदहा (कपटी गुरु) हरी-हरी अँगूठी-बेलि (ब्रह्मज्ञान) चर रहा है; वह (अहंभावना से ओतप्रोत होकर) हँसता और रेंकता रहता है। भैंस (माया) मुखरहित बछड़ा (अविद्या) उत्पन्न करती है जो पृथ्वी पर प्रसन्न होकर (जीवों का) भक्षण करता है। भेंड़ (वासना) बकरी के बच्चे (धार्मिक ग्रंथों) का स्तनपान करती है। कबीर एक जगह और भी अजीब बातें कहते हैं। पहले पुत्र (जीव) उत्पन्न हुआ, पीछे उसकी माता (माया) का जन्म हुआ और यह बात बड़ी ही विचित्र है कि गुरु (शब्द) अपने चेला (जीवात्मा) को प्रणाम करता है। कबीर आश्चर्य-चकित होकर देखते हैं कि गाय (वाणी) सिंह (ज्ञान) को चरा रही है। जल (सुषुम्णा) में रहनेवाली मछली (कुंडलिनी) पेड़ (मेरुदंड) पर जाकर बच्चे पैदा करती है और देखते ही देखते (अज्ञानी) को बिल्ली (माया) उठाकर ले भागती है। कबीर एक ऐसा वृक्ष (सुषुम्णा) देखते हैं जिसके नीचे तो पत्ते हैं और ऊपर जड़ है और तारीफ यह कि पेड़ फूलों-फलों (चक्रों और सहस्रदलादि) से परिपूर्ण है। घोड़ा (मन) चरता है और भैंस (तामसी वृत्तियाँ) उसे चराने ले जाती है, बैल (पंचप्राण) तो बाहर ही खड़ा रहता है लेकिन गोति (स्वरूप की सिद्धि) स्वतः भीतर चली जाती है। इतना ही नहीं, कबीर ने यह भी देखा है कि स्त्री (माया) ने अपने स्वामी (देवताओं) को उत्पन्न किया है, पुत्र (अज्ञान) ने अपने पिता (मन) को अनेक खेल खेलाया है और उसे सघन दूध (थोथा ज्ञान) पिलाया है। कबीर ने सच्चे गुरु को (शब्द को) वाण मारते हुए देखा है और यह भी देखा है कि गूँगा (ईश्वरानुभूति में मग्न) तो मूक-वधिर (सांसारिक शब्दों को नहीं सुननेवाला) हो गया है और बहरा (ईश्वरीय संदेश की ओर उपेक्षा दिखलाने वाला) कानसहित (गुरु के उपदेश को सुननेवाला) हो गया, चलनेवाला (तीर्थाटनकर्ता) पंगु (एक ही ब्रह्म में स्थित) हो गया है और पंगु (एक ही स्थान पर स्थिर रहने वाला संत) स्वर्गगामी (विश्वव्याप्त) हो गया। अनेक स्थलों पर कबीर ने जान-बूझकर उलटवासियों में गंभीरता भर दी है। पर उन पंक्तियों के भीतर से किसी की व्यंग्य-मुसकान जरूर दिखलाई पड़ती है—ऐसे अवसर पर पंडितों के ज्ञान की थाह लेने का सुन्दर उपाय कबीर ने अख्तियार किया था। शास्त्रों के आचार्यों को उन्होंने खुलेआम ललकारा था कि यदि सचमुच तुममें साहस हो तो आकर हमारी बात तो पहले समझ लो, पोथी पीछे उलटना। ऐसे प्रसंगों पर शास्त्रज्ञान के ग्रंथों का कबीर ने काफी मजाक उड़ाया

है और गहरी चिकोटी काटी है। पंडित से प्रश्न करते समय कबीर का अक्खड़पन देखिये—

तुम बूझहु पंडित कौन नारि, कोई नाहिं बिग्राइल रह कुमारि।
भेदि सब देवन मिली हरिहिं दीन्ह, तेहि चारिहु जुग हरि संग लीन्ह।
यह प्रथमहिं पद्मिनी रूप पाय, है साँपिनी सब जग खौह खाय।

इसी तरह पलटू भी कहते हैं—

गंगा पाछे को बही मछरी बही पहार।
मछरी वही पहार चूल्ह में फंदा लाया।
पुखरा भीटै बाँधि नीर में आग छिपाया॥
अहिरिन फेंकै जाल कुम्हारिन भैंस चरावै।
तेली के मरिगा बैल बैठ के धुबइन गावै॥
मछूआ में लागा दाख भाँग में भया लुवाना।
साँप के विल के बीच जाय के मूस लुकाना॥

कबीर ने योगपरक रूपकों के अतिरिक्त अन्य रूपकों का भी अधिकता से व्यवहार किया है। प्रायः सभी रूपक हमारे दैनिक जीवन में अनुभव की गई वस्तुओं से ही संबंध रखते हैं। कबीर जब ज्ञान की आँधी बुलाते हैं तो भ्रम की टट्टी उड़ती नजर आती है, बलेंड़ा मोह बन जाता है, छप्पर तृष्णा बन जाता है, भांडा दुर्मति का पर्याय हो जाता है, जल अनुभूति के रूप में दिखलाई पड़ता है, और भानु ईश्वरीय ज्योति के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार आरती की चर्चा करते समय तेल तत्त्व है, बत्ती नाम है, ज्योति आत्मज्ञान है, प्रकाश परमेश्वर की ज्योत्स्ना है, और पंचशब्द अनाहत नाद। कबीर की भाषा में कुम्हार ब्रह्म है, मिट्टी शरीर है, भांडा आदि प्राणमात्र हैं। कबीर के यहाँ चोर के रूप में माया आती है, वह शरीर की कोठी में आत्मारूपी धन को चुराने का प्रयास करती है। शरीर का स्वामी मन है, पाँचों इन्द्रियाँ पाँच चौकीदार हैं। कबीर के काव्य में सुहागिन नारी कभी-कभी माया बन जाती है, जीव उसका खसम हो जाता है, संसार के दूसरे जीव उसके रखवारे बन जाते हैं, प्रेम और वासना के शब्द नूपुर हो जाते हैं और मोहने के नये-नये रूप ही शृंगार की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त वधु-विदा के दृश्य से कबीर बहुत आकृष्ट होते हैं। यहाँ वधू आत्मा है, उसका पीहर संसार है, ब्रह्म उसका प्रियतम है, शरीर डोली है, मृत्यु पाहुन है। कबीर की आत्मा विरहिणी है, ईश्वर प्रियतम है, रात्रि यौवन तथा दिन वृद्धावस्था है। भ्रमर काले बादल हैं, कच्चा घड़ा पार्थिव शरीर है, पानी अवस्था है और काग सांसारिक अभिलाषा है। अन्यत्र, कबीर के लिए सास माया है, ससुर गुरु हैं, जेठ दुर्जन हैं, सहेलियाँ कर्मेन्द्रियाँ है, ननद ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, देवर साधु पुरुष है, बाप अहंकार है, बड़ा भाई सहज है, प्रियतम ईश्वर है, स्त्री आत्मा है, सेज शरीर है।

मानसिक स्वास्थ्य और गीता❀

प्रो० श्री कन्हैयालाल सहल, एम्० ए०

'मानसिक स्वास्थ्य' का आन्दोलन बहुत पुराना नहीं है। आज से करीब ४५ वर्ष पहले सन् १९०८ में क्लिफर्ड डवल्यूब्वीयर्स ने इस आन्दोलन को गति देने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। वीयर्स स्वयं न तो कोई मनोवैज्ञानिक था और न कोई मानसिक चिकित्सक ही। वह स्वयं मानसिक गत्यवरोध का शिकार था। उसने अपने अनुभवों को एक प्रभावशाली ग्रन्थ में व्यक्त किया है जिसका नाम है A mind that found itself। मानसिक रोगियों का जिस ढंग से इलाज होता था उससे बीयर्स संतुष्ट नहीं था। उसकी प्रबल इच्छा यह होती थी कि इस प्रकार की चिकित्सा में रोगियों के साथ बड़ी सहानुभूति बरती जाय। उसने विलियम जेम्स जैसे मनोवैज्ञानिक तथा एडाल्फ मेयर जैसे मानसिक चिकित्सक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मेयर ने ही इस प्रकार के आन्दोलन के लिए 'मानसिक स्वास्थ्य' इस शब्द का नाम सुझाया था। कोई भी मानसिक विकृति का शिकार होता तो उस समय लोग यही समझते थे कि इस पर भूत-प्रेत का असर है। 'मानसिक स्वास्थ्य' का वैज्ञानिक अध्ययन करने वालों ने सबसे पहले जनता को इस विषय में शिक्षित करना प्रारम्भ किया कि मानसिक विकार भी अन्य विकारों की तरह ही हैं। बीयर्स के प्रयत्नों में अन्य वहुत से उत्साही लोग शामिल हो गये और ६ मई सन् १९०८ को 'मानसिक स्वास्थ्य' के सम्वन्ध में पहली सभा की स्थापना हुई जो आगे चलकर उस राष्ट्रीय समिति का अंग बन गई जिसकी स्थापना सन् १९०९ में हुई। दस वर्ष बाद मानसिक स्वास्थ्य के संवन्ध में एक अंतर-राष्ट्रीय कमेटी का निर्माण हुआ जिसके कारण इस आन्दोलन को अन्तर-राष्ट्रीय रूप प्राप्त हुआ। सन् १९३० में जब मानसिक स्वास्थ्य के संबन्ध में वाशिंगटन में पहली अंतर-राष्ट्रीय काँगरेस हुई तो ५३ देशों के प्रतिनिधियों ने उसमें भाग लिया था। इससे स्पष्ट है कि बीयर्स ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, केवल दो दशाब्दियों के थोड़े से समय में ही विश्व का प्रत्येक देश किसी न किसी रूप में इस आंदोलन से अभिरुचि रखने लगा।

मानसिक स्वास्थ्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। शारीरिक कष्ट, मानसिक वेदनाएँ, घोर दारिद्र्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का संघर्ष, सामाजिक अपमान, ईर्ष्या-द्वेष, धार्मिक द्वन्द्व, प्रेमियों का वैषम्य, सभी का संबन्ध इस विषय से है। इसलिए प्रारम्भ में ही यह समझ लेना आवश्यक है कि यह विषय केवल चिकित्सकों से ही संबन्ध नहीं रखता, इसका संबन्ध मानव मात्र से है। क्या कॉलेज, क्या स्कूल, क्या घर, क्या मंदिर, क्या मसजिद,

❀ बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी की 'दर्शन परिषद्' में दिये गये लेखक के एक भाषण का सारांश।

क्या न्यायालय, क्या कार्यालय, उन सभी संस्थाओं से इसका संबन्ध है जो मनुष्य के आचार-विचार किंवा उसके बर्ताव-व्यवहार को किसी भी कदर प्रभावित करती हैं।

'मानसिक स्वास्थ्य' की परिभाषा देना भी एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है, किन्तु यदि इसकी परिभाषा देनी ही पड़े तो उसके पहले रवि बाबू की एक प्रार्थना की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जिसमें कहा गया है कि "हे भगवन्! दुःखों से मेरी रक्षा करो, यह प्रार्थना मैं नहीं करना चाहता। दुःख आवें, विपत्तियों के पहाड़ टूटें, उन सबका मैं स्वागत करता हूँ; किंतु मैं तो केवल यह चाहता हूँ कि विपत्तियों के सामने मैं कन्धा न डाल दूँ; हे भगवन्! मैं आपसे केवल यही माँगता हूँ कि आप मुझे ऐसी शक्ति दें जिससे मैं विपत्तियों से लोहा ले सकूँ।" गीताकार ने इसी भावना को सूत्रबद्ध करते हुए लिखा है 'नात्मानमवसादयेत्' अर्थात् कोई भी अपने आपको अवसाद के वशीभूत न होने दे।

मानसिक स्वास्थ्य वस्तुतः एक ऐसी अदम्य मनोवृत्ति है जिसका आश्रय लेकर हम आनन्दपूर्ण उत्साह की उमंग के साथ कठिनाइयों से जूझते हैं और जीवन के प्रति एक आशापूर्ण दृष्टिकोण बनाये रहते हैं। इस वृत्ति के कारण ही हमें अपने काम में रस आता है, हम लगन के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करते चले जाते हैं और विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी हम जीवन का दाँव नहीं हारते; उसे जीतने के लिए हम मृत्यु तक का वरण कर लेते हैं। सच तो यह है कि जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है, उसे जीने में आनन्द का अनुभव होता है। केवल कुछ नियमों अथवा सूत्रों को कण्ठाग्र कर लेने से मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं किया जा सकता, मानसिक स्वास्थ्य का संबन्ध जीवन के क्रिया-कलापों से है। मानसिक दृष्टि से कोई व्यक्ति स्वस्थ है अथवा नहीं, इस बात का पता तभी चलता है जब हम उसे जीवन के विविध क्षेत्रों में काम करते हुए देखते हैं।

अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से गीता की व्याख्या की है। किन्तु गीता के पहले अध्याय से ही स्पष्ट है कि अर्जुन अपना मानसिक स्वास्थ्य खो बैठा था। इस अध्याय का नाम भी 'अर्जुन-विषादयोग' रखा गया है जो बहुत ही उपयुक्त है। अपने संबन्धियों को युद्ध-क्षेत्र में एकत्र देखकर अर्जुन के अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये; मुँह सूख गया, शरीर काँपने लगा और रोयें खड़े हो गये; गाण्डीव हाथ से छूटने लगा, बदन में आग-सी लग गई, खड़ा रहना तक उसके लिए दूभर हो गया; उसका दिमाग चक्कर खाने लगा। अर्जुन ने स्पष्ट स्वीकार किया—'भ्रमतीव च मे मनः।' उसके जीवन का रस जाता रहा। उसने कहा—'अपने सगे-संबन्धियों को मार कर मैं विजय नहीं चाहता। न मुझे राज्य चाहिए, न सुख। हे गोविन्द! मुझे राज्य और भोग से क्या काम? अथवा जीने से ही मुझे क्या लाभ?' इतना कह कर अर्जुन ने धनुष-बाण डाल दिया और अपने मन को शोक में डुबोये हुए रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया।

यहाँ पर यह प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जिस अर्जुन ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी, युद्ध के समय उसका मन विचिलित क्यों हो उठा? स्पष्ट है कि

किसी भी प्रकार के भयंकर युद्ध से अर्जुन विचलित नहीं हो सकता था; उसके विचलित होने का कारण था उसका मानसिक संघर्ष और उसकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता। कृष्ण ने उसे आड़े हाथों लेते हुए कहा था कि हे अर्जुन! तुझे यह हृदय-दौर्बल्य शोभा नहीं देता, इस विषम घड़ी में तुझे यह मोह कहाँ से पैदा हो गया? अर्जुन ने उत्तर देते हुए कहा कि कार्पण्यदोष से मेरी वृत्ति मारी गई है, मैं कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पा रहा। जान पड़ता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय न कर सकने पर भी मानसिक स्वास्थ्य जाता रहता है; 'धर्मसंमूढ़चित्तता' एक प्रकार के मानसिक शैथिल्य की अवस्था है और मानसिक स्वास्थ्य के लिए दृढ़तापूर्वक स्थित रहने की आवश्यकता है। गीता के अंतिम अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन से पूछा—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः॥

अर्थात्, हे अर्जुन! यह तूने एकाग्रचित्त से सुना? हे धनंजय! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था, वह क्या नष्ट हो गया? उत्तर में अर्जुन ने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत!
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

अर्थात्, हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे समझ आ गई है, शंका का समाधान हो जाने से मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ, आपका कहा करूँगा। उक्त श्लोक में 'स्थितोऽस्मि' पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। 'स्थितोऽस्मि' निश्चय ही 'स्वस्थ हो गया हूँ' का पर्याय जान पड़ता है।

इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार दोनों से स्पष्ट है कि गीता में मानसिक स्वास्थ्य की समस्या का समाधान किया गया है। गीताकार के शब्दों में यदि हम 'मानसिक-स्वास्थ्य' का स्वरूप निर्धारित करना चाहें तो वह कुछ इस प्रकार का होगा—

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।"

× × ×

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते सदा॥

अर्थात् साम्य में जिनका मन स्थित है, उन्होंने यहीं इस संसार पर विजय प्राप्त कर ली। जिस साम्य को प्राप्त कर लेने पर साधक और किसी भी लाभ को अपेक्षया बड़ा लाभ नहीं मानता; इस प्रकार के साम्य में स्थित होने पर भारी-से-भारी दुःख आ पड़ने पर भी वह विचलित नहीं होता। वस्तुतः योग की स्थिति वही है जब भली-भाँति नियमबद्ध मन अपने में स्थिर होता है और समस्त कामनाओं के प्रति निःस्पृह हो जाता है।

बुद्धि की अस्थिरता से मानसिक स्वास्थ्य जाता रहता है। संभवतः इसीलिए गीता में बार-बार स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, समबुद्धि आदि का विशद विवेचन किया गया है।

गीता में बुद्धि का जिस प्रकार विवेचन हुआ है, उसको लेकर हम बुद्धि के तीन रूप स्थिर कर सकते हैं--(१) विवेक (२) एकाग्रता या भक्ति और (३) दृढ़ संकल्प; जो बुद्धि सत् और असत् में विवेक स्थापित करती है वह ज्ञान की ओर ले जाती है। जो बुद्धि एक ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित रखती है, वह भक्ति की ओर उन्मुख है। गीता में जहाँ, 'मयि बुद्धिं निवेशय' कहा गया है, वहाँ बुद्धि एकाग्रता या भक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन' कह कर गीताकार ने बुद्धि के उस रूप का विवेचन किया है जिसका संबंध दृढ़ संकल्प अथवा निश्चय से है। बुद्धि के इन तीनों रूपों को गीताकार ने क्रमशः ज्ञान, भक्ति और कर्म के नाम से अभिहित किया है।

सब मनुष्यों में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समान विकास देखने को नहीं मिलता। इन तीनों में वैषम्य होने पर मानसिक सन्तुलन जाता रहता है जिसके कारण हम पद-पद पर ठोकर खाते हैं और हमारा जीवन दुःखमय बन जाता है। जिस निष्काम कर्म अथवा अनासक्तियोग का सिद्धांत गीता नें प्रतिपादित किया गया है वह ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय से ही जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है।

गीता में सिद्धि और असिद्धि के समत्व अथवा कर्म-कौशल को योग की संज्ञा दी गई है। किंतु गीता में जिसे योगी कहा गया है, वह व्यक्ति आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में संश्लिष्ट व्यक्तित्व (Integrated personality) का ही चित्र उपस्थित करता है। योगी को प्रशस्य ठहराते हुए गीताकार कहते हैं--

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

यहाँ जिस योगी की प्रशंसा की गई है उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय मिलता है।

गीता में किसी प्रकार के अतिवाद का समर्थन नहीं किया गया है। अत्यन्त भोजन करना, कुछ न खाना, खूब सोना और खूब जगना ये सब योग-सिद्धि में बाधक समझे गये हैं। गीता में युक्ताहार विहार को ही योगी के लिए वांछनीय ठहराया गया है। उदाहरणार्थ--

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

कर्मेन्द्रियों को वश में कर मन से विषयों का चिन्तन करते रहना गीताकार की दृष्टि में पाखण्ड है। वांछनीय यह है कि मन के द्वारा इन्द्रियों का नियमन कर कर्मयोग की सिद्धि की जाय।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के लिए सन्तुलन, साम्य, समत्व, आनुरूप्य आदि को आवश्यक समझता है। गीता में ये सब भाव रत्नों की भाँति बिखरे पड़े हैं।

प्रारम्भ में कहा गया है कि मानसिक स्वास्थ्य जीवन के प्रति आशापूर्ण दृष्टिकोण बनाये रखने से प्राप्त होता है। अदम्य आशापूर्ण मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप किस प्रकार रुग्ण शरीरवाला व्यक्ति भी मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है यह श्री मशरूवाला जी के निम्नलिखित गद्य-काव्य से स्पष्ट है।

दुःख ! तू है कहाँ ?

श्वास-पीड़ित के श्वास में, मलेरिया के बुखार में, शीतजन्य खाँसी में, इन्फ्लुएंजा में अथवा न्युमोनिया में मैंने तुझे नहीं देखा।

दुःख तू है कहाँ ?

ऋणी की दरिद्रता में, गरीब की झोपड़ी में, धनिक की चिंता में मैंने तुझे नहीं देखा।

दुःख ! तू है कहाँ ?

जाड़ों की ठंड में, गर्मियों की धूप में या वर्षा के झल्लों में मैंने तुझे नहीं देखा।

दुःख ! तू है कहाँ ?

मित्रों के क्लेश में, पत्नी के रोष में, शत्रुओं के द्वेष में मैंने तुझे नहीं देखा।

× × ×

दुःख ने उत्तर दिया—"मैं तो सर्वत्र हूँ। परन्तु भाई मेरे, हृदय की गहराई के जिस किले में छिप कर तू बोल रहा है, वहाँ मैं तुझे छू नहीं सकता!"

"तो ठीक है; मैं उस किले से बाहर ही नहीं निकलूँगा!"

इस गद्य-काव्य में जितनी पीड़ाओं और मुसीबतों का उल्लेख है वे सब मशरूवाला जी पर बीत चुकी थीं। बीमारी ने तो अंत तक उनका पीछा नहीं छोड़ा। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी जीवन के प्रति जो आशापूर्ण दृष्टिकोण उन्होंने बनाये रखा, वह निश्चय ही उनके मानसिक स्वास्थ्य का पारिचायक था।

जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है, वह प्रसन्नता को अपने हाथ से नहीं जाने देता। इसे ही गीताकार ने प्रसाद के नाम से अभिहित किया है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

बुद्धि के विचलित होने से मानसिक स्वास्थ्य दूषित होता है और बुद्धि विचलित तभी होती है जब मनुष्य प्रसन्नचित्त रहना बंद कर देता है। इसलिए, मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने में मानसिक प्रसन्नता की आदत डाले।

मानसिक स्वास्थ्य अकस्मात् प्राप्त नहीं हो जाता। मन तो सभी को मिला है, किन्तु मन-मन में भी कितना अन्तर है! कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो विपत्तियों से भयभीत नहीं होते, प्रलोभन जिन्हें वशीभूत नहीं कर पाते और मृत्यु भी जिनके मानसिक समत्व पर आघात नहीं कर पाती। इसके विरुद्ध असंख्य जन ऐसे हैं जो बात की बात में घबड़ा जाते हैं और मृत्यु के पहले ही न जाने कितनी बार मर चुकते हैं!

व्याधि से आधि भंयकर होती है। शारीरिक पीड़ा के कारण लोग आत्म-हत्या करते नहीं देखे जाते और मानसिक व्यथाओं के कारण आत्म-हत्या करने वालों की कमी नहीं। इससे जान पड़ता है कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा भी मानसिक स्वास्थ्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—सच तो शायद यह है कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य दोनों का अभिन्न संबन्ध है।

इस अपूर्ण संसार में शायद ही कोई ऐसा मनुष्य मिलता हो जिसका मन पूर्णतः स्वस्थ हो। जूलियस सीजर एक क्लेओपेट्रा के प्रेम में अपने साम्राज्य को भूल गया था। बादशाह डेविड के लिए प्रसिद्ध है कि वह कभी तो उदार बन जाता और कभी निर्दय; और कभी धर्मात्मा और कभी पापात्मा। कभी तो ईश्वरोपासना में तल्लीन हो जाता और कभी पाप-कर्म में प्रवृत्त हो जाता। कुछ समय बाद फिर पश्चाताप की कविताएँ लिखता और ध्यान-मग्न हो जाता। बादशाह सोलन तो ज्ञान का अवतार माना जाता है किन्तु वह अपने पुत्र के लिए कुछ नहीं कर सका। कन्फ्यूसियस से एक बार कोई सज्जन मिलने के लिए आये। दार्शनिक ने किसी से कहलवा दिया कि वह घर पर नहीं है; किन्तु आगन्तुक सज्जन ज्यों ही जाने को हुए, ऊपर के कमरे में बैठे हुए कन्फ्यूसियस ने गाना शुरू कर दिया। जिससे उक्त सज्जन को पता लग जाय कि दार्शनिक घर पर ही है। मिल्टन के लिए तो प्रसिद्ध ही है कि जब अपनी १७ वर्षीया पत्नी से उनकी नहीं पट सकी तो आपने तलाक पर एक पुस्तक ही लिख डाली। लोगों ने जब इसका विरोध किया तो कवि ने वाक्-स्वातंत्र्य का जोरों से समर्थन करना शुरू कर दिया। चीन के सबसे बड़े कवि Tuo Yinuming के लिए कहा जाता है कि वे मदिरा के बड़े शौकीन थे। वे एकांत-सेवी थे और दर्शकों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे। किन्तु जहाँ शराब देख लेते, वहाँ बिना बुलाये ही पहुँच जाते थे। इस बात की भी उन्हें परवाह न थी कि मेजबान से उनका कोई परिचय है या नहीं। आप स्वयं कभी मेहमानों को निमंत्रित करते तो सबसे पहले पीने बैठ जाते थे और पी चुकने पर कहा करते—"मैं तो मदिरा-पान कर चुका और निद्रादेवी के वशीभूत हो रहा हूँ; अब आपलोग अपने-अपने घर जा सकते हैं।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि योगी व्यक्तित्व के पुरुष (Integrated personality) संसार में बहुत दुर्लभ हैं।

मानसिक स्वास्थ्य से संबन्ध रखने वाले बहुत से उपयोगी सूत्र गीता में मिल जाते हैं। इस दृष्टि से भी गीता का अध्ययन किया जाना चाहिए।

शाश्वत धर्मप्रश्नोत्तरावली

स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, एम्० ए०

[शाश्वत धर्मप्रश्नोत्तरावली के १५ से पूर्व तक का अंक 'साहित्य' में पहले छप चुका है। शेषांश पूर्वरूप में इस अंक म मुद्रित किया जा रहा है।—सं०]

१५. प्र०—संसार का आदि-अन्त है या नहीं ?

उ०—संसार अनादि और अनन्त है।

१६. प्र०—भेद सत्य है या असत्य ?

उ०—ईश्वर एक है पर उसके भीतर अनन्त विचित्र और सत्य भेद हैं।

१७. प्र०—सत्य किसे कहते हैं ?

उ०—जो कुछ है सो सत्य है; चाहे वह क्षण भर के लिए हो या अनन्त कल्प के लिए। जो क्षण भर के लिए भी न हो और जिसका होना केवल भ्रम से ही मालूम हो सकता है उसे असत्य कहते हैं। जैसे—बाँझ का बेटा, सर्वज्ञ मनुष्य, खड़ाऊँ पर उड़ने वाला पुरुष, मद्य का समुद्र, नदी में से निकाला हुआ घी भवत के रूप में राम, भूत-प्रेत, पिशाच आदि, मन्त्र से बन्धन, बीमारी आदि छूटना या रुपया आदि मँगवाना, भारत से विना तार के अमेरिका आदि की बात जानना इत्यादि।

१८. प्र०—अवतार किसे कहते हैं ? क्या अवतार का शरीर अविनाशी और बुद्धि सर्वज्ञ है ?

उ०—जो कुछ है, वह सब परमेश्वर है। विस्तृत अर्थ में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो अवतार नहीं हो। संकुचित अर्थ में, अवतार उस पुरुष को कहते हैं जो ठीक-ठीक विचार करने की शक्ति रखता हो, शारीरिक बल में अधिक हो तथा आचरण में शुद्ध हो, इत्यादि। किसी का शरीर अनादि नहीं है और किसी का मन या आत्मा सर्वज्ञ नहीं है।

१९. प्र०—इस समय कौन युग है ?

उ०—साधारणतः सभ्य लोगों के लिए आजकल त्रेतायुग है, क्योंकि मनुष्यों में आधे से अधिक उन्नति और समृद्धि प्राप्त कर रहे हैं। मनु के अनुसार कलि १२०० वर्ष तक रहता है और द्वापर, त्रेता और सत्ययुग का प्रमाण क्रम से उससे दुगुना, तिगुना और चौगुना होता है। दिव्य वर्ष अथवा ध्रुवीय वर्ष और मनुष्य वर्ष दोनों एक ही हैं, क्योंकि एक वर्ष दो अयनों का होता है (उत्तरायण और दक्षिणायन)। दिनों की संख्या प्रधान नहीं है। अतीत कलियुग के के प्रारंभ काल से आजतक ५०११ वर्ष व्यतीत हुए। यदि कलियुग के बाद झट सत्ययुग आता हो तो आज सत्ययुग का चौथा चरण है। ५०११ वर्षों में से केवल १२०० वर्ष कलियुग के हुए। परन्तु ऐसा कहना अधिक उचित

होगा कि कलियुग के १२०० वर्ष बीतने पर द्वापर २४०० वर्ष तक रहा और त्रेता का प्रारंभ हुए आज १४०० वर्ष हो गए। इस तरह आजकल त्रेता का द्वितीय चरण बीत रहा है। एक नाम के सभी युगों में अवतार नहीं होते। जो व्यक्ति किसी एक त्रेता युग में उत्पन्न हो चुका है वह फिर कभी अवतार नहीं ले सकता।

२०. प्र०—देवता किसे कहते हैं? असुर किसे कहते हैं? सबसे बड़ा देवता कौन है? सबसे दुष्ट असुर कौन है?

उ०—जो कुछ महान् और प्रशंसनीय हो वही दिव्य कहा जाता है और जो कुछ घृणित हो वही आसुरी कहा जाता है। सत्य या परमार्थ ही सबसे बड़ा देवता है और बेठिकानी बातें अथवा पाखण्ड सबसे दुष्ट असुर है।

२१. प्र०—कैसे मनुष्यों में, शाश्वत धर्मवाले लोग, देवता का भाव रखते हैं?

उ०—स्त्री के लिए उसका पति, विद्यार्थी के लिए उसका गुरु और लड़के के लिए उसका माँ-बाप, यही हमारे धर्म में देवता समझे जाते हैं।

२२. प्र०—स्वर्ग किसे कहते हैं और नरक किसे कहते हैं?

उ०—पाखण्ड, बेठिकानी बातों में विश्वास, और तज्जन्य दुःखादिकों का नाम नरक है। इनसे मुक्त होने को और तज्जन्य आनन्द को स्वर्ग कहते हैं।

२३, प्र०—देवदेव कौन है और उसकी आराधना कैसी होती है?

उ०—सर्वात्मा सबसे बड़ा देवता है और विवेक या संसार की सर्वाङ्गीण उन्नति की यथाशक्ति चेष्टा तथा व्याहत बातों में शक्ति को नष्ट करने से दूर रहना ही उसकी सेवा है। पाखण्ड और व्याहत परीक्षा उसका तिरस्कार है और इससे बड़ा कोई पाप नहीं है।

२४. प्र०—ऋषि किसे कहते हैं?

उ०—जो कोई अपने ही बल से किसी विचार अथवा किसी कार्य के विषय में, जहाँ तक उसे शिक्षा मिली हो उससे आगे, उन्नति करता चला जाय, उसी को, साधारण अर्थ में, ऋषि कहते हैं। प्राचीन भारत के ऐसे लोग, जिन्होंने प्राचीन धर्मों के मुख्य तत्त्वों का पता लगाया था, विशेष अर्थ में ऋषि कहलाते हैं।

२५. प्र०—मन्त्र किसे कहते हैं और उसका क्या उपयोग है?

उ०—साधारण भाषा में या संक्षिप्त रूप से संकेतित अक्षरों में जो वाक्य किसी नवीन आविष्कृत बात का वर्णन करते हैं उन्हें मन्त्र कहते हैं। यह मन्त्र उस बात का केवल स्मरण दिलाता है। इसके शब्द या इसकी आवाज दूसरे शब्द या आवाजों से किसी प्रकार अधिक शक्ति नहीं रखती।

२६. प्र०—योग और समाधि किसे कहते हैं? योग और समाधि का क्या काम है? सिद्धि और विभूति किसे कहते हैं।

उ०—चित्त लगाना योग है, समाधि मन को एकाग्र करने को अथवा ध्यान के विषय पर यथासंभव अत्यन्त एकाग्रचित्त होने को कहते हैं। जो ध्यान देने

से हो सके वही इनके द्वारा सम्पादित हो सकता है। जैसे—ध्यान देकर पढ़ना या ध्यानपूर्वक कार्य में लगना, विना मन लगाये काम से अधिक लाभदायक है। उद्योगी, उचित विचार वाले, पूर्णरूप से ध्यान देनेवाले, काम में लगे रहनेवाले तथा अन्य उपयोगी गुणों वाले लोग, जिन शिल्पकला तथा विज्ञानसंबंधी कार्यों को कर डालते हैं, वे ही सिद्धि या विभूति कहे जाते हैं।

२७. प्र०——कोई वस्तु निर्गुण या निराकार है या नहीं?

उ०——रूप और गुण से रहित कुछ भी नहीं है। भूख, सुख आदि या लालिमा आदि गुण भी अपने गुणियों से, मन ही में पृथक् किये जाते हैं, जिन्हें और पदार्थों की तरह हीं रूप और गुण हैं।

२८. प्र०——चेतन किसे कहते हैं और अचेतन किसे कहते हैं?

उ०——जो बहुतेरे उपायों में से एक चुन लेता है वह चेतन है और जिसे केवल एक ही निर्दिष्ट साधन है, वह अचेतन है। एक सुई, जो लौह-चुम्बक के पास सदा एक ही गणित-निर्दिष्ट रेखा से होकर पहुँच जाती है, अचेतन है। परन्तु एक चींटी, जो चीनी के पास पहुँचने के लिए अपनी राह को अवसर के हिसाब से बदलती है, चेतन है।

२९. प्र०——दैव किसे कहते हैं? पौरुष किसे कहते हैं? पुरुषार्थ किसे कहते हैं?

उ०——जो सम्पूर्ण अतीत है तथा जो एक व्यक्ति के अधिकार से बाहर है उसे भाग्य कहते हैं। जो उसके अधिकार में है वह पौरुष है। इन दोनों के सम्बन्ध के फल को दैव कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम के साधन की चेष्टा करनी चाहिए। इनके ही उचित अनुसरण, जिसमें सर्वात्मिक सेवा भी होती रहे, मोक्ष कहते हैं।

३०. प्र०——ईश्वर संसार का सर्जन करने वाला, शासन करने वाला या कारण कहा जा सकता है या नहीं?

उ०——सृष्टि करनेवाला और सृष्ट, शासन करनेवाला और शासित, कारण और कार्य–इनसे द्वैत झलकता है। अतः अद्वैत दिव्य सत्ता के संबंध में इनका उपयोग नहीं किया जा सकता।

३१. प्र०——मृत्यु किसे कहते हैं? क्या सुख-दुःख से रहित कोई हो सकता है?

उ०——प्राणशक्ति के बिगड़ जाने के कारण जीवन के लोप को मृत्यु कहते हैं। कोई भी सुख-दुःख से वस्तुतः मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु सुख-दुःख के सहने की शक्ति व्यक्तिविशेष तथा अवस्था पर निर्भर है।

३२. प्र०——शरीर के मरने पर आत्मा क्या हो जाता है?

उ०——जैसे घड़ी के पुर्जों के बिगड़ जाने से घड़ी के कार्य का लोप हो जाता है; वैसे ही जीवात्मा, जो शरीर का एक कार्यमात्र है, मृत्यु के साथ ही

लुप्त हो जाता है। प्रत्येक समुदाय[1] (Combination) अपने कार्य-विशेष के साथ नाशवान् है। समुदाय होने के कारण जीव में कोई नाशरहित अंश नहीं है। केवल सर्वात्मा ही नाशरहित है।

३३. प्र०—जन्म के पहले या मरने के बाद आत्मा का जीवन है या नहीं?

उ०—एक व्यक्ति-समुदाय (Individual Combination) का शक्ति-विशेष होने के कारण जीवात्मा समुदाय के आरंभ के पहले अथवा उसके नाश के बाद, नहीं रह सकता। आत्मा और समुदाय एक ही साथ रहनेवाले हैं।

३४. प्र०—संन्यास से या क्लेश से कुछ फल है या नहीं? तप किसे कहते हैं?

उ०—संन्यास अथवा शरीर को कष्ट देना सर्वथा व्यर्थ है। संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना और सत्यप्रियता तथा सत्य को कठोरता के साथ कार्यरूप प्रदान करना ही सच्चा तप है।

३५. प्र०—पारमार्थिक ज्ञान किसे कहते हैं?

उ०—जीवात्मा सर्वात्मा का एक अंश है, ऐसा समझने को पारमार्थिक ज्ञान कहते हैं।

३६. प्र०—धर्म का क्या मूल है और धर्म का शत्रु क्या है?

उ०—अभेद में भेद का ज्ञान और फलतः प्रत्येक व्यक्ति के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना तथा सत्यप्रियता—ये ही धर्म के मूल हैं। चाहे भेद हो या अभेद, इनमें से किसी एक की भी अवज्ञा करने का अर्थ है व्याहत बातों के प्रति अनुराग। यही सभी अधर्मों का मूल है तथा धर्म का विरोधी है।

३७. प्र०—शाश्वत धर्म के अनुसार कौन-से गुण मुख्यतया मनुष्य के लिए अनुसरणीय हैं?

उ०—धैर्य, क्षमा, मन को रोकना, चोरी न करना, शुद्ध रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या और सत्य का अर्जन करना तथा क्रोध न करना, ये ही शाश्वत धर्म के अनुसार धर्म के मुख्य लक्षण हैं। मनु ने भी कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

३८. प्र०—विचाररूप और कर्त्तव्यरूप धर्म के मूल तत्त्व कौन-से हैं?

उ०—श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्॥

विचाररूप धर्म का मूल सत्य है और कर्त्तव्यरूप धर्म का मूल यह है कि जो अपने को बुरा लगे उसे दूसरे के प्रति नहीं करे।

३९. प्र०—किन बातों से धर्म केवल खेल और नाममात्र का हो जाता है?

---

१. समुदाय शब्द लेखक के द्वारा Combination के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चूँकि 'समुदाय' हिन्दी में अन्य अर्थ में रूढ़ हो गया है, इसलिए अँगरेजी का वह प्रतिशब्द दे दिया गया है जिसका प्रयोग स्वयं लेखक ने ही किया है।—सं०

उ०—सब कुछ जन्तु के आकार का समझना, शब्द-व्यवहार के अनुसार वस्तु की कल्पना करना, संसार को मायामय समझना, ये तीन प्रकार के उन्माद धर्म को केवल तमाशा और नाममात्र का बना देते हैं।

४०. प्र०—कहानी (पुराण) किसे कहते हैं ?

उ०—प्रकृति की वे बातें, जिनका जन्तुओं के दृष्टान्त द्वारा अथवा अलंकार रूप से वर्णन किया जाता है, कहानी (पुराण) हैं।

४१. प्र०—आध्यात्मिकता किसे कहते हैं ?

उ०—केवल सत्य में प्रीति और उसका अनुसंधान तथा सभी प्रकार के झूठ से पक्की घृणा—विशेष कर पाखण्ड (अर्थात् पवित्र नाम में जो झूठी बात हो) से—सच्ची आध्यात्मिकता है।

४२. प्र०—नास्तिक्य किसे कहते हैं ? आस्तिक्य किसे कहते हैं ?

उ०—जो नहीं है उसे है, जानकर पूजना नास्तिक्य है, जैसे—पिशाच-पूजा, परोक्ष-दृष्टि में विश्वास आदि। और, जो नहीं है उसका पक्का निराकरण तथा जो है उसमें अटल भक्ति आस्तिक्य है।

४३. प्र०—स्त्री की स्थिति और शिक्षा, विधवा-विवाह और समुद्रयात्रा पर शाश्वत धर्म का क्या विचार है ?

उ०—शाश्वत धर्म के अनुसार स्त्री-पुरुष समान रूप से स्वतंत्र हैं। परन्तु, जहाँ तक हो सके, स्त्री अपनी ही स्वतंत्र इच्छा से अपने रक्षक (पिता, पति, पुत्र इत्यादि) के साथ रहे। सयानी स्त्री को अपने अधीन रखने का अधिकार किसी को नहीं है—जैसे किसी सयाने पुरुष को अपने अधीन रखने का किसी को अधिकार नहीं है। कानूनी बातों में सरकार ही पुरुष या स्त्री को अपने वश में रख सकती है। स्त्री को सभी प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है। विधवा यदि चाहे तो पति कर सकती है और कोई भी इस काम से उसे नहीं रोक सकता। इस विषय में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि स्त्री या पुरुष के युवावस्था प्राप्त होने के पहले विवाह संस्कार विवाह नहीं है और युवावस्था प्राप्त होने के पहले मैथुन अपराध है। पुरुषत्व या स्त्रीत्व के ह्रास के बाद विवाह करना भी अपराध है। विदेशयात्रा के विषय में, कोई भी क्यों न हो, जैसे अपने देश में रहता ही वैसे ही रहे, तो पृथ्वी के दूर से दूर के कोने तक जा सकता है।

४४. प्र०—भारतीयों के ह्रास के क्या कारण हैं ? क्या शाश्वत धर्म यह मानता है कि विदेशियों के शासन के परिणामस्वरूप किसी देश की भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पहुँचती है ?

उ०—कलि-काल, दैव, पिता-माता की अपेक्षा संतान का अनिवार्यरूप से ह्रासोन्मुख होना, साधुओं के चमत्कार और दैवी शक्ति आदि में विश्वास रखने के कारण,

प्रायः पिछले पंद्रह सौ वर्षों से, भारतीय जीवन के मूल पर कुठाराघात होता रहा है। इसी कारण भारतीयों का ह्रास होता चला जा रहा है। भारतीय जीवन की परंपरा तथा शास्त्रों का आदेश यही है कि विदेशी शासन असह्य है, किन्तु साथ ही साथ, अंधविश्वासी स्वदेशवासी की अपेक्षा योग्य और विद्वान् विदेशी अधिक आदरणीय है। विदेशी शासन हो या अयोग्य स्वदेशनिवासियों का शासन, दोनों ही दशाओं में देश की उन्नति में बाधा पहुँचती है।

४५. प्र०—विवाह, श्राद्ध, संध्यावन्दनादि प्राचीन और अर्वाचीन रीति-रस्मों पर शाश्वत धर्म का क्या विचार है ?

उ०—इन रीति-रस्मों से संबद्ध विधि-विधान और प्रतीक परंपरागत है और इनका कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक महत्त्व नहीं है। पूर्वजों के आदेशानुसार उनका वहीं तक पालन करना उचित है जहाँ तक वे विधि-विधान आदि प्रतीकों के मूलगत सत्यों के लिए बाधक नहीं सिद्ध होते।

४६. प्र०—शाश्वत धर्म के अनुसार मनुष्य की बड़ाई, छोटाई का निश्चय कैसे होता है ? अशिक्षित ब्राह्मणों को क्या समझना चाहिए ?

उ०—सच्ची विद्या (सच्ची बातों का ज्ञान) और उसका यथार्थ उपयोग, इन्हीं से मनुष्य का महत्त्व जाँचा जाता है। किसी भी शिक्षित मनुष्य की तुलना में एक अशिक्षित ब्राह्मण वैसा ही है जैसा जीवित हाथी की तुलना में एक लकड़ी का हाथी।

४७. प्र०—प्रतीक-पूजा पर शाश्वत धर्म की क्या राय है ?

उ०—प्रतीक-पूजा वैकल्पिक है। जिसे अपने पिता-माता आदि से भक्ति हो, वह उनकी मूर्त्ति रख सकता है या नहीं भी रख सकता। इससे उसकी भक्ति में कुछ भेद नहीं पड़ता।

४८. प्र०—त्यागियों को शाश्वत धर्म क्या मानता है ? पारमार्थिक संन्यास किसे कहते हैं ?

उ०—जो लोग पूरे समय तक गृहस्थ रहकर जीवन बिता चुके हों (जब उनके लड़कों के लड़के हो गये हों और तीनों ऋण चुक गये हों), वे यदि प्रशान्त जीवन बितावें तो उनकी प्रतिष्ठा है। परन्तु जिन्होंने असमय ही, गृहस्थाश्रम बिताये बिना ही, संन्यास ले लिया हो, वे समाज के जोंक और कीड़े हैं। संसार से वैराग्य लिये बिना भी अपना कर्त्तव्य करना वास्तविक संन्यास और जीवन्मुक्ति है।

४९. प्र०—मांसाहार के विषय में शाश्वत धर्म का क्या मत है ?

उ०—ब्रह्मचारी विद्यार्थियों और गृहत्यागी संन्यासियों के लिए निरामिष भोजन उपयुक्त है। गृहस्थ अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार सामिष या निरामिष

भोजन कर सकते हैं। मछली को छोड़कर गंदे और मांसाहारी पशुओं का मांस अखाद्य है।

५०. प्र०—क्या किसी ग्रन्थ या पुरुष का सब कहना मानने के योग्य है ?

उ०—धार्मिक या कानूनी आज्ञा के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ या कोई पुरुष सर्वथा प्रमाण नहीं है। केवल धार्मिक या कानूनी आज्ञा अपने विषय में सर्वथा प्रमाण है।

विश्व-कवि का अधूरा स्वप्न

जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पढ़ाई समाप्त कर दी, तो अवकाश बिताने की दृष्टि से वे एक बार उत्तरप्रदेश में आये और कुछ दिन वहीं रह गए। रवि बाबू की कविता तब जन्म ले चुकी थी। जहाँ वे ठहरे थे, वह स्थान ग्राण्ड-ट्रंक रोड के किनारे था। रवि बाबू उस कलकत्ते से पेशावर तक के राजमार्ग पर असंख्य लोगों को चलते देखते। बैलगाड़ियाँ, बैल, ऊँट, हाथी, घोड़े, कितने अगणित वाहन एवं व्यक्ति उनके सामने से गुजरते। रवि बाबू का कौतूहल-पूर्ण जिज्ञासु मन उस प्रलम्ब पथ के दोनों छोरों को देखने के लिए मचल पड़ा। इतिहास के कितने चढ़ाव-उतार इस मार्ग ने देखे थे! अतः रवि बाबू ने, अपने बाल्यसरल मन में, यह मधुर कल्पना सँजोई कि बैलगाड़ी द्वारा गाजीपुर से पेशावर तक की यात्रा की जाय! कल्पना कीजिए, बैलगाड़ी और गाजीपुर से पेशावर! पर, विश्व-कवि का मन ठहरा! ऐसा मन, जिसके कगारों से विश्व-मानव की अनुभूतियाँ टकरा रही थीं और जो 'जन-गन-मन·····' का गायक था। 'जन-गन' के कितने विराट् दर्शन करने का संयोग था इस पथ पर! किन्तु कवि का वह स्वर्ण-स्वप्न अपूर्ण ही रहा, क्योंकि जब उनके पिता जी ने उक्त योजना की बात सुनी, तब उनको तुरत वापस बंगाल बुला लिया।

'नवनीत', बम्बई, (दिसम्बर १९५२ ई०)

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

(गतांक से आगे)

निसर्ग-प्रणाश——निसर्ग-प्रणाश, काव्यगत शील का सत्यानाश है। जहाँ मनुष्य की वृत्तियों, भावों तथा कार्यों की हार्दिक व्यंजना का लोप-सा दीख पड़े और मानवीय प्रवृत्ति या निवृत्ति सामान्य नैसर्गिकता का अतिक्रमण कर जाय वहाँ निसर्ग-प्रणाश का दोष लगता है। हार्दिक कारण-भूमि का सर्वथा अभाव रहने से शील नल-नील के पत्थर जैसा लगने लगता है, जो पानी पर तो तैर सकता है पर जिस पर जीवन की दूब हरी नहीं हो सकती। किसी आलम्बन के प्रति आश्रय अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव से प्रेरित होता है। पर जहाँ भाव मात्र में स्पन्दन-विहीनता आ जाय, वह निस्संगभाव से चिन्तन भी न कर सके, वल्कि जड़-निर्मम बना रह जाय, तो रूपविधान के लक्ष्य की इतिश्री हो जाती है। मनुष्य के शील में सत्व, रजस्, तमस् की प्रेरक शक्तियाँ, किसी प्राणान्दोलित क्षण में, अन्तःप्रविष्ट रहती हैं। संस्कृति तथा संस्कार भी जीर्ण अथवा सबल होकर निसर्ग में घुलमिल जाते हैं। शरदबाबू की किरणवाला तथा सावित्री वैधव्य की भारतीय संस्कृति तथा संस्कार के ही कारण अपने सतीत्व का अखण्ड निर्वाह कर लेती हैं। ऐसे अनुशासन में अस्वाभाविकता या कृच्छ्रसाधना नहीं। उनके प्राणों में ही सांस्कृतिक 'अहं' कुछ ऐसा घुलमिल गया है कि वे आदर्श का कल्पित दंभ नहीं मालूम पड़तीं। वे प्रेम का मानसिक सुख तो लेती चलती हैं, परन्तु संभोग की कामुकता से कभी भी आकुल नहीं होतीं। वेश्या राजकुमारी भी व्रती है और उसकी अद्वितीय निष्ठा में कहीं भी असाधु दमन या आत्म-प्रवंचना नहीं है।

जहाँ शील निसर्ग-प्रणाश से बचता है, वहाँ शील का सौंदर्य विन्दु-सौंदर्य के रूप में देखने को मिलता है। महत्त्वाकांक्षा की कालभैरवी, विनाश की रौरव पिशाचिनी लेडी मैकबेथ, लोभ के कारण, इतनी क्रूर हो गई है कि उसे अपने पितातुल्य, स्वामी-अतिथि, वृद्ध Duncan के वध की बात सोच थोड़ी भी ग्लानि नहीं होती। वह अपने ही हाथों से अपने स्तन के दूध पीनेवाले शिशु को मारकर उसकी खोपड़ी का भुरता बना सकती है; अपने सेनापति के लड़खड़ाते पैरों को धिक्कारती है; माता और पत्नी दोनों ही रूपों की स्वाभाविक कोमलता जैसे उसे छू तक न गई हो। लेकिन उसकी एक आकस्मिक दुर्बलता का विन्दु-आलोक उसके मृतशील को सुधाकल्प कर देता है। वह वृद्ध राजा जब सो रहा था तब उसका शान्त मुख लेडी मैकबेथ के पिता के चेहरे से कुछ मिलता-जुलता था कि, आह, विवशता, उसका सारा संकल्प, उसकी सारी निष्ठुरता रो उठी और उलटे पाँव लौट आई, वध न कर सकी! मर्म के कोने में पड़े इस

दृश्य-विन्दु का सौंदर्य—बस एक छोटी बात का सौंदर्य—उस शील को रजस् की ऐकान्तिक प्रबलता तथा सत्त्व के तिरोभाव से बचा लेता है। यही नहीं, उसकी असाधारण कठोरता, इस द्रव के बाद, काव्य की रस-सिद्धि के लिए और भी श्रेयस्कर हो जाती है। इससे भिन्न, जहाँ Iago को शेक्सपियर परपीड़न-रति का विशुद्ध राक्षस बना देता है, तो आलोचकों की लाख वकालत उसके शील को निसर्ग-प्रणाश दोष से नहीं बचा सकती।

दो उदाहरण और लें। सुरापान तथा नृत्य-प्रमोद में डूबा रहनेवाला वेश्यागामी यदि पुत्रशोक का समाचार सुन घर न आये, न दो आँसू गिराये तो ऐसे मनुष्य के प्रति हमारे हृदय में क्रोध तथा घृणा का संचार होगा। ऐसी अनासक्ति को हमारा हृदय समझ सकता है, क्योंकि वेश्या और सुरा नामके दो आसक्ति-केंद्र जो प्रत्यक्ष हैं। आसक्ति से उत्पन्न उच्चाटन देखने को मिलता है। पुत्रशोक के समाचार के साथ ही सुरा पिला कर मत्तसंज्ञ बना देनेवाली वेश्या हमारा घृणा का सह-आलम्वन बनती है और इस तरह हमारी घृणा का प्रकृत आलम्बन थोड़ी सहानुभूति भी अर्जित करता है। यह श्याम पर कुब्जा का टोना है, ऐसा हम सोचते हैं। इसी तरह पुत्रशोक में विलाप न कर कोई भक्त गृहस्थ शव को अपने इष्टदेव के मन्दिर की चौखट पर रखकर कहे, 'लो, इतने दिनों तक तुम्हारी सेवा की, झाड़ू लगाई, नैवेद्य अर्पित किया; पर तुम्हारी भूख शान्त न हुई। अभी खालो, फिर श्राद्ध के दिन पेट भरना।'—तो व्यंग्य के इस गरल कटाक्ष में रतिभावना का उपालंभ-अंग भी है, कृतघ्नता के प्रति जुगुप्सा भी; और, साथ ही काँटे बोनेवाले के लिए फूल बोने का आत्मगौरव भी। अपराधी के हृदय में उदारता के द्वारा लज्जा उत्पन्न करने की यह सहज कूटनीति है, जिसमें आहत भक्ति की निराशा क्रुद्ध हो उठती है। यह अभिव्यक्ति का गूढ़ कपट है, कुछ निसर्ग-प्रणाश नहीं। इससे भिन्न एक उदाहरण लें।

पुत्रशोक में कोई पिता किसी होटल में जाय और कहे, 'अजी मेरा बेटा आज चल बसा। अच्छा था, होनहार था। जिंदा रहता तो कोई बड़ा ओहदा पाता। हाँ, देखो, एक क्वार्टरप्लेट ,रोगनजोश और एक प्लेट कोफ्ता देना'!— तो, चार्वाक का ऐसा दत्तक फुफेरा निसर्ग-प्रणाश का ही उदाहरण होगा। लेखक की दार्शनिक उर्वरता उसे बचा नहीं सकती। निसर्ग-प्रणाश के दोषी प्रायः वैसे ही कलाकार होते हैं जो उपदेश, वजूघोषी नाटकीयता, कुतूहल तथा विश्वामित्र-प्रयास के फेर में पड़ जाते हैं। याद रहे कि विश्वामित्र ने एक नई सृष्टि-रचना की अनधिकार चेष्टा की थी। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में रामानन्द तिवारी के बेटे की कम्युनिष्ट धर्मपत्नी पर भाग्य का जो व्यंग्य सिगरेट की छीना-झपटी वाले दृश्य में पड़ता है, उसका मूल कहाँ है? उसका मूल प्रणय की उस कृत्रिम प्रतिष्ठा में है जो विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर स्थित है।

एडिपस तथा एलेक्ट्रा कम्प्लेक्स को लेकर जो कुरुचिपूर्ण शीलचित्रण आजकल किये जाते हैं उनकी होली जला देनी चाहिए। स्वयं एडिपस की रति-कथा अज्ञान की घटना है। माता के साथ रति तथा पिता का वध—ये दो अपराध वह अनजाने कर बैठता है। भेद खुलने पर उसके पश्चात्ताप की भयंकरता निसर्ग-प्रणाश के प्रति ही एक घातक

प्रतिक्रिया है। अपनी आँखों को आप निकाल फेंकनेवाला एडिपस जहाँ पाशविक संस्कार-कृतघ्नता के मलस्नान की चेतावनी है, वहाँ आजकल के रट्टू उसे निसर्ग की मुक्ति का उदाहरण मान बैठे हैं। संबंध, संस्कार तथा चेतना के विकास के साथ काम के स्वरूप में भी भेद होना अनायाससिद्ध है। फ्रायड ने यह बताया कि लड़का माता के प्रति रति-भाव तथा पिता के प्रति अरि-भाव रखता है। यह बहुत ही सीधी-सी बात है और शुरू की। अब कोई प्रौढ़ तनय अनिवार्यतः माता के प्रति मैथुनरत तथा पिता के प्रति वधोद्यत दिखलाया जाय तो ऐसे काव्यकर्मा को हम क्या कहेंगे ?

अपने को सिद्ध माननेवाले ये विद्याविशारद सदा ज्ञान के अनुत्तीर्ण स्नातक हैं। जिस तरह काम लज्जा को खाता है उसी तरह ज्ञान-सन्तति लज्जा भी काम को खाती है। नारी के माता, पत्नी तथा भगिनी भिन्न रूप हैं और भिन्न रूपों के प्रति भिन्न रस का उद्रेक स्वभाव की माँग है। जो भिन्नरूपों का अन्धकार में नखास्वादन करते हैं उन्हें अलबत्ता कोई भेद नहीं मालूम होता। काम की भाँति मोक्ष के ऐकान्तिक आग्रहवालों में हम अहं, आसक्ति तथा ग्रन्थि का सर्वथा अभाव पाते हैं। अतएव योगी अथवा निष्काम स्थितप्रज्ञ गीतापुरुष का शील मूलबन्धुत्व अर्जित नहीं कर पाता। निसर्ग-प्रणाश दोष यहाँ भी लगता है। कृष्ण के उपदेश के बाद अनासक्ति-दीक्षित अर्जुन जब धनुष-बाण उठा लेते हैं, तब हमारे काम के नहीं रह जाते। किरी सव्यसाची की हस्तकला कुतूहल भले ही उत्पन्न करे, और कुछ नहीं कर पाती। लेकिन जयद्रथ के वध न होने पर चिता जलाने वाले, अभिमन्यु-वध से शोकाकुल होनेवाले, अहं तथा आसक्ति के अर्जुन ही हमारे काम के हो सकते हैं। शकुन्तला की विदाई के समय 'पति के पहले जागियो, पीछे सोइयो, सौतों से डाह मत करियो'—आदि कह देने से 'समभावःसुखदुःखेषु' का मंत्र जपने वाले कण्व से काव्य-हृदय की हत्या हो जाती। वहाँ तो प्रियंवदा-अनसूया के साथ माधवी, वनज्योत्स्ना, मृगशावक आदि की वियोगदशा की मर्मव्यंजना कर कवि ने निसर्ग को व्यापक सजीवता की रस-सिद्धि की है।

क्या कारण है कि शील का सुन्दर से सुन्दर, मोहक से मोहक रूप, अभ्यन्तर के के द्वन्द्व या खण्डित दशा में ही, लोग पाते हैं। नाटकों उपन्यासों, कहानियों में इसकी इतनी धूम क्यों है? कारण यह है कि द्वैध एक ही साथ भय और आशा की स्थिति है। भय की अवस्था शूली पर चढ़े रहने की है। आशा की अवस्था भी शूली से उतार कर शेर की पीठ पर विठाये जाने की है। भय में आशा और आशा में भय के लगे रहने से प्रेक्षक यह निश्चय नहीं कर पाता कि सामने खड़ी परिस्थिति में व्यक्ति कौन-सा मार्ग अपनायगा। अनिश्चय की अवस्था तृष्णा की अवस्था है, जो जीर्ण नहीं होती। दूसरी बात, दो भिन्न आकर्षणों से हमारे ध्यान को अवकाश ही नहीं मिल पाता कि वह आश्रय या आलंबन को छोड़ अपने 'अहं' की भी कुछ खोज खबर ले। यदि किसी पात्र के बारे में हम निश्चित हैं कि उसके सामने वचन-प्रतिपालन का ही एक आदर्श और मार्ग है तो हम सोच लेंगे कि आनेवाले दृश्यों में वह वचन का पालन करेगा ही। पर यदि वचन-प्रतिपालन का अर्थ अर्जुन का कृष्ण से (सखा, गुरु, हरि से) लड़ना है तो

दो आकर्षणों की युगपत् सक्रियता से हमारा ध्यान कभी अपने अहं की स्थिति की ओर न जायगा। तीसरी बात यह है कि द्वन्द्व से शक्ति का व्यय दूना होता है और अवलोकन की दो दिशाओं में होता है और इसीलिए हमारी अनुभूति की गहराई भी, सजीवता की चेतना का घनत्व भी, द्विगुणित हो जाता है। द्वन्द्व की अनुभूति सदा दुःखात्मक होती है। द्वन्द्व से प्रेक्षक या पाठक के हृदय में करुणा का उद्रेक होता है। सीमा-सापेक्ष स्थिति में करुणा या दुःख की अनुभूति सुख की अनुभूति से अधिक मार्मिक होगी ही। हम जब बहुत सुख में होते हैं तो कोई जरूरी नहीं कि दूसरे भी सुखी हों, या दूसरे सुखी हों तो कोई जरूरी नहीं कि हम भी सुखी हो जायँ। पर अपरिचितों के दुःख से भी करुणा की उत्पत्ति हो जाती है। करुणा सबसे व्यापक अनुभूति है, क्योंकि वह व्यक्ति को समष्टि की ओर ले जाती है। दुःख में ही हम सचमुच स्वेच्छा से दूसरों के हो जाते हैं। कौन नहीं जानता कि प्रेम में मिलन के क्षणों का सुख आसन्न-वियोग की आशंका अथवा वियोग की स्मृति से कितना बढ़ जाता है? द्वन्द्व प्राण की कुम्भक अवस्था की माँग करता है। इसलिए वृत्तियों का व्यायाम अपनी चरम सीमा को पहुँचा होता है। ऐसी एकाग्रता स्मरणीय होती है। भावों के सम-शान्त-सहज प्रभाव की अपेक्षा टक्कर से उत्पन्न आवर्त्त या उद्वेग आदि में ऐसा असाधारणीकरण रहता है, जिसके लिए जीवन की कला में हम फिर से सृष्टि करते हैं। शील वीचि का होता है, जल का नहीं। द्वन्द्व से हम यह देख पाते हैं कि शील-गत सत्य कोई रेखांगणित का सरलीकरण नहीं है। व्यक्ति एक मिश्र विविधता है, स्थिर सरलीकृत एकता नहीं। इस द्वन्द्व को समाज के प्रति, दल के प्रति, किसी मतवाद के प्रति व्यक्ति के संघर्ष के रूप में हम पा सकते हैं। पर सब से अनोखा सौन्दय आन्तरिक गृह-युद्ध में है। हृदय-गुफा के अन्धकार में अनुमान के आलोक से झांकने में जो सूक्ष्म सौन्दर्य हाथ लगता है वह बाह्य संघर्षों की शारीरिकता में नहीं। क्या यह संघर्ष बुद्धि बनाम हृदय का होता है?

बुद्धि स्वयं पंगु है केवल कर्म भी शील के अन्दर नहीं आते, जब तक कर्म के पीछे इच्छा या भावों का आकर्षण या विकर्षण न हो। यह ठीक है कि बुद्धि इच्छाओं का पथ-प्रदर्शन कर सकती है, उनकी गति में बाधा और विलम्ब उत्पन्न कर सकती है, पर जहाँ बुद्धि के विपरीत या अनुकूल कर्म होता है वहाँ भी वह मूलतः हृदय के अनुकूल ही होता है। हृदय के विपरीत मनुष्य जा ही नहीं सकता। बुद्धि कहती है—'चोरी करोगे तो जेल जाओगे।' अन्तरात्मा कहती है—'अधर्म है, अपराध है'। बुद्धि की जेलवाली धमकी एक भय बन जाती है। उसी तरह ईश्वर और जन-मत की कल्पना भी भय का रूप धारण करती है। चोरी से प्राप्त पूँजी से मौज करने की ललक, या चोर मित्रों के प्रति बफादारी का स्वाभिमान या भूखों मरते परिवार की प्राण-रक्षा की कल्पना से उठे करुण भाव इच्छा बनते हैं, हृदय बनते हैं। यदि चोरी अन्ततः की जाती है या नहीं की जाती है, तो इच्छा की इच्छा पर विजय होती है, द्वन्द्व हृदय-हृदय के बीच होता है। बुद्धि और हृदय का द्वन्द्व नहीं होता, व्यास-यजमान संबन्ध होता है। गुरु-शिष्य-द्वन्द्व अचिंत्य है।

दूसरी बात। हत्या में पीड़ा नहीं होती। पीड़ा केवल आत्म-हत्या में होती है। पाप में, आखेट में, युद्धोन्माद में हत्या होती है, पर मनोरंजन होता है, तृप्ति होती है, पीड़ा नहीं होती। पर न्यायाधीश जहाँ बुद्धि को हटा कर हृदय से अपराधी में मिल जाता है वहाँ अपराधी की फाँसी उसके लिए आत्म-हत्या हो जाती है और तब उसे पीड़ा हो सकती है। बुद्धि की गति केवल स्वार्थ में है। परोपकार को भी बुद्धि स्वार्थ ही बतायगी। पर जहाँ बुद्धि की गति केवल स्वार्थ में है वहा हृदय की गति स्वार्थ और परार्थ दोनों में है। हृदय के लिए दोनों एक भावना हो जाते हैं। एक अहं की अनुभूति के द्वारा, दूसरा सहानुभूति या तादात्म्य के द्वारा मानने के लिए पहचानना नियम है। पर पहचानने के लिए मानना अस्वाभाविक है, ऐसा खुफिया-विभाग वाले ही कर सकते हैं।

इस तरह बुद्धि यदि किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति का समर्थन करे, अथवा विरोध; व्यक्ति जो निश्चय करता है वह बुद्धि के अनुकूल हो या विपरीत, हर हालत में हृदय का ही निश्चय रहता है। इसलिए शील का अध्ययन हृदय का ही अध्ययन है। बुद्धि, परिणाम, सफलता, विफलता, सम्बन्धों, प्रयोजनों, हानि-लाभ आदि की सम्भावनाओं को तर्क के रूप में रखती है। परन्तु शील के अध्ययन के लिए बुद्धि की शिक्षा और मंत्रणा सभी प्रासंगिक होगी जब हृदय उन परिणामों की भयंकरता या सुखदता, सम्बन्धों और प्रयोजनों तथा हानि-लाभ के दुःख-सुख की अनुभूति, भाव के रूप में करता चलेगा। बुद्धि कहती है—'रेल का इंजन कितना भारी होता है। उसकी रफ्तार कितनी तेज होती है। नीचे पड़ोगे तो पिस जाओगे, अँतड़ियाँ फट पड़ेंगी, खोपड़ी पर लाखों मन का बोझा पड़ेगा।' अब इन बातों से व्यक्ति का हृदय कल्पनाशक्ति के सहयोग से एक मूर्त नाटक करता है, जिसमें उसका सिर इतने भारी इंजन के नीचे दबता है और फेफड़े फटने की एक चीख उसके हृदय से निकल जाती है। इस तरह भय का भाव हो गया। उधर हृदय सोचता है—'जिस भाई को इतना माना, जिसे पढ़ाने के लिए डोम को भी सरदार कहा, उसने आज ओहदा पाने पर मुझे पहचाना तक नहीं। मैं इतना तुच्छ हूँ? गाँव वाले सुनेंगे क्या कहेंगे? दुष्ट रामलोचन कितनी खुशी से मेरी बेइज्जती का ढिंढोरा पीटेगा। इससे तो मौत अच्छी। मैं मर जाऊँगा। घर तार जायगा, भाई के यहाँ भी। तब सब लोग मेरी लाश को, मेरी दुर्दशा को देखेंगे। जेब में पड़ी मेरी चिट्ठी पढ़ेंगे। मेरा भाई आयगा। ग्लानि, लज्जा और शोक से वह पागल होगा और सारे गाँव के लोग उस पर थू-थू करेंगे। मेरी पिछली करनियों को सुनने पर तो बच्चू को रोने के लिए आँख नहीं मिलेगी। आह! कितना सुखद होगा वह दृश्य।' इस सुख की इच्छा और उस भय में द्वन्द्व होते-होते एक इच्छा दूसरी पर विजयी होगी, कुछ ऐसा नहीं कि बुद्धि पर हृदय या हृदय पर बुद्धि की विजय हो।

घड़ी की सुई बतलायगी कि दंगल खत्म होने में, बाजी मारने के अवसर में, कितनी देर है। मगर दंगल तो दो पहलवानों के बीच होता है। हाँ, घड़ी पहलवानों की आत्मा में प्रवेश कर जा सकती है—अधीरता, भय, उत्साह, निराशा आदि के भाव बन कर।

इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि को शील से हम पूर्णतः पृथक् कर सकते हैं। दो आदमी लड़ रहे हैं इसमें प्रोत्साहन देने वाले, तालियाँ पीटने वाले, हिम्मत को बहुत कुछ

पक्षपात के द्वारा बढ़ा-घटा सकते हैं, हालाँकि वे स्वयं युद्ध में भाग नहीं लेते। द्रष्टा कह सकते हैं—'देखो सामने गढ्ढा है'। ईश्वर के यहाँ Seraph को केवल पंख, Cherub को केवल आँखें होती हैं। पंख में गति है। आँख में दृष्टि। आँख द्वारा भय का कारण देख लेने पर पंख खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, शिथिल पड़ जाते हैं, या वापस आने को प्रयत्नशील हो जाते हैं। पर काव्य में, शीलविधान में, चेतावनी से उत्पन्न भय द्वारा उत्साह का विघात और समर्थन से उत्पन्न आशा द्वारा उत्साह की वृद्धि दिखलाना श्रेयस्कर होगा। जहाँ उपन्यासों में या नाटकों के संभाषणों में बुद्धि ग्रन्थ-दर्शन करती चलती है, वहाँ शील और वाणी अथवा विचार का संबंध भी नहीं होता। जहाँ हृदय बुद्धि के तर्कों, दृष्टान्तों, आँकड़ों का मूर्त्त विधान करता है, भावों के द्वन्द्व में पड़ा चलता है, वहीं शील की दृष्टि में हमें सजीव अभ्यन्तर का साक्षात्कार होता है।

बुद्धि एक ही जगह हृदय को जहाँ खण्ड-खण्ड करती है, उसका सबसे करुण और सूक्ष्म-सुन्दर स्वरूप है, अनिश्चय की अवस्था। आँखों का खुला रहना और बन्द रहना दोनों स्वाभाविक हैं। प्रत्यक्ष के लिए खुलना और फिर बाह्य जगत् से विश्राम के लिए पलक मूँद लेना सामान्यत: प्राकृतिक है। आलोक का दिवा-निशा विधान नैसर्गिक आवश्यकताओं पर आधारित है। हृदय जहाँ आँखें मूँद विश्वास कर लेना चाहता है, बुद्धि वहाँ अन्वेषण अथवा विश्लेषण करने को बाध्य करती है। हृदय के भाव-लोक, कल्पना-लोक, सहजानुभूति या रहस्यानुभूति को स्वप्न-निस्सार बता, बुद्धि, खल-शिष्ट-स्मित के साथ आदाब बजा किनारे खड़ी होती है। उधर हृदय आस्था-पूजा, अवलंब, उपासना की अमर इच्छा लिये कराहता है। लामिया पर अपोलोनियस की दृष्टि पड़ जाती है और उस दृष्टि से फूटी किरणें सपनों को लूट लेती हैं। और कोई, कह नहीं सकता कि 'आँखें फूटीं या पौ फूटा!' हैमलेट की ट्रेजेडी इसी दृष्टि से विश्व-साहित्य की सबसे बड़ी ट्रेजेडी है, क्योंकि यह ट्रेजेडी मनुष्य की पहली और अन्तिम ट्रेजेडी है। परलोक और इहलोक का अभिसार रहस्य-श्रवा हृदय के कुरुक्षेत्र में होता है। To be or not to be के अनिश्चय से प्राणसंकल्प की यम-विरंचि दशा से बढ़कर करुण दशा संस्कृत शील वाले के लिए है ही नहीं। इस सापेक्ष जगत् में निरपेक्ष आस्था या अनास्था की शान्ति–कामना, (जब तक बुद्धि की आँखें फोड़ नहीं दी जातीं, जिह्वा काट नहीं दी जाती) दु:ख की सब से भयंकर स्थिति है। मनुष्य के हृदय-मन्दिर में एक ही साथ महमूद गजनवी और सोमनाथ की स्थिति से बढ़कर करुणोदात्त अनुभूति (Tragic experience) कोई नहीं। और, सभी परिस्थितियाँ अन्तरिम हैं अन्तिम नहीं। अंतरिम (Interim) ट्रेजेडी और अन्तिम (Ultimate) ट्रेजेडी के इस वर्गीकरण पर पाठक कुछ सहानुभूति से सोचें। दर्शन पढ़कर मन्दिर में दर्शन करने जाना निरर्थक हो जाता है। Lear Othello की ट्रेजेडी, विकारों की 'अहं' की है। लेकिन इस पीड़ा की अनुभूति ग्रीस के निवासियों ने, विक्टोरिया के जीवन-काल के कवियों ने (Arnold, Tennyson, Clongh) ने की और आजकल के लोग भी कर रहे हैं। Waste-land इसी मानी में हृदय की मरुभूमि का, एक चिरस्मरणीय प्रतीक-रूपक है।

ऐसी अवस्था में भी बुद्धि के प्रभाव को हार्दिक बनाकर दिखाना चाहिए। तभी शील की सजीवता आयगी। बुद्धि के विवाद से वियोग की अवस्था हो जाती है। उधर हृदय संयोग-सुख चाहता है। प्रेम में न तो मिलन न सम्बन्ध-विच्छेद की अवस्था है, यह अनबन की अवस्था है। एक ही साथ दोनों रहते हैं, परन्तु अहं और आसक्ति दोनों जगे हैं। इस अवस्था में यह नहीं कहा जाता—'मुझे प्यास लगी है, पानी पिलाओ' बल्कि यह कि—'है कोई पानी पिलाने वाला, कोई पिला देता, मुझे प्यास लगी है'। उधर पानी का ग्लास हाथ में नहीं दिया जाता, निकट रख दिया जाता है। इस अर्थ में एक गज की दूरी भी सौ गज की दूरी है, दस गज की दूरी भी सौ गज की है, और सौ गज की दूरी भी सौ गज की है।

द्वन्द्व-चित्रण में भावों की भीड़ नहीं लगने देनी चाहिए। जब चित्रकूट में सन्तों की बहुत भीड़ हुई तो तुलसीदास जी चन्दन घिस रहे थे, रघुवीर तिलक ले रहे थे और तुलसी ने राम को पहचाना तक नहीं। जहाँ बहुत से भावों के उधेड़बुन में शीलवान् पड़ा रहता है वहाँ उसकी स्थिति द्वन्द्व की नहीं होती, Distraction या विक्षेप की हो जाती है या वह भावों के विलास में निमज्जित-सा दीखता है और पाठक यह सोचता है कि जो डूब गया है उसके ऊपर किस तरंग से पानी का कितना बोझ आया, इसकी गिनती कौन करे? इसी से द्वन्द्व-चित्रण में विपरीत और अत्यन्त निकट संचारियों को ही लेना चाहिए। मान लीजिये, कोई व्यक्ति आकर किसी से सहायता माँगता है। वह सोचता है, घर में लड़की की शादी है। समधी ने बड़ी सजधज की बारात की धमकी दी है। कहीं रुपये के अभाव से नाक कट गई तो? रुपये रहने पर तो एक की जगह दो देकर उनके मुँह पर जूते चला सकूँगा। परन्तु यह जो निराश चला जायगा। इसके सामने रोना क्या रोऊँ? जो कृपा की याचना करने आया उससे दया की भीख माँगू? वह कौन है? अरे, वह तो विश्वनाथ है। रोज की भाँति आज भी चींटियों को चीनी खिला रहा है। चींटियों को चीनी खिला रहा है? अरे, क्या इससे उसके घर की चीनी खत्म हो जायगी। छिः छिः 'तुलसी पंछी के पिये घटे न सरिता नीर'। मगर शादी वाली बात ठहरी और यह तो कहता है—'इसका लड़का मरणशय्या पर पड़ा है।' आज यह बच्चू चल पड़े हैं और रो रहे हैं। पारसाल पानी वाले झगड़े में इसी ने तो कहा था देख लूँगा आप को! अब मरे! साँप को दूध पिलाऊँ? आदमी भी कैसा बेहया होता है कि जिस से अकड़ कर बात की है, उसके सामने फिर गिड़गिड़ाकर भीख माँगता है। पर ऐसी हालत तो भगवान् करता है। भगवान् मेरी भी ऐसी हालत कर सकता है। 'दिया दूर नहीं जात'। आपत्ति और अभाव में ही तो धर्म की परीक्षा भी वह लेता है। बिहारी का सुनो—हरामी ने चलने के वक्त उसे मना किया कि वह मेरे पास न आये। मेरा अपना ही खर्च नहीं चलता तो मैं दूसरों को क्या दूँगा? और यह भी कहा कि मदद तो मैं उन्हीं की करता हूँ जिससे कुछ मतलब ऐंठना रहता है। पर पारसाल ललकारनेवाले यही सज्जन थे। शादी में कहीं नाक कटी तो? न दूँ तो दरिद्र

समझा जाऊँ। फिर वह पाजी कहेगा—'कहा न था? गये न? पानी खो आये।' तो शत्रु के ललकारने पर दूँ? परन्तु बलि की भी न निभी। यश को देखू या बारात में अपनी शान को आदि-आदि।' यदि इतनी धाराओं और प्रतिधाराओं का दिग्दर्शन—यही क्या, लोग उपन्यासों में मीलों तक यही दिखाते हैं—कराया जाय तो अंत में सहायता देने या न देने के कर्म से शील की प्रेरणा-तालिका को हम जान न सकेंगे। नहीं दिया तो ईर्ष्या से, या बारात के भय से, या बिहारी की बात पर क्रोध कर कि 'जाओ, तुम्हारे कहने में न आऊँगा' आदि-आदि। यदि दिया तो पता नहीं, ईश्वर के भय से या मरणासन्न पुत्र की करुणा से या शत्रुओं को उपकृत करने की भावना से, या बिहारी से क्रुद्ध हो उसे गलत पैगम्बर सिद्ध करने के लिए, या विश्वनाथ से उत्साह पाकर। यदि सबके योग से तो योग बड़ा हो जाने पर मूल प्रेरणा हम भल जायेंगे। इसी से कुछ मितव्ययिता, कुछ अनुशासन की माँग द्वन्द्व-चित्रण में करनी होती है।

सिनेमा में शील-विधान का कुछ ऐसा गैबी गजब है कि गाने के लिए रोया जाता है। औचित्य और भावों की सहज पद्धति छोड़ दी जाती है। दूसरा गजब है, सिनेमा में अभ्यन्तर का गाने के छन्दों में बद्ध-होकर आना। आजकल अभ्यन्तर का साक्षात्कार करानेवाले कलाकार पात्र के विचारों में प्रोषितमतित्व तथा विषयान्तरों का बाहुल्य यथार्थवाद के नाम पर दिखाते हैं। किसी व्यक्ति की सूँघी जूही पर, फटी-पुरानी जूती पर दृष्टि पड़ती है, बस, अब जो विचारों, भावों का ताँता शुरू होता है तो रुकने का नाम नहीं। यह कलाकार का अपना उन्मादचक्र हो जाता है।

बाह्य द्वन्द्व में भी भीड़ से जो हानि है उसकी पुष्टि राजनीति में आप देख कर समझते हैं। निर्वाचन को लेकर अनेक नेताओं का एक ही साथ जो अवतार होता है उससे जनता कितनी घबरा जाती है! कोई कहता है—'ब्राह्मणो, क्षत्रियों ने तलवार से राज्य किया है, इन्हें मिटाना है, इसलिए तुम एक हो जाओ, हमें वोट दो?' कोई कहता है, हरिजन ही वास्तविक जनता हैं। इसलिए वे एक रहें तभी मानववाद की सृष्टि होगी! कोई पुराने पंडित जी, जिन्हें अमरकोष भी कंठस्थ है, रामराज्य के लिए सिद्ध वशिष्ठ ढूँढ़ते हैं। इधर स्वतंत्रदल वाले कहते हैं—'सभी मानते हैं कि योग्य और साधु व्यक्ति चुने जायें। हम काँगरेस के बाहर हैं, इसलिए हम योग्य और साधु दोनों हैं!'

इधर काँगरेसी गजराज के लिए एक नहीं, कितने ग्राह मुँह बाये मँझधार में बैठे हैं। ऐसा द्वन्द्व एक केन्द्र पर विपरीत दिशा से आ भिड़नेवाले दो ज्योतिर्वाणों की भाँति न होकर, सूर्य-मण्डल की तरह, एक केन्द्र से अनेक दिशाओं में फैलनेवाले किरणजाल की भाँति हो जाता है, और इस प्रकार उस पर आँख नहीं ठहर पाती। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि ऐसे द्वन्द्व में केवल दो प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं का ही सरलीकृत संघर्ष हो, बल्कि यह कि द्वन्द्व को जाल नहीं हो जाना चाहिए। अखाड़े में आप इसका तमाशा देख सकते हैं। गामा जब जिवेस्को से लड़ता होगा तो उस द्वन्द्व के नाटकीय संघर्ष में दर्शक रम सके होंगे। पर वही गामा जब एक साथ पच्चीस शिष्यों को जोर कराने लगे, तो वह

द्वन्द्व न होकर तमाशा हो जायगा और हम केवल कुतूहल का हलका आनंद ले सकेंगे। हमारा 'अहं' भी जगा रहेगा और हम साथियों से बातें भी करते रहेंगे।

आगे जिस बात पर विचार करेंगे वह यह है—सुन्दरतर द्वन्द्व स्वार्थ-स्वार्थ के बीच होता है, अथवा आदर्श-आदर्श के बीच, अथवा स्वार्थ-आदर्श के बीच? स्वार्थ और आदर्श का द्वन्द्व श्रेय और हेय का द्वन्द्व विजातीय शक्तियों का द्वन्द्व मालूम होता है। यदि वासनाओं को कुचलकर कोई कर्त्तव्य-पालन करे तो ऐसा मालूम होता है कि वह निश्चय सरल था। यह द्वन्द्व उतना मरोड़ उत्पन्न नहीं करता। पर जहाँ अपने दो भाई विपत्ति में पड़े हैं, दोनों की पुकार दो स्थानों से आती है, या जहाँ मित्र एक ओर पुकार रहा है, और पुत्र दूसरी ओर, और द्वन्द्व विशुद्धतः स्नेह का है, तो इसकी गहराई न मालूम कितनी गुनी बढ़ जायगी इसी तरह जहाँ अहिंसा और न्याय के बीच संघर्ष हो और मूल्यों के दो समान औचित्य अपनी रक्षा के लिए हमारे पुरुषार्थ से याचना करें, वहाँ द्वन्द्व की मार्मिकता बढ़ जायगी। पहले दृष्टान्त में भावतत्त्व की आत्महत्या है, दूसरे में धर्मतत्त्व की। भाव द्वारा धर्म की हत्या या धर्म द्वारा भाव की हत्या तो हमारे हृदय में एक प्रच्छन्न तथा सूक्ष्म घृणा और क्षोभ का अर्थसिद्ध संस्कार छोड़ जायगी। सिनेमा के लिए अध्ययन और अध्ययन के लिए सिनेमा छोड़ने वाले आवारे अथवा संयमी कह कर टाल दिये जा सकते हैं। पर अध्ययन के क्षेत्र में दर्शन और साहित्य के आनन्द के द्वन्द्व में पड़ा पाठक या सर्वथा दो नवीन और समान उत्कृष्टता की ख्यातिवाले चित्रपटों में किसे पहले देखा जाय, इस द्वन्द्व में पड़ा प्रेक्षक अधिक गहराई की चीज है, क्योंकि वह आत्मा द्वारा आत्मा की हत्याकी पीड़ा लिये हुए होगा।

जहाँ भावना और कर्त्तव्य में द्वन्द्व होता है वहाँ संघर्ष के आप निमित्त कारण-से दीखते हैं। पर जहाँ भावना बनाम भावना, कर्त्तव्य बनाम कर्त्तव्य का द्वन्द्व चलता है, वहाँ ऐसा मालूम होता है कि पात्र द्वन्द्व का उपादान कारण भी हो। ऐसी अनुभूति होती है कि ईश्वरप्रदत्त भावसार दो भागों में विभक्त हो गया हो। यही गृह-युद्ध है। भावना बनाम कर्त्तव्य वाले द्वन्द्व गृह-युद्ध-से न दीख कर विषवृक्ष-से दीखते हैं। भावना के आँगन में कर्त्तव्य का विषवृक्ष, या कर्त्तव्य के आँगन में भावना का विषवृक्ष लग गया है. इसे उखाड़ फेंकना है, ऐसा मालूम पड़ता है। पर प्रथम कोटि के द्वन्द्व में पात्र अपने हृदय में दो आकर्षण-सिद्धान्तों को महाभारत का जड़ कुरुक्षेत्र नहीं बना रहता। वह तो अर्जुन की भाँति, नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर भीम आदि के दुःख और दुर्योधन, भीष्म, द्रोण आदि के दुःख से अपनी भावात्मक सत्ता को केवल 'केवलपूर्ण' पाता है।

'केवलपूर्ति' का क्या अर्थ है? मैं इसका व्यवहार इस अर्थ में करता हूँ कि द्वन्द्व के दो विरोधी भावों को पात्र की भावभूमि के सम्पूर्ण विस्तार और गहराई को भर देना चाहिए। इसके लिए किसी तीसरे योग की आवश्यकता न पड़े। एक परिस्थिति में पात्र की भाव-भूमि की गहराई और विस्तार को, मान लीजिए। मित्र के प्रति प्रेम और पुत्र के प्रति

प्रेम, दो 'प्रेमों' की मात्रा भर देता है। अब उस परिस्थिति में माता या पिता के प्रति प्रेम का दिग्दर्शन अप्रासंगिक होगा। 'केवलपूर्त्ति' की अवस्था एक विशेष परिस्थिति में, केवल पुत्र-प्रेम और मित्र-स्नेह से, पात्र की सम्पूर्ण सत्ता के भावसरोवर के परिपूर्ण हो जाने में होगी। जब केवलपूर्त्ति की यह अवस्था प्राप्त हो गई और जब द्वन्द्व की ऐसी परिस्थिति में भाव-विघात की दशा आयगी, तो पात्र, विघात का निमित्त ही नहीं, उपादान कारण भी हो जायगा। ऐसी हालत में यदि पीड़ा होगी तो उसका क्षय आत्म-क्षय होगा।

गृह-युद्ध में परिवार का पितामह करवटें बदलता है और दूसरे परिवार से युद्ध के लिए कटिबद्ध हो उत्साह दिखाता है। इसी से द्वन्द्व आत्महत्यात्मक (Suicidal) होना चाहिए, हत्यात्मक (Murderous) नहीं। प्रेम-प्रेम का द्वन्द्व आत्महत्या (Suicide) तथा प्रेम और घृणा का द्वन्द्व हत्या (Murder) होगा। पाठक जागरित मूल बंधुत्व के द्वारा बंधुपात्र की आत्महत्या में अपनी ही आत्महत्या की वेदना का अनुभव करेगा। भ्रातृहत्या (Fratricide) आत्महत्या (Suicide) के भीतर आती है। *Les Miserabetes* का जावर्ट, सरकारी कर्मचारी के कर्तव्य और वालजीन जैसे देवनागरिक को सुख पहुँचाने के कर्त्तव्य के बीच पड़ा-पड़ा अन्ततः आत्महत्या कर ही बैठता है।

अभ्यन्तर का सौन्दर्य द्वन्द्व में ही नहीं बल्कि भाव के विविध और गूढ़ स्वरूप-चित्रण में है। स्वरूप की विविधता तथा गूढ़ता के अतिरिक्त उसकी प्रच्छन्नता और सूक्ष्मता से भी शील-चित्रण का मूल्य बढ़ता है। (क्रमशः)

———

उदात्त साधना के सोपान

विश्व की रहस्य-विभूति कण-कण की ग्रंथि में बाँधी गई है, और उस प्रेममयी पोटली को खोलने की मधुमयी प्रक्रिया को जीवन की साधना कहते हैं। वेदना का कवच पहन कर प्राण संघर्ष की चुनौती स्वीकार करता है, और समझ का उपहत कार्पण्य ही होगा जो यह कहेगा कि दुःख दुःख के लिए है; सुख की देहली पर डट कर द्वार न खोलना पराजित होना है और जिसने कपाट को खटखटाना सीखा उस की सुनवाई भी हुई। दीर्घमार्ग कहीं वंकिम हो, प्रचण्ड विभावरी कहीं निर्लज्ज हो, निराश्रित उलझन कहीं बीहड़ हो, अवसन्न एकाकीपन कहीं भ्रामक हो और विषैली भयंकरता कहीं प्रलय का भूत बन कर मृत्यु का घन-घमण्ड ताने; संसार का विषय, दारुण घनचक्र दिशाओं की आशावती लीक आवृत करके समगति को समाधिस्थ करने के लिए उद्यत हो—पर मानना पड़ेगा कि उद्भ्रान्ति के ये ही प्रखर प्रसाधन उदात्त साधना के पक्के सोपान हैं।

'माटी का फूल'—ले० प्रो० रामाधार सिंह
'नई धारा', पटना, (नवम्बर १९५२ ई०)

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

सं०—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

(गतांक से आगे)

[६६] विचार-सागर—ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ—१६७। प्र० पृ० पं० लगभग—२८। भाषा—हिन्दी। लिपि-नागरी। आकार—५१/८"×६"। रचनाकाल—×। लिपिकाल ×।

प्रारम्भ की पंक्तियाँ—श्री गणेशायनमः ।। अथ वस्तुनिर्देशरूपमंगल ।।

दोहा—जो सुषनित्यप्रकासविभु ।। नाम रूप आधार ।।
मति न लषै जिहि मति लष ।। सो मैं सुद्ध अपार ।। १ ।।
अब्धि अपार स्वरूप मम ।। लहरीं विष्णु महेश ।।
विधि रवि चंदा वरुन यम ।। सक्ति धनेश गणेश ।। २ ।।
जा कृपालु सर्वज्ञ को ।। हिय धारत मुनि ध्यान ।।
ता को होत उपाधितें ।। मो मिथ्या भान ।। ३ ।।
द्वै जिहि जानैं बिन जगत ।। मनहूं जे वरी साप ।।
नशै भुजग जगजिहि लहै ।। सोहं आपे आप ।। ४ ।।
बोध चाही जाको सुकृति ।। भजत राम निष्काम ।।
सो मेरो है आत्मा ।। काकूं करूं प्रनाम ।। ५ ।।
भरचो वेद सिद्धान्त जल ।। जामे अति गंभीर ।।
अस विचार सागर कहूं ।। पेषि मुदित ह्व धीर ।। ६ ।।
सूत्रभाष्य वार्तिक प्रभृति ।। ग्रंथ बहुत सुरबानि ।।
तथापि मैं भाषा करूं ।। लषि मति मन्द अजानि ।। ७ ।।

टीका—यद्यपि सूत्र भाष्य वार्तिक प्रभृतिकहीये आदि लेके ।। सुरबानि कहिये संस्कृत ग्रंथ बहुत हो ।। तथापि संस्कृत ग्रन्थन सैं मंदबुद्धि पुरुषन कों बोध होवै नहीं ।। औ भाषा ग्रन्थन सैं मंदबुद्धि पुरुषन कूंबिबोध होवे हैं ।। यातैं भाषा ग्रंथ का आरंभ निष्फलनही ।। किंतु संस्कृत ग्रंथन के विचारनै विषे जिनकि बुद्धि समर्थ नही है ।। तिनके निमित्त ग्रंथ का आरंभ सफल है ।। ८ ।।

दोहा—कविजनकृत भाषा वहुत। ग्रंथ जगत विख्यात ।।
बिन विचार सागर लषै। नहि संदेह नसात ।। ८ ।।

अन्त की पंक्तियाँ—दोहा ।। तर्क द्रष्टि के बैन सुनि। सो बोल्यो वुध संत ।।
जो मो सूतें यह कह्यो। सोई मुष्य सिद्धांत ।। २३ ।।
संसै सकल नसाययुं। लष्यौ ब्रह्म अपरोछ ।।
जग जान्यौ जिन सब असत। तैसैं बन्धरुमोछ ।। २४ ।।

शेष रह्यो प्रारब्ध यूं ।। इच्छा उपजी येह ।।
चलि तत्काल हि देषि यें । जननि जनकजुत गेह ।।२५।।

टीका—ज्ञानी का सकल व्यवहार अज्ञानी की नाईं प्रारब्ध सें होवैं हैं ।। यह पूर्व कही है या तें इच्छा संभवे है ।। और कहूं सास्त्र मैं अैसा लिष्या है ज्ञानी कूं इछा होव नही ।। ता का यह अभिप्राय नही ।। ज्ञानी का अंतःकरण पदार्थ की इछा रूप परिणाम कूं प्राप्त होवै नही काहे तें अन्तःकरण कै इछादिक सहज धर्म हैं ।। औ अंतः-करणयद्यपि भूतन के सत्वगुण का कार्ज कह्या है ।। तथापि रजोगुण तमोगुण सहित सत्वगुण का कार्ज है ।। केवल सत्वगुण का नही केवल सत्वगुण का कार्ज होवै तौ चलस्वभाव अंतःकरण का नही हुवा चाहिये ।। तैसे राजसी वृत्ति काम क्रोधादिक ।। औ मूढ़तादिक तामसी वृत्ति किसी अंतःकरण की नही हुई चाहिये । यातैं केवल सत्वगुण का अंतःकरण कार्य नही । किंतु अप्रधान रजोगुण तमोगुण सहित ।। प्रधान सत्वगुण वाले भूतनतें अंतःकरण उपजे हैं । यातैं अंतःकरण में तीन गुण रहै है ।। सो तीन गुणकवीपुर्षन के जितनैं अंतःकरण है ।। तिन में सभ नहीं किन्तु नून अधिक है ।। यातैं गुणोन की नूनता अधिकता सैं सर्व के विलछण स्वभाव है ।। इस रीति सें तीनू गुण का कार्य अंतःकरण है ।। जितने अंतःकरण रहै उतनै रजोगुण का परिणामरूप इछा का अभाव बनै नहीं ।। यातैं ज्ञानी कूं इछा होवै नहीं ताका यह अभिप्राय है ।। अज्ञानी औज्ञानी दोनू कूं इछा तो समान होवे है ।। परन्तु अज्ञानी तो इछादिक आत्मा के धर्म जानै है ।। और ज्ञानी कूं जिस काल में इछादिक होवै है तिस कालमैंवीआत्मा के धर्म इछादिकन कूं जानै नहीं किंतु काम, संकल्प सन्देह राग द्वेष श्रद्धा भय लज्जा इछादिक ।। अंतःकरण के परिणाम है ।। यातैं अंतःकरण के धर्म जानै है । इस रीति सें इछादिक होवै वी हैं ।। आत्मा के धर्म इछादिक ज्ञानीकूं प्रतीत होवैं नहीं । या तें ज्ञानी में इछाका अभाव कह्या है ।। तें सें मनबानी तन सें जो व्यवहार ज्ञानी करै ।। सो सारा ज्ञानी कूं आत्मा में प्रतीत होवै नहीं ।। किंतु सारी क्रियामनबानीतनमें हैं ।। औ आत्मा असंग है यह ज्ञानी का निश्चै है ।। यातैं सर्व व्यवहार कर्त्ता बीज्ञानी अकर्ता हैं ।। इसी कारण तें श्रुति मै यह कह्या हैं ।। ज्ञान तें उत्तर किये जो वर्तमान सरीर मै सुभ असुभ कर्म ।। तिन कै फल पुण्य पाप का संबंध होवै नहीं ।। प्रारब्धबल तें अज्ञानी की नांई सर्व व्यवहार और ताकी इछा संभवे है ।। सुभ संतति नाम राजा कूं त्यागि कै तीनूं पुत्र निकसे ।। तहाँ पुत्र की कथा कहीं अबपिता का प्रसंग कहैं है ।।

दोहा ।। पुत्र गयेलाष गेहतें पितुचित उपज्योषेद ।।
सूनो राजनतिनतज्यो ।। नहिजथार्थ निर्वेद ।।२६।।

टीका ।। पुत्र ग्रहतें निकसे तब राजा कूं तीव्र वैराग्य कै अभाव तें ।। तिनके वियोग कादुःहुवा तैं से मंदवैराग्यहु .... ।

विषय—दर्शन। निर्गुण-साहित्य।

टिप्पणी–(१) यह ग्रंथ खंडित है। पुष्पिका (अन्त) के पृष्ठ खंडित होने के कारण ग्रंथकार, लिपिकार, टीकाकार के सम्बन्ध में तथा इनके काल आदि किसी भी बातों का संकेत नहीं मिलता है। ग्रंथ के मध्य में भी यथासंभव कोई परिचयात्मक संकेत नहीं दिया हुआ है। अतः नहीं कहा जा सकता कि इसके लेखक और लिपिकार कौन हैं और उनका समय क्या है?

(२) इस ग्रंथ में श्री दादू के निगुर्ण-दर्शन की बड़ी सुन्दर तथा सारगर्भ विवेचना की गई है। ग्रंथकार ने दोहे और चौपाइयों में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह सधुक्कड़ी भाषा कही जा सकती है। इसकी भाषा में स्थान–स्थान पर 'ब्रज का और यत्र-तत्र 'अवधी' का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे—

"जन्म मरन गमना गमन॥ पुण्य पाप सुष वेद॥ निजस्वरूप मैं भान ह्वै॥ भ्रांति विषानी वेद" ॥१००॥ (पृष्ठ ६१) में 'भान ह्वै' और 'विषानी वेद' ब्रज भाषा का शब्द है। और इसी प्रकार 'शिष्य कह्यो जो तोहि मैं॥ सर्व वेद को सार॥ लहै ताहि अनयासही॥ संसृतिनसै अपार'॥१२॥ (पृ० १५६) में कह्यो, 'ब्रज' का और तेहि, लहै, आदि 'अवधी' का प्रतीत होता है। इससे ज्ञात होता है कि ग्रंथकार अवश्य अवध या व्रज के निवासी हैं। टीकाकार ने भी प्रायः ऐसी भाषा का ही प्रयोग किया है। 'यातैं' और 'ताकूं' के प्रयोग का तो बाहुल्य है ही, अन्य सधुक्कड़ी शब्दों का भी प्राचुर्य है।

पूरा ग्रंथ सात तरंगों में विभक्त है। तरंगों के अनुसार निम्नलिखित प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) साधन और स्वरूप वर्णन,–(२) अनुबंध विशेष निरूपणम्, (३) गुरुशिष्यलक्षणम्, गुरुभक्तिप्रकारनिरूपणम्, (४) उत्तमाधिकारी उपदेश निरूपणम् (५) वेदादि व्यावहारिक प्रतिपादन मध्यमाधिकारी साधन वर्णनम् (६) गुरु वेदादि साधन मिथ्यावर्णनम् (७) उत्तम, महायमक निष्ठाधिकारी वर्णनम्॥

ग्रंथकार दादू मतावलंबी और दादू के परम शिष्यों में थे। इन्होंने ग्रंथ में यत्र-तत्र गुरु शिष्य के रूप में अपने को दादू के साथ संकेत किया है। जैसे—'दादू दिनदयाल जूसतसुषपरमप्रकास। जामैं मति की गति नही सोई निश्चल दास', तन मन धन बानी अरथी जिहीं सेवत चितलाय सकल रूप सो आप हैं दादू सदा सहाय" और "ओंकार को अर्थ लिपि भयोकृतार्थ अदृष्टि पढ़ैजुयहितरंग तिंहिं दादू करहुसुद्रष्टि" में दादू दास के नाम की बार-बार चर्चा की है। यद्यपि ग्रंथकार के नाम की चर्चा न तो ग्रंथके आदि में और न अन्त में किन्तु दो स्थानों में नाम दिये गये हैं जो अनुसन्धायकों के लिए विवेच्य हैं। पृ० ३३ में (जा मैं मति की गति नही सोई निश्चलदास) और पृ० १३० के सोरठे के अन्तिम चरण में—('सूत्र को बनाइ जाल बन को विभाग कीन्ह करन प्रनामताहि निश्चल पुकारिकौ") दो बार 'निश्चल' नाम आया है जो स्पष्टतः ग्रंथकार के नाम की ओर संकेत कर रहा है। ग्रंथ में, दोहे, चौपाई,

सोरठा के अतिरिक्त इन्द्रवज्रा आदि छन्दों तथा दृष्टान्त, परिसंख्या आदि अलंकारों में रचना की गई है। पृ० सं० १३१ में अर्द्धदोहा—'सतचित् आनंदएकतूं; ब्रह्म अजन्म असंग'—में रचना है।

(३) ग्रंथ की लिपि प्राचीन किन्तु स्पष्ट है। लिपिकार के सम्बन्ध में प्रारंभ, मध्य या अन्त में कोई भी संकेत नहीं है। लिपि पत्थरों के अक्षरों की (लीथो) जैसी है। लिपिकार ने दीर्घ ऊकार की मात्रा को अक्षरों के नीचे न देकर बगल में (अक्षर के वाद) दिया है।

(४) ग्रंथ की टीका अत्यधिक विस्तृत और जटिल है किन्तु टीकाकार का श्रम श्लाघनीय है। मूल ग्रंथ को टीकाकार ने बहुत बढ़ा दिया है। ग्रंथ विवेच्य और पठनीय है। ग्रंथकर्ता का 'निश्चल दास' नाम भी नवीन-सा प्रतीत होता है। ग्रंथ की विवेचना के पश्चात् दादू पंथ के साहित्य पर नवीन प्रकाश पड़ सकता है।

यह ग्रंथ अनीसावाद, गर्दनीवाग, पटना निवासी श्री अखौरी गुरुशरण प्रकाश जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

[७०] शब्दावली—ग्रंथकार—श्री कवीर साहब। लिपिकार—श्री साधु प्रकाश अखौरी। अवस्था—अच्छी। पृ० १८६। प्र० पृ० पं० लगभग २०। आकार—६$\frac{१}{८}$"×८$\frac{१}{४}$"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ की पंक्तियाँ—संतो गगन मंदिल लागि तारा ॥

खोलेंगे कोई संत जौहरी, कोटिन मद्ध विचारा ॥ टेक ॥
प्रथमहि सोहंग ध्यान लगावे, ताविच सुरत करे पैठारा।
तव आगे की संध दीजिए, ता भीतर निज रूप हमारा ॥१॥
मंदिर भीतर ुर्ष बिराजें, कुल्फ तीन तहां अगम अपारा।
ताकी कुंजी गुरु गम माहीं ज्ञान ग्रंथ सो न्यारा ॥२॥
जुग भर जोग समाध लगावे, कोटिन करे बिचारा।
पुर्स रूप कवहूं नहीं दरसे, जो गुरु मिलैं न सारा ॥३॥
जब गुरु बहिया मिलै कृपानिध, निज का भेद सुधारा।
तवे हंस को मारग सुझे, खोले कुलुफ केवारा ॥४॥

अन्त की पंक्तियाँ—रागदेवगंन्धार ॥

मनुआ राम के व्योपारी अव कै खेटाभत्कती लादो बनीज कीयो ते भारी ॥
पांच चोर सदा मगरोके इनसे करतु छुटकारी ॥
सतगुरु नायक के संग मीली चलुलादस कैन हारी ॥
छोट गमार मारग माही मोलेगे एक कनक एक नारी ॥
सावाधान होइ पेंचन खइयो रहो आप सम्भारी ॥
हरी के नगर जाइ पहुचोगे पइहो लाल अटारी ॥
चरनदास ताको समझावे राम न मीले रामवासी ॥

विषय—कबीर-साहित्य।
टिप्पणी—यह ग्रंथ श्री कबीर दास, श्री धर्मदास और श्री चरणदास प्रभृति संतों के शब्दों, वाणियों का संग्रह प्रतीत होता है। यह कोई मौलिक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। श्री अखौरी साधुप्रकाशजी ने अपने जीवन काल में कबीर-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पदों को एकत्र कर दिया है। इसमें कई पद प्रकाशित प्रतीत होते हैं। श्री कबीर साहब के बाद एक परंपरा-सी रही है कि कबीर पंथी साधुओं ने दार्शनिक पदों को रच कर अपनी ओर से उसमें कबीर साहब का नाम जोड़ दिया है। यह ग्रंथ भी उसी प्रकार का प्रतीत होता है। ग्रंथ में लिपिकार ने लिपिकाल का संकेत नहीं किया है। लिपि स्पष्ट और सुन्दर है।

यह ग्रंथ अनीसाबाद, गर्दनीबाग, पटना निवासी श्री अखौरी गुरुशरणप्रकाशजी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

[७१] **कबीर भानुप्रकाश**—ग्रंथकार—श्री परमानंद दास। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन-जीर्ण-शीर्ण। पृष्ठ—५४२। प्र० पृ० पं० लगभग—२३। आकार—६"×६¾"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—ज्येष्ठ शुक्ल, एकादशी सं० १९३५ वि०। लिपिकाल—सं० १९३९ वि०, १८८३ ई०।

प्रारंभ की पंक्तियाँ—उों सत्तनाम। अथ लिख्यते ग्रंथ श्री कबीर भान प्रकाश प्रथम पूर्वार्ध भाग जम्बूद्वीप भरथ खंड को सर्व रात्री धर्मानि कथा बर्ननं कबीर भानु अस्त संध्या बंदन छंद सिखरणी।

कबीरंभानंभींकरनिकरज्ञानंविधिमयं परस्थाने थीरंजगत गुरपीरं निधिनयं
महातेजोरासं वदनबदनासं नृप नृपा प्रतापं तापंता दनुज दलदापंतव कृपा १
तरंतं तारंतं लहतजनसारं वसुमती महत्त्वं पारंतं अकथित अनंतंपसुपती
सुराधीसं धीसं ह्रियतिमिपीसंजगजये भवं भावं भंगेरतिरकरुनामय पगपगे २
जनकंजरं····दर सभ्रमभंजंसतहितं निहारं हारंहातिमिरहरपारंगतछितं
सतीसूतंसातं विलग विलगातं दिनकरा जती भोगं भागंगत विगतभागं किनकरा ३
प्रजा पीड़ा ब्रीडाघनतिमिर क्रीडामहिमहाहते मुद्रानिद्रा समदमन क्षुद्रागतिगहा
सतो संगंरगंवसतप्रसंगंभसकरा उमंगं अंगं ये कसमस अनंगं तसकरा ४
नमस्कारंकारं क्रमरक्रमकारंककृते बवंवंदेवंदेभनत भवफंदेबबवृते
रमं रामंरम्यं ररतररकल्यान करनं प्रनम्यंतौपीष्टे परमपरमीष्टेत्रवरतं
इति सिखरनीछंद

अथ कबीर भान वियोग सवैया—

सत नाम व्रतीवरसंतसती दिन अंत भयेभगवंत पयाना
जगनैन महा सुख दैनदुरे धरिधीर धरोपदपंकजध्याना
दृढ़ इंद्रिनदौन तेमौनगहो थिर आसन हो अनुसासन माना
यहिसं धिसचेत-सतो गुनते सतधारहि ये सत रूप समाना १

अन्त की पंक्तियाँ—जिनकी नेह नाथ चरणन की और उपायन विसरणन की
लाज करे अपने परणन की दीन देखिदेनिजुपुरबासा ५
आरति हंस अमरपुर गाये इच्छा मूल अकूर सुभाये
सहज सोहंग अचिंत पै आये अक्षरहू बने जाको दासा ६
सुरनर प्रभु आरति कीने धर्मदास गरतीन सहीते
गावै संत महंतसप्रीते परमानंदबितीजमत्रासा ७ इति आरती ।।

विषय—कबीर-साहित्य ।

टिप्पणी—यह ग्रंथ कबीर साहब के विचारों का एक लघु संग्रह तो है ही साथ ही ग्रंथकार ने इसमें अपने मौलिक विचार भी दिये हैं। जहाँ कबीर के दार्शनिक पक्ष की उत्तम विवेचना की गई है, वहाँ, ईसाई, मुहम्मदी, कादियानी, स्मार्त्त, शाक्त, शैव, वैष्णव, वाममार्गी आदि विभिन्न मतों और विचारों की भी परिचयात्मक आलोचना की गई है। ग्रंथ विवेच्य और पठनीय है।

ग्रंथकार ने ग्रंथ के अन्त में लिखा है—

"सत गुरु की दायामय पूरी लिख्यौ धर्म जो भूतल भूरी
रच्यौजोतिजुहि यहुवा हुलासा ग्रंथ कबीर भानु प्रकाशा
पंडित जनसे विनय हमारी भूलचूक जौकतहु निहारी
टूटै अक्षर जह लखिपाई सो सुधारि कै पढ़ैवनाई"

इसमें ग्रंथकार ने, 'लिख्यौ धर्म जो भूतल भूरी' कह कर स्वयमेव समस्त धर्मों के परिचय के सम्बन्ध में ग्रंथ का अभिप्राय व्यक्त किया है। ग्रंथ में स्थान-स्थान पर, कबीर, बुल्लाशाह प्रभृति विद्वानों तथा योगवाशिष्ठ, वेदान्त, दर्शन, न्याय दर्शन आदि की उक्तियों को साक्षी रूप में रखकर अपने मन्तव्य की पुष्टि की गई है।

जैसे—पृष्ठ सं० ३८४ देखिये—

'सक्त कबीर बचन० साक्षी० 'कबीर कबीर तु क्या करो साधो आपन शरीर
पांचो इंद्री वश करो तुमहीदासकबीर०'

बुल्लेशाह बचन०—'काम क्रोध लोभमोह हंकार पंजों कछबोजूदोमार
इन्हा करनी है बदबो बुल्ला आपै अल्ल हों'

रामानंद बचन० (पृष्ठ सं०–१७२)—पढ़ि पढ़ि राते गुनि गुनिमति हृदया सुद्धनहोई०

जबूर में अैऊब के वृत्तांत में—"चतुरन की चतुराइ को प्रभु मिथ्या करडार
निजुमनोरथ निजु करन ते सके न कबहु संवार
विद्वन को चातुरी में राखत सदा फसाय
टेढे तिरछे लोग मत सिर की बल डलटाय"

ग्रंथकार ने ग्रंथ के अन्त में ग्रंथ और अपने विषय में लिखा है—

"संम्वत उन्निस सौ पैतीसा शुक्ला यकादशी तिथि दीसा
मंगल अरु ज्येष्ठ महीना तादिन ग्रंथ समापति कीना
महि पंजाब देश के माही शहर फिरोजपुर यक आही

नग्रमुक्तसरतहयक अहई दोदा ग्राम निकटतेहिकहई
ताहि ग्राम मे जब आसीन। भजनध्यान प्रभु के लौलीना
ग्रंथ रचन गुर आज्ञा पाई लिख रच धर्म कथा समुझाई
जेते अक्षर लिखे बनाई जो कोई घटि बढ़ि नाहि मिलाई
सोगुर सन्मुख लेखा भरिहे भिन्य भेद जो कोई करिहै.... इति...

ग्रंथ की लिपि पत्थरों के अक्षरों (प्राचीन लीथो) की प्रतीत होती है। लिपि स्पष्ट है। यह ग्रंथ अनीसाबाद, गर्दनीबाग, पटना निवासी श्री अखौरी गुरुशरण प्रकाश जी केसौजन्य से प्राप्त किया।

[७२] **रासमाला—ग्रंथकार**–श्री केशवानन्द गिरि। लिपिकार–श्री लक्ष्मण तिवारी। अवस्था–अच्छी, प्राचीन-देशी कागज। पृष्ठ–१४। प्र० पृ० पं० लगभग–२४। आकार–५"×६१/२"। भाषा–हिन्दी। लिपि–नागरी। रचनाकाल–×। लिपि-काल–सं० १६४६ वि०।

प्रारंभ की पंक्तियाँ–चूचचोला० लिलूलेलो अ १ मेषंस्वामीभौम ।। इ उ ए ओ वा वि वु वे वो।। वृष रासि क कि कुघ ङ ६ क को ह मिथुन ही हु हे हा ढाडी डु डे डो कर्क म मि मु मे मो टा टी ठु ठे सिंह टौपपीपुषणठेपेपो कन्या ररिरुरेरोतातीतूते तुला ७ तो न निनु ने नो जाजिजु वृश्चिक ८ जेजोभभिभुधफुठभे धन ६ भोजजी षीबु षेषो गगि मकर १० गुगे गोशा सिशुशेशोद कुंभ ११ दिदुथझ ञा देदो चची मीन १२

अथ प्रथमे मेषरासि वर्णन। दोहा।

मेषरासिहै जाहि किताकर मीठ सुभाव
अन्तर झूठ फरेब बहु बाहर कपट बनाव ८

अन्त की पंक्तियाँ–सुनो नवे वृश्चिक का हाल। सफर करै बहुमाल न पावै।
खर्च खाय खालि घर आवै। दसमे धन जूवो करी करै।।
तहनुकसान उठाना परै।। एकादशें मकर का भेद।
मंनकि पुजै सकल उमेद। द्वादस कुंभ जो वैठे पास
सो दुश्मनी करैगा खास। मुख पर करै खुशामद तेरो समान ठीक में।। पतित खरो।।
वुडत हो मझधार सिधु भव जल ते बेड़ा पार करो।।
कर्म प्रधान विश्व मे जौ ता कृपा करो यह अर्ज कहौं।।
तु मे कर्म नावाधै है।। अपकर्म कर्म सुवं तुमी गहो।
जो करनी जोकी सोई भोगै तौ एक नाम निहोर सुनी।
मै तो हहौ अवधुत संन्यासी सुभ औ सुभ न एक शुनो।।
इति श्री योतिषसार निर्णय भाषा छन्द में रासि माला वनाइ।
कशवानन्द गीरी संन्यासी अवधूत मे ठिकाना वड़ी गैवी।। शुभमस्तु

विषय—ज्योतिष् शास्त्र।

टिप्पणी—(१) ज्योतिष् शास्त्र से सम्बन्धित, दोहा, चौपाई और सोरठा में लिखित यह ग्रंथ बड़ा ही अच्छा है। इस ग्रंथ में सभी राशियों के संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त

उनके फलाफल, राशियों का एक-दूसरे से अन्योन्य सम्बन्ध, राशिस्वामी का प्रभाव तथा राशि के द्वारा होनेवाली विपत्तियों के निराकरण का समुचित समाधान अत्यन्त संक्षेप में दिया है। रचना सरल और पठनीय है।

२—ग्रंथ की लिपि पुरानी और अस्पष्ट है। लिपिकार देवली क निवासी हैं। जैसा कि 'शम्वत १९४९ में पुस्तक लीषीतं लक्षुमन तिवारी देवली ....।' लिखा है। लिपिकार ने सर्वत्र 'ख' के लिए 'ष' और 'ज' के लिए 'य' का प्रयोग किया है 'ढ' की आकृति 'ठ' जैसी है। 'स' के लिए 'श' का व्यत्यय तो प्रायः संपूर्ण ग्रंथ में है। यह ग्रंथ शंकरवार टोला, मोकामा निवासी पं० श्री केशव प्रसाद शर्मा के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

[७३] ज्ञानरतन—ग्रंथकार—श्री दरियासाहब। लिपिकार—बालकदास। अवस्था—अच्छी, पुराना, मोटा देशी कागज। पृष्ठ—१०८। प्र० पृ० पं० लगभग—४०। आकार—६"×९½"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—अगहन शुक्ल, पंचमी सन् १२१६ साल।

प्रारंभ की पंक्तियाँ—सतनाम। गरथ ग्यान रतन भाखल दरीआसाहब सतगुर सुक्रीतनूक उवारन साहब बंदीछोर प्रुखपुरान साहब जींदासाहब प्रुखपुरान साहब
ग्यानरतनमनीमंगल वीमलसुघानीजुनाम करोवीवेकवीचारी के जाये अमरपुरघाम
वीमलनाममनीमस्तकटीका वीनावीवेक भेखसभफीका
नीरखीनामनीजुप्रेमसमेता काठीकर्मकलीमंगलहेता

अन्त की पंक्तियाँ—छंद नाराच। होशुखसागरशभगुनआगर नीगतीशभोवरनी शन्तपतालही
जेवोदीनेसदीनहोधरनी जलमेथलमे
कालवीभंजनमंजनमैलीं शंतवृजन की फीकी करनी
दरीआदासदेखीवीचारी कहा जीमीशालीशुखेजलहोभरनी ।।
शोरठा। जेबोध नीज लभाः नामवीमलगुनवीमल है
समुझीपकरीऐवाही भवनाहीवुरेजहाजअह

विषय—निर्गुण दर्शन।

टिप्पणी—यह ग्रंथ बिहार के कबीर प्रसिद्ध संत श्री दरियासाहब का है। इसमें श्री दरियासाहब के दार्शनिक विचारों का संग्रह है। ग्रंथ के लिपिकार श्री बालकदासजी ने ग्रंथ के अन्त में दरियापंथ के अन्य अनेक साधुओं के नाम तथा परिचय देते हुए लिखा है—
"गरंथ शपुरंन लीखलभइलग्यानरतन सतगुरुदरीआसाहब जो भाखलसो भाखलबाल-कीस्नदास दरीआसाहब के फकीर अपना दशतका साहबंदभइल साहब का सलाम परुमेदस्तजोरीपरा·······
मीती अगहनसुदीपंचमी सुभदीनबुध के पुरनगरंथभइल। गंगादास की हार·····।"

इससे श्री दरियासाहब के बाद उनके दो शिष्य श्री बालकृष्णदास और श्री गंगादासजी का पता चलता है।

यह ग्रंथ दीवान मुहल्ला दुल्लीघाट, पटना सिटी निवासी श्री बा० मोतीलालजी 'आर्य' के द्वारा प्राप्त हुआ।

[७४] आत्म-प्रबोध—ग्रंथकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—जीर्ण-शीर्ण, प्राचीन, हाथ का बना, देशीकागज। पृष्ठ—९५। प्र० पृ० ०लगभग २४। आकार–६"× १२"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल–×। लिपिकाल–×।

प्रारंभ की पंक्तियाँ—जजुरवेद की साखा द्वारा सोसागर में राम आत्मा को चाहता है
सो इस आत्मा आपणो आप प्रसिद्ध की वेदने भी उपमा भारी कही है ।।
सो अब आत्मा हमको भूल गया है ।। सो तिसकी ग्यातवासतेमतन्न कीया चहता है।
शिष्योवाच। हे गुरो आगे प्राथने यह कहा था।। जो राम आत्मासुख तुरीया है
सोए तेरा स्वरूप है ।। सो अब जिस प्रकार इस अथणे आप सुधस्वरूप को जाणे।
सोद्दी प्रकार आप क्रिपा जणाईये।
श्री गुरोवाच। हे शिष्य जो तुम्हारा आप सुधस्वरूप है सो तिसको तुम असा भूला है।
तीन इस्थानो विषे आयके। सो जिस प्रकार इनिने तुमको जीवभावविषे कीया है
सोसुण।। सो तीन स्थान यह जाग्रत सुप सुषीप्त।। सो सात को······।

अन्त की पंक्तियाँ—स्वान की न्यायी भटकता रहता है। सोतिसपुर्षकों····
की न्यायी कछु खबर नहीं पड़ती इम ब्रह्मांड की।
सो इस संसार विषेसुभक्या है असुभक्या है।
सोय सुकी न्याई आयके फिर चला जाता है।। सो इसलेय ब्रह्मांड ध्यान के आसरे है।।
सो जिस पुर्ष को इसका ज्ञान नही।। सो उसलेखे कछु है नही।।
हे नारद सो इस ध्यान का आत्मा भीभूऔर है।।
हे प्रभो सो अब इस ध्यान का आत्मा और कौन होवेगा
सोचित की इकागरता बिना कछू सिध नहीं होता।।

विषय—दर्शन।

टिप्पणी—यह ग्रंथ खंडित है। प्रारंभ में एक पृष्ठ नहीं होने के कारण ग्रंथकार और लिपिकार के नाम तथा काल आदि का पता नहीं चलता है। ग्रंथ के मध्य में भी यथासंभव कहीं भी इनका संकेत नहीं मिलता है। ग्रंथ भागवत महापुराण के आधार पर लिखित प्रतीत होता है। ग्रंथ में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में, ईश्वर, जीव, आत्मा, मृत्यु, मोक्ष, जीवन, बन्धन, पाप, पुण्य और कर्म-अकर्म की सुन्दर विवेचना की गई है। बीच-बीच में दृष्टान्त देकर प्रतिपाद्य विषय को समझाया गया है। यत्र-तत्र, नारद, उद्यालक, श्वेतकेतु, जाबालि आदि ऋषियों के नाम तथा परस्पर के वार्तालाप की चर्चा है। ग्रंथ मननीय तथा अनुसंधेय है। ग्रंथ की भाषा सधुक्कड़ी तथा पंजाबी से मिलती-जुलती है। ग्रंथ में 'न' के लिए 'ण' का तो प्रयोग है ही 'इ' और 'ई' के लिए ह्रस्व और दीर्घ मात्रा लगाकर 'इ,' 'ई' का प्रयोग है। विषय का प्रतिपादन गद्य में किया गया है। ग्रंथ की लिपि, अस्पष्ट और प्राचीन है। यह ग्रंथ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ, छपरा के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

[क्रमशः]

जैनागम-ज्ञाता-सूत्र में द्रौपदी-चरित्र

श्री अगरचंद नाहटा

श्वेताम्बर जैन साहित्य में 'अंग' संज्ञक आगम सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक माने जाते हैं और उनको स्वयं महावीर-प्ररूपित कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी उनका लेखनकाल वीराब्द ९८० है। अतएव अंग साहित्य में द्रौपदी के सम्बन्ध में जो कुछ बातें पाई जाती हैं, वे विशेष महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं। कम-से-कम आगम-लेखनकाल में वे बातें उस रूप में प्रसिद्ध थीं, यह तो मानना ही पड़ेगा। इस लेख में छठे अंग 'ज्ञाता' सूत्र के सोलहवें द्रौपदी-अध्ययन का सार दिया जा रहा है। आशा है, पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह उपयोगी प्रतीत होगा। मूल ग्रंथ में द्रौपदी के पूर्वभवों का भी सविस्तर वर्णन है जिससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि किस कारण उसके पाँच पति हुए। परन्तु विस्तार-भय से पूर्वभवों के वृत्तान्त इस लेख में नहीं दिये गये हैं और इसी प्रकार कृष्ण के विशेष वर्णन और नारद के परिचय को भी संक्षिप्त कर देना पड़ा है। धातकी खण्ड के कपिल वसुदेव एवं कृष्ण के परस्पर शंख-ध्वनि द्वारा मिलने के वर्णन को भी अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया है। अतः विशेष जिज्ञासुओं को मूल-ग्रंथ ही पढ़ना चाहिए।

जन्म एवं विवाह

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के पंचाल देश में कम्पिल्लपुर नगर था। वहाँ के नरपति द्रुपद के चुलणी रानी थी। उसके धृष्टद्युम्न नामक युवराज पुत्र और द्रौपदी नाम की पुत्री थी। द्रौपदी के यौवन में प्रवेश करने पर राजा ने स्वयंवर मंडप की रचना की एवं दूतों को आमंत्रण के लिए भेजा। प्रथम दूत, समुद्रविजयादि के साथ द्वारकावासी श्रीकृष्ण को; द्वितीय, हस्तिनापुर के पाँचों पाण्डवों के साथ पाण्डु राजा को, एवं सौ भ्राताओं के साथ दुर्योधन को, तथा गांगेय, विदुर, द्रोण, जयद्रथ और अश्वत्थामा के साथ क्लीब शकुनि को; तृतीय, चंपा नगरी के अंगराज कर्ण सेल्लक और नंदी राजा को; चतुर्थ, पांच सौ भ्राताओं के साथ शुक्तिमती नगरी के राजा शिशुपाल (दमघोष के पुत्र) को; पंचम, हस्तिशीर्ष नगर के दमदंत राजा को; षष्ठ, मथुरा के धर राजा को; सप्तम, राजगृह के राजा जरासंध के पुत्र सहदेव को; अष्टम, कुंडिन नगर के भीष्मक के पुत्र रुक्मी राजा को और नवम दूत, सौ भ्राताओं के साथ विराट् के पुत्र कीचक राजा को आमंत्रित करने के लिए विदा हुए। इनके अतिरिक्त अन्य सौ दूत अवशेष ग्राम-नगरों के राजाओं को द्रौपदी के स्वयंवर में आमंत्रणार्थ भेजे गए।[1] आमंत्रण पाकर कृष्णादि बहुत से राजा वहाँ पधारे। द्रुपद राजा ने गंगा नदी के पास अनेक स्तंभों पर क्रीड़ा करती हुई पुतलिकाओं वाला सुन्दर स्वयंवर-मंडप बनाया।

१. इससे तत्कालीन राजाओं के नाम आदि का पता चलता है।

कृष्णादि अतिथियों को ठहरने के लिए अतिथिगृह बनाये गये थे। उनमें आगत अतिथियों को ठहराया गया। चारों प्रकार के आहार मद्य, मांस[१], पुष्प, वस्त्र, गंध, माला अलंकारादि से वासुदेवादि की भक्ति की।

नियत समय पर स्वयंवर के समय की उद्घोषणा की जाने के बाद राजवर्ग स्वयंवर में आकर द्रौपदी की प्रतीक्षा करते हुए अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। द्रौपदी भी स्नान, नित्य पूजा आदि कर दासियों सहित अंतःपुर से निकल उपस्थान-शाला में जाकर चार घंटियों वाले अश्व-रथ पर बैठी। धृष्टद्युम्न कुमार ने सारथी का कार्य किया। इस प्रकार स्वयंवर-मंडप में जाकर द्रौपदी ने वासुदेवादि सबको प्रणाम किया। सुरपा दासी ने बायें हाथ में स्वच्छ दर्पण रखा। जिसमें राजाओं का प्रतिबिंब दीख सके और दाहिने हाथ से उनका परिचय कराने लगी। उसने प्रथम यादव वंशीय दशार्हों का, फिर उग्रसेन आदि राजाओं का गुण-वर्णन किया। द्रौपदी यह सब सुनती हुई जब पाँचों पांडवों के समीप पहुँची तो पूर्व-भव के आदि कारण से उसने पाँचों पांडवों के गले में पंचवर्णी माला डाल दी और कहने लगी—'मैंने इन पाँचों पांडवों को वरा'। यह सुनकर कृष्ण वासुदेवादि हजारों राजाओं ने भी जोरदार शब्दों में कहा—'हे द्रौपदी! तूने अच्छा वर वरण किया।' तदनंतर आगत सभी व्यक्ति अपने-अपने घर चले गये।

उधर धृष्टद्युम्न कुमार ने चार घंटियों वाले अश्वरथ पर द्रौपदी और पाँचों पांडवों को बैठाकर कम्पिल्लपुर के मध्य में होते हुए उन्हें अपने भवन में उतारा। द्रुपद राजा ने द्रौपदी के साथ पाँचों पांडवों को पट्ट पर बिठाकर श्वेत, पीत, कलशों से स्नान करवाया फिर अग्नि में होम करके पाँचों पांडवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण करवाया। प्रीतिदान में द्रुपद राजा ने आठ करोड़ हिरण्य, आठ दासियाँ एवं विपुल धन, कनक दिया तथा वासुदेव आदि अग्रज राजाओं को भोजनादि से सम्मानित कर विदा दी।

तब पांडु राजा ने वासुदेवादि राजाओं से प्रार्थना की कि आप लोग हस्तिनापुर पधार कर पाँचों पांडव और द्रौपदी के कल्याणकारी विवाहोत्सव में सम्मिलित होवें। पांडु राजा के आग्रह से वासुदेवादि भी हस्तिनापुर पधारे। वहाँ पांडु ने भी पाँचों पांडव और द्रौपदी को पट्ट पर बिठा कर पूर्ववत् उत्सव किया एवं कृष्णादि को भोजनादि से सत्कृत कर विसर्जित किये। पाँचों पांडवों के लिए अलग-अलग महल बनवाये गये। उनमें वे द्रौपदी के साथ अपने निश्चितकाल के क्रमानुसार भोग भोगने लगे।[२]

नारद-आगमन और द्रौपदी-अपहरण

एक समय पांडु राजा, पाँचों पांडव, कुंती, द्रौपदी आदि परिवार के साथ अन्तःपुर में सिंहासन पर बैठे हुए थे, इतने में ही नारद वहाँ पधारे। वे कई विद्याओं में सिद्धहस्त, देखने में सुरूप, अति भद्र, विनीत और हृदय के अकलुषित, हाथ में कमंडलु,

१. इससे कृष्णादि का मांसभक्षी होना सिद्ध होता है। नेमि-विवाह के लिए पशु-संग्रह किया गया। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।
२. सूत्र में इस घटना का अति स्वाभाविक ढंग से वर्णन किया गया है। जो विचारणीय है।

एवं कच्छपी, वल्कल पहिने, मृगचर्म का उत्तरासन लपेटे, और गले में उपवीत धारण किये हुए थे। वे कृष्णादि के बड़े प्रिय थे।

नारद जी को आते देख पाँचों पांडव, कुंती एवं पांडु राजा खड़े हुए। सात–आठ कदम सामने गये एवं तीन प्रदक्षिणा दे वंदन नमस्कार कर उनकी अभ्यर्थना की। नारद जी भी जल से पृथ्वी को छिड़क दर्भासन पर बैठे और पांडु राजा से कुशल क्षेम पूछा।

पांडु राजा ने नारदजी का सम्मान-सत्कार किया। परंतु द्रौपदी ने इन्हें असंयमी, अविरत जानकर सत्कार नहीं किया। इससे नारदजी ने असंतुष्ट होकर द्रौपदी को विपत्ति में डालने का निश्चय किया।

नारदजी वहाँ से विदा होकर विद्याधर-गति से धातकीखंड की अमरकंबू नगरी में पधारे। वहाँ पद्मनाभ राजा, जिनके सात सौ रानियाँ और सुनाभ नामक युवराज था, उस समय अंतःपुर में रानियों के साथ बैठे हुए थे। उन्होंने नारदजी को आते देख विनय-भक्ति की। नारदजी ने उनसे कुशल-क्षेम पूछा। वार्ता-प्रसंग से पद्मनाभ ने गर्विष्ट होकर नारदजी से पूछा कि आप तो अनेक स्थानों में भ्रमण करते हैं। क्या मेरी रानियों के सदृश रूपवती स्त्रियों का समुदाय को आपने किसी के यहाँ देखा है? नारदजी ने मृदुहास्यपूर्वक उत्तर दिया कि "हे पद्मनाभ! पांडवों की पत्नी द्रौपदी के पैर के अंगूठे की समता करने वाली तुम्हारी रानियों में एक भी नहीं है"। (वह ऐसी रूपवती है कि तुम्हारा गर्व निरर्थक है)।

इन वचनों से उत्कंठित होकर पद्मनाभ ने पूर्व परिचित देव की आराधना की। उसने द्रौपदी को सती बताई। परंतु अंतमें पद्मनाभ के आग्रह से उसने युधिष्ठिर के साथ सोती हुई द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा देकर पद्मनाभ के भवन में ला कर रख दिया। जगने पर अपने को अपरिचित स्थान में देख द्रौपदी विस्मित हुई। पद्मनाभ ने उसके हरण का वृत्तांत कहते हुए अपना कुत्सित अभिप्राय प्रकट किया। (समय टालने के लिहाज से) द्रौपदी ने उससे छै मास की अवधि लेकर दो-दो उपवास के पारणे आयंबिल, इस प्रकार तप करना प्रारंभ कर दिया।

इधर थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर ने जगने पर द्रौपदी को नहीं देखा तो चारों ओर तलाश शुरू की और न मिलने पर सारा वृत्तान्त पांडु राजा से निवेदन किया। उन्होंने भी द्रौपदी का पता लगाने वालों को विपुल धन देने की घोषणा करवाई। फिर भी पता न चलता देख उन्होंने कुंती से कहा—'तुम द्वारका में कृष्ण के पास जाओ और उन्हें द्रौपदी के अन्वेषण के लिए निवेदन करो। पति के आदेश से कुंती द्वारका गई और उद्यान में ठहर कर कृष्ण को मिलने के लिए खबर दी। भुवा के आने की खबर जान कर कृष्ण वहाँ आये और हाथी पर कुंती को बैठा कर अपने घर ले गये। स्नानादि कार्यों से निवृत्त हो जाने पर कुंती से आने का कारण पूछा। कुंती ने सारी घटना कहते हुए द्रौपदी का शीघ्र अनुसंधान करने के लिए कहा। श्रीकृष्ण ने इसके लिए आश्वासन देते हुए कुंती को विदा किया। और, पांडु राजा की तरह श्री कृष्ण ने भी उद्घोषणा करवाई।

द्रौपदी का अनुसंधान एवं आनयन

एक बार नारदजी के पधारने पर श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के संबन्ध में उनसे पूछा तो उन्होंने कहा—"धातकी खंडवर्ती अमरकंका राजा के राजा पद्मनाभ के भवन में द्रौपदी के सदृश ही कोई स्त्री देखने में आई थी।" इस कथन से श्रीकृष्ण ने आन्तरिक रहस्य को जानकर नारद जी से कहा कि यह काली करतूत आप ही की प्रतीत होती है। अस्तु :

नारद जी के चले जाने पर कृष्ण ने अपना दूत हस्तिनापुर भेज कर पांडु राजा से कहलाया कि "पाँचों पांडव ससैन्य समुद्र-तट पर जाने के लिए तैयार हो जायँ। और, वहाँ मेरी प्रतीक्षा करें।" इधर श्रीकृष्ण भी वैतालिका के तट पर पहुँचे। वहाँ समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थितदेव की आराधना कर उनकी सहायता से सेना को वहीं छोड़ पाँचों पांडव और श्रीकृष्ण रथों के साथ अमरकंका पहुँचे। राजनीति के पालनार्थ भी श्रीकृष्ण ने अपने सारथी को दूत रूप से पद्मनाभ के पास भेजा। उसके समझाने पर भी न मानने पर पद्मनाभ से युद्ध करना प्रारंभ किया। पहले पांडवों ने युद्ध करने की इच्छा प्रदर्शित की। पर संयोगवश वे युद्ध करते हुए हार गये।

श्रीकृष्ण का नृसिंह रूप-धारण

पाँचों पांडवों ने अपना सारा हाल कृष्ण से कहा तो वे तत्काल रथारूढ़ होकर युद्ध में गये। उन्होंने सर्वप्रथम शंखनाद किया। जिसके श्रवणमात्र से पद्मनाभ का एक तृतीय अंश सैन्य भाग खड़ा हुआ। फिर श्रीकृष्ण ने धनुष्टंकार किया, इससे एक तृतीय अंश सैन्य और भाग गया। इससे हताश होकर पद्मनाभ ने नगर के द्वार बंद कर लिये। यह देख कृष्ण द्वार के समीप आये और वैक्रिय समुद्घात द्वारा नरसिंह रूप धारण कर बड़े जोर से पादास्फालन करने लगे। इससे नगरी में मकान आदि गिरने के कारण हाहाकार मच गया। अतः पद्मनाभ भयभीत होकर द्रौपदी की शरण में पहुँचा। द्रौपदी ने कहा—"अविलम्ब ही स्नान कर भींगी साड़ी पाँवों तक नीची पहिने मुझे आगे कर अन्तःपुर की स्त्रियों और रथों के साथ उनके चरणों में पड़कर शरण लो। वे उत्तम पुरुष हैं, अतः ऐसा करने पर संभव है, वे तुम्हें जीवनदान दे देंगे।"

पद्मनाभ ने अन्य उपाय न देखकर द्रौपदी का कथन स्वीकार किया और वासुदेव की शरण में नमन कर कहने लगा—"मैंने आपका अद्भुत पराक्रम देखा, मेरी भूतकाल की त्रुटियों को क्षमा करें! भविष्य में भूल को हरगिज न दुहराया जायगा। अंत में उसने द्रौपदी श्रीकृष्ण को सौंप दी। श्रीकृष्ण ने भी पद्मनाभ को उपालंभ दिया—"तुमने मेरी भगिनी (सदृश) द्रौपदी का अपहरण करते तनिक भी विचार नहीं किया!, जा चला जा।" श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को पांडवों के सुपुर्द कर दिया।

पाँचों पांडव और द्रौपदी के साथ श्रीकृष्ण लवण समुद्र को पार कर जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र में गंगा नदी के समीप पहुँचे। पांडवों को गंगा के उस पार जाने को कहकर श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ के सुस्थितदेव से मिलने गये।

पांडवों को देशनिकाला

पांडवों ने नौका द्वारा नदी पार की और उस पार जाकर परस्पर कहने लगे कि श्रीकृष्ण इस गंगा नदी को पार करने में समर्थ हैं या नहीं, देखा जाय। ऐसा विचार कर उन्होंने नौका वहीं छिपा दी। श्रीकृष्ण देव से मिलकर आये तब उन्हें नौका नहीं दिखाई दी। अतः एक हाथ में रथादि लेकर, दूसरे हाथ से तैरते हुए गंगा को पार करने लगे। जब नदी के मध्य भाग में पहुँचे तो वे थक गये और विचार करने लगे कि पांडव इस नदी को तैर कर पार कर गये? यदि वे इतने बलवान् हैं तो फिर पद्मनाभ को जीतने में मेरी सहायता की उन्हें क्यों जरूरत पड़ी? श्रीकृष्ण को थका हुआ जान कर गंगा देवी ने वहाँ जमीन बना दी। जहाँ दो घड़ी विश्राम कर श्रीकृष्ण पांडवों के पास जा पहुँचे और अपना पूर्व चिंतित विचार भी प्रकट कर दिया। पांडवों ने सच्ची बात कह दी कि हम तो नौका में आये थे और आपके बल की परीक्षा के लिए हमने नौका छिपा दी है। इस पर श्री कृष्ण अत्यंत क्रुद्ध हुए और कहा—'लो अब तो मेरे बल को पहचानो।' यह कह कर उन्होंने पांडवों के रथों को लोह-दंड से चूर्ण कर दिया और उन्होंने देश-निकाले की आज्ञा दे दी। रथमर्दन की स्मृति में वहाँ 'रथमर्दनपुर' नामक नया कोट्ट (किला) बनाया गया और श्रीकृष्ण ससैन्य द्वारका चले गये।

पांडवों का पांडुमथुरा नगर बसाना

पाँचों पांडवों ने पांडु राजा के पास जा कर अपने देशनिकाले का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पांडु राजा ने पाँचों पांडवों को बुरा-भला कहा। और, अंत में कुंती से कहा— "श्रीकृष्ण को जाकर समझाओ कि आप अर्धभरत खंड के स्वामी हैं, पांडवों को देश-निकाला दे दिया तो अब बताओ कि वे कहाँ रहें?" कुंती ने सारी बात द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को समझाई। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि बलदेव, वासुदेवादि उत्तम पुरुषों का वचन अन्यथा नहीं हो सकता। अतः उन्हें कह दें कि वैतालिक समुद्र के तट पर नवीन पांडुमथुरा नगर बसाकर रहें। कुंती को भी श्रीकृष्ण ने यह कह आदर सत्कार के साथ विदा कर दिया। कुंती के संक्षेपानुसार पांडवों ने नवीन 'पांडुमथुरा' नगर का निर्माण किया और वहाँ राज्य करते हुए विपुल समृद्धि प्राप्त की। वहाँ द्रौपदी को पुत्ररत्न हुआ। जिसका नाम पांडुसेन रखा गया। उसे बहत्तर कलाएँ सिखाई गईं और योग्य अवस्था प्राप्त होने पर उसे युवराज का पद दे दिया गया।

पांडवों और द्रौपदी की दीक्षा

एक समय धर्मघोष मुनि उस नगर में पधारे। पांडव उनके वंदनार्थ गये और धर्म-श्रवण से उनको वैराग्य हो गया। उन्होंने घर आकर द्रौपदी से दीक्षा माँगी। तब द्रौपदी ने कहा—"हे देवानुप्रियो, जब आपलोग संयम धारण करते हैं तो मैं घर में रह कर क्या करूँगी, मैं भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण कर लूँगी"। इस तरह निश्चय कर पांडुसेन को राज्य देकर उसने भी दीक्षा की अनुमति ले ली। पांडुसेन ने दीक्षा का उत्सव राजसी ढंग से किया। पांडवों ने अपने गुरु के पास दीक्षा ग्रहण कर चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और तप की आराधना करते हुए विचरने लगे।

द्रौपदी ने भी उसी तरह सुव्रता साध्वी जी के पास संयम स्वीकार किया और वहं एक सौ एक अंगों को अध्ययन कर धर्मानुष्ठान में लग गई।

पांडवों का मोक्षगमन

एक बार पाँचों पांडव पांडु-मथुरा नगर के सहस्त्रवन उद्यान से निकल कर अन्यत्र विचर रहे थे। उसी समय श्री अरिष्टनेमि तीर्थंकर भगवान् को सौराष्ट्र देश में विचरते हुए सुन कर गुरु की आज्ञा ले उनके दर्शनार्थ जाने का निश्चय किया। एक मास का तप करते हुए वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे। अंत में हस्तिनापुर नगर पहुँच कर सहस्रवन उद्यान में ठहरे वहाँ युधिष्ठिर मुनि की आज्ञा ले आहार को निकले तो सुना कि श्री नेमिनाथ प्रभु गिरनार पर्वत पर पाँच सौ छत्तीस मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हो गए हैं। गोचरी से आकर उन्होंने वह संवाद युधिष्ठिर मुनि को दिया। अंत में सभी ने यही निश्चय किया कि लिये हुए आहार का परिष्ठापन कर शनैः शत्रुंजय पर्वत पर जाकर हमलोग संलेखना करेंगे। विचारानुसार वे लोग वैसा ही करते हुए बहुत वर्षों तक संयम पालन करके दो मास की संलेखनापूर्वक मोक्ष पधारे। *

* पंडित बेचर दास जी ने 'भगवान् महावीर नी धर्मकथाओं' नाम से ज्ञातासूत्र का सारगर्भित गुजराती अनुवाद किया है उसमें द्रौपदी के चरित्र का पूर्ण विवेचन है। द्रौपदी के पूर्वभव आदि के संबन्ध में भी लिखा है तथा महाभारत में वर्णित द्रौपदी के चरित्र का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। अतः इसके लिए पंडित जी की लिखित टिप्पणी पढ़नी चाहिए।

भगवान् के भेजें हुए हमारें अतिथि

यह बात बच्चों के बारे में कही जा सकती है कि वे भगवान् की ओर स हमें वरदान और प्रसाद के रूप में प्राप्त होते हैं। इसलिए नहीं कि हमारे जीवन में हमारी सहायता करें और बुढ़ापे में हमारी सेवा-शुश्रूषा करें। वरन् भगवान् हमें संतान इसलिए देते हैं कि हम सर्वोत्कृष्ट साधनों से उनका सुखद वातावरण में पालन करें और उनको जीवन के शाश्वत तथ्यों के ज्ञान में प्रतिष्ठित करें। शिशु स्वतः एक स्वतंत्र साध्य है। अपनी प्रयोजनसिद्धि का साधन नहीं और न वह सेवक है जिसे इच्छानुसार बरतें, वरन् वह भगवान् के यहाँ से आया हुआ हमारे घर का अभ्यागत (अतिथि) है। उसके प्रति व्यवहार के लिए हम ईश्वर के सामने सीधे उत्तरदायी हैं।

'भगवान् के भेजे हुए हमारे अतिथि'
ले०—आचार्य श्री फीरोज कावसजी दावर,
'कल्याण', (बालक-अंक); (जनवरी १९५३ ई०)

शेरशाह का चरित्र

डॉ० श्री देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी० एच्० डी०

शेरशाह के जीवन की घटनाएँ ही उसके चरित्र का प्रतिबिम्ब हैं। मनस्वी होने के अतिरिक्त वह अनवरत कार्य में लगा रहता था। वह कहता था कि महापुरुषों को सर्वदा कार्य में लगे रहना ही शोभा देता है। महती पदवी और उच्च स्थान के कारण उन्हें राज्य के काम-धन्धों को तुच्छ और छोटा नहीं समझना चाहिए। वाकियात-ए-मुस्ताकी लिखता है[1]—"वह रात-दिन राज्य-कार्य में लीन रहता था। एक क्षण के लिए भी आलसी नहीं होता था। उषःकाल में उठकर नित्यक्रिया से निवृत्त होकर नमाज पढ़ता था। इसके बाद अपने अधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं को उस दिन की सारी बातें सुनाने के लिए बुलाता। वह चार घंटे तक राज्यकार्य का विवरण या विभिन्न राज्यविभागों की बातें सुनता। उसकी आज्ञाएँ लिख ली जातीं और तदनुसार कार्य किया जाता। जिससे पुनः उनपर विवाद की आवश्यकता न रहे। नमाज का समय आता तो वह नमाज के साथ प्रार्थना करता और सब प्रकार से पूरी नमाज पढ़ता। फिर सरदारों और सिपाहियों से कुशल-क्षेम पूछता और दाग के घोड़ों की जिज्ञासा करता। फिर बाहर जाकर सेना का निरीक्षण करता और सब ठीक हो जाने पर सैनिकों का वेतन स्वयं मौखिक रूपेण निश्चित करता। पुनः विविध वार्ताओं पर ध्यान देता और आय-व्यय की लेखा लेता। सभी स्थानों से प्रार्थनापत्र आते और उनका उत्तर भेजा जाता। वह स्वयं उन्हें फारसी में बोल देता और लेखक[2] (लिपिक) उसे लिख भेजते। जो कोई भी उससे मिलने जाता उन सबसे वह दरबार में मिलता था। उसे इतिहास की पुस्तकों और प्राचीन राजाओं के चरित्र से विशेष प्रेम था। वह विद्वान् और धार्मिकों का संग पसन्द करता था। वह एकाकी भोजन कभी नहीं करता था। सर्वदा उलमाओं (पण्डितों) के साथ खाता था।"

---

१. तुलना करें—अर्थशास्त्र। (१६ अध्याय)
नाडिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत। तत्र पूर्वे दिवसस्याष्टभागे रक्षाविधानमायव्ययौ च शृणुयात्। द्वितीये पौरजानपदानां कर्माणि पश्येत्। तृतीये स्नानभोजनं सेवेत स्वाध्यायं च कुर्वीत। चतुर्थे हिरण्यप्रतिग्रहमध्यक्षांश्च कुर्वीत। पञ्चमे मंत्रिपरिषदा पत्रसंप्रेषणेन मंत्रयेत। चारगुह्यबोधनीयानि च बुद्ध्येत। षष्ठे स्वैरविहारं मंत्रं वा सेवेत। सप्तमे हस्त्यश्वरथायुधान्पश्येत्। अष्टमे सेनापतिसखो विक्रमं चिन्तयेत्। प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषान्पश्येत्। द्वितीये भोजनं ३, ४, ५, ६ शयीत। सप्तमे मंत्रमध्यासीत गूढपुरुषांश्च प्रेषयेत्। अष्टमे स्वस्त्ययनानि प्रतिगृह्णीयात्। १।१६ प्रतिष्ठितेऽहनि (काले) संध्यामुपासीत।

२. तस्मादमात्यसंपदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात्। सोऽव्यग्रमना राज्ञः संदेशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्यात्। २।१०

रायसीना के घेरे के समय प्रमुख सरदारों ने उसे परामर्श दिया कि शियाओं का उन्मूलन कर दें। किन्तु शेरशाह ने कहा कि पहले इस दुष्ट मल्लदेव को तो समाप्त करो। उसने कभी हिन्दुओं से बुरा बर्ताव न किया। क्योंकि राजा की दृष्टि में सारी प्रजा एक समान है। मल्लदेव के प्रति उसका आक्रमण राजनीतिक था, न कि धार्मिक। वह चाहता था कि राजपूतों को भी अपनी शक्ति का मजा चखा दूँ। जिससे कोई भी राजपूत मुगलों को आश्रय न दे जैसा कि मल्लदेव का झुकाव था।

वह सर्वदा अपने में और ईश्वर में भरोसा रखता था। मुगलों के अन्तिम पराजय और पलायन के बाद वह शिविर में लौटा और घोड़े से उतर सर्वशक्तिमान् ईश्वर से प्रार्थना करने के लिए नमाज पढ़ने लगा। गत रात्रि के स्वप्न को विना किसी संकोच के उसने कह डाला।[1] उसने स्वप्न में देखा कि हम और हुमायूँ दोनों ईश्वर के सामने उपस्थित हैं। ईश्वर अपने दरबार में गद्दीपर बैठा है। ईश्वर ने पादशाह (बादशाह) हुमायूँ को आदेश करके कहा कि मैंने राज्य शेरशाह को दे दी है। पुनः ईश्वर ने उसके शिर से मुकुट और राजचिह्न लेकर हुमायूँ के प्रतिद्वन्द्वी मुझ पर रख दिया और न्यायपूर्वक राज्य करने का आदेश दिया।

सैनिक योग्यता[2]

मनस्वी होने के लिए भाग्य, साहस और कार्य करने की अतुल क्षमता होनी चाहिए। सैनिक सफलता के लिए इन सभी गुणों का होना परमावश्यक है। इनके सिवा मनुष्य के हृदय में परख, चेतना तथा स्थिति को समझकर काम करने की चाव होनी भी आवश्यक है। शेरशाह में ये सभी गुण विद्यमान थे। शेरशाह ने अपने पिता की भूमि सँभालते ही किस प्रकार दुष्टों का दमन किया और उद्दंड भूमिपतियों को अपने वश में किया इसका वर्णन किया जा चुका है। जब बंगाल के इब्राहिम खाँ की विशाल सेना, हाथी और तोप देखकर इसकी थोड़ी सेना घबड़ा गई तो इसने अपने पुरुषों को बुलाकर कहा—"मैं अभी तक इन बंगालियों से संमुख लड़ने में संकोच करता था और इसीलिए खाई में आश्रय लिये हुए था जिससे मेरी अल्पसेना विशाल सेना को देखकर साहसहीन न हो जाय। किन्तु अब मेरी दृढ़ धारणा हो गई है कि बंगाली अफगान और भोजपुरियों से लोहा नहीं ले सकते। अब मैं खुले मैदान युद्ध करूँगा क्योंकि विना युद्ध के हम शत्रुओं का विनाश नहीं कर सकते या भगा सकते। यदि ईश्वर ने चाहा तो जब कभी बंगाली और भोजपुरी लोहा लेंगे तो सर्वदा भोजपुरिये हाथ मार ले जायेंगे। बंगाली उनका सामना ही नहीं कर सकते। मेरा

---

१. तुलना करें—अर्थशास्त्र (१४१ अध्याय)
कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत। ५।३

२. स्वयं हि राजा शूरो बलवानरोगः कृतास्त्रो दण्डद्वितीयोऽपि शक्तः प्रभाववन्तं राजानं जेतुं, अल्पोऽपि चास्य दण्डस्तेजसा कृत्यकरो भवति। मंत्रशक्तिः श्रेयसी। विजिगीषुः परग्राममवाप्तुकामः सर्वज्ञदैवतसंयोगख्यापनाभ्यां स्वपक्षमुद्धर्षयेत् परपक्षं चोद्वेजयेत्। १३।१

ार ऐसा ही है। यदि आप मुझसे सहमत हों और ईश्वर की कृपा से अल्पसंख्यक सर्वदा विशाल संख्या के सामने विजयी होते हैं तो कल प्रातः हम शत्रुओं पर धावा बोल दें क्योंकि यदि हम देर करेंगे तो शत्रुओं को शीघ्र ही और सहायता पहुँच जायगी। इस प्रकार उसने अपने सैनिकों की पीठ ठोकी और सिपाहियों ने एक स्वर में उत्तर दिया—'जो आपने निर्धारित किया है वह बिलकुल ठीक है।' जिस चाल[1] से उसने विजय प्राप्त की उसका वर्णन किया जा चुका है।

शेरशाह चौसा और बिल्वग्राम के युद्ध में किस प्रकार हुमायूँ को पछाड़ा उसका वर्णन किया जा चुका है। यद्यपि दोनों युद्धों में प्रायः एक ही चाल चली गई थी किन्तु हुमायूँ ने अनुभव से लाभ न उठाया और जान लेकर भागा।

वह सर्वदा इस बात का ध्यान रखता था कि मेरा एक सैनिक भी व्यर्थ न मारा जाय। इसी कारण वह ऐसा कार्य भी कर बैठता था जिसे हम न्याय की दृष्टि से निन्द्य कह सकते हैं यद्यपि राज्य ग्रहण के लिए कौटिल्य इन बातों को अनुचित नहीं ठहराता। यथा—चुनार का अपहरण, रोहिताश्व पर अधिकार और रायसीना की हत्या। मल्लदेव को जाली पत्र भेजकर पराजित करना राजनीतिक चाल है। वह नहीं चाहता था कि मेरे सिपाही व्यर्थ मारे जायें जबकि चाल से काम बन जाता है। अतः उसके सैनिक उसमें अटूट श्रद्धा और विश्वास रखते थे तो कोई आश्चर्य नहीं। वह बराबर अपने सैनिकों से कहता कि मुगल युद्ध में या एकाकी अफगान की तुलना नहीं कर सकते। अफगानों ने केवल फूट के कारण अपने हाथ से राज्य गवाँ दिया। इस प्रकार वह उनमें जोश भरता था। अनेक विजयों से उन्हें उसकी बातों पर दृढ़ विश्वास हो गया। वह चाहता था कि सभी अफगान मुगलों को भारत से भगाना राष्ट्र का काम समझें। जो अफगान सैनिक बनना स्वीकार नहीं करता वह प्राणदण्ड देता था। इस प्रकार वह सामदामदण्डविभेद सबसे काम लेता था।

दिनभर लम्बी यात्रा तय करने के बाद भी वह सिपाहियों को छावनी की चारों ओर घेरा डाले विना चैन नहीं लेने देता था। सिपाही उसकी आज्ञा का पालन भय से नहीं किन्तु श्रद्धा से करते थे। शेरशाह में अपूर्व साहस, अदम्य उत्साह, त्वरित गति और पेंचीदे शक्तिहीन स्थानों की परीक्षा करने की कला कूट-कूट कर भरी थी। वह सैनिकों को भोजन

---

१. उपजापापसर्पौ च वामनं पर्युपासनम्। अवमर्दश्च पञ्चैते दुर्गलम्भस्य हेतवः ॥१३।४ स्वयमग्नौ जाते समुत्थापिते वा प्रवहणे प्रेक्षानीकदर्शनसंघसौरिककलहेषु नित्ययुद्धश्रान्तबले बहुलयुद्धप्रतिविद्धप्रेतपुरुषे जागरणक्लान्तसुप्तजने दुर्दिने नदीवेगे वा नीहारसंप्लवे वावमृद्गीयात्। स्कन्धावारमुत्सृज्य वा वनगूढः शत्रुं सत्रान्निष्क्रान्तं घातयेत्। मित्रासारमुखव्यञ्जनो मैत्रीं कृत्वा दूतं प्रेषयेत्। इदं ते छिद्रं। इमे दूष्याः। प्रतिपक्षमुभयतः संपीड़नेन घातयेत्। सारबलं वास्य वमयित्वाभिहन्यात्। १३।४ स्कन्धावारस्य परिक्षिप्य दुर्गं खातशालाभ्याम्। १३।४

रणभूमि में कराता था और उनपर कृपादृष्टि रखता था। वह शत्रु के साथ भी सहानुभूति रखता था। कहा जाता है कि जब हुमायूँ की बेगम, चौसा के युद्ध के बाद, कुछ औरतों के साथ शिविर से बाहर निकल उसके सामने विनीत गिर पड़ी तो शेरशाह की आँखों से जल बरसने लगा।

वैयक्तिक अवधानता[1]

शेरशाह नहीं चाहता था कि राज्य का कार्य मंत्रियों के ऊपर छोड़ कर राजा निश्चिन्त हो जाय। "तात्कालिक राजाओं के मंत्रियों की नीचता के कारण ही मैं राज्य अपने हाथ में कर सका हूँ। राजा को कुत्सित मंत्री या वकील न रखना चाहिए। उत्कोच लेने वाला मंत्री सर्वदा उत्कोचदाता के आश्रय में रहता है और पराश्रय में रहनेवाला व्यक्ति कदापि मंत्रिपद के योग्य नहीं। क्योंकि वह स्वार्थी होता है और स्वार्थी पुरुष राज्य की शासन-व्यवस्था कभी भी स्वामिभक्ति और सत्यपरायणता से नहीं चला सकता।" इस प्रकार वह कहता और अपना काम यथासंभव स्वयं करता। यही उसकी सफलता की कुंजी थी।

न्यायप्रियता

शेरशाह न्यायमूर्त्ति था। वह प्रायः कहता—न्याय सर्वोच्च धर्म है इसे हिन्दू, यवन सभी पसन्द करते हैं। वह वादी और प्रतिवादी दोनों की बातें ध्यान से सुनता और सत्य की जड़ तक पहुँचने का यत्न करता। अपराधी उसके प्रिय सम्बन्धी अपने पुत्र ही क्यों न हो, कभी दण्ड[2] से बच नहीं सकते थे। कहा जाता है कि एक बार उसका ज्येष्ठ पुत्र आदिल हाथी पर बैठकर आगरे के सड़क पर जा रहा था। एक घर की टूटी-फूटी खँही में उसने एक वैश्यललना को नग्नस्नान करते देखा। उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसे निहार कर देखने लगा और पान का एक बीड़ा फेंक कर चल पड़ा। उस ललना ने समझा कि मुझे वेश्या समझकर मेरी इस प्रकार अप्रतिष्ठा की गई है अतः उसने प्राणान्त करने का विचार किया। उसके पति ने इस समाचार को सुनकर कठिनता से अपनी स्त्री को ऐसा करने से रोका और सीधा पादशाह के सामने दरबार में पहुँचकर अपनी प्रार्थना न्याय के लिए कर दी। पादशाह ने परिस्थिति की जाँच करके आज्ञा दी कि बदला इसका अवश्य लिया जाय। वैश्य हाथी पर सवार होकर चले और राजकुमार की स्त्री पर स्नान के समय नग्नावस्था में बीड़ा फेंके। सर्वत्र तहलका मच गया। लोगों ने पादशाह को आज्ञा बदलने के

---

१. यश्च तत्कुलीनः प्रत्यादेयमादातुं शक्तः प्रत्यन्ताटवीस्थो वा प्रबाधितुमभिजातस्तस्मै विगुणां भूमिं प्रयच्छेत्। १३।५ अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तानमात्यान्कुर्वीत। गुणप्राधान्यादिति १।८ मंत्रपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वामात्यानुपधाभिः शोधयेत्॥ १।१०

२. देश देयं न पृच्छत्यदेयं देशं पृच्छति....उत्तममस्मै साहसदण्डं कुर्यात्।

लिए बहुत अनुरोध किया, किन्तु सब व्यर्थ। शेरशाह ने कहा—धर्म[1] का यही नियम है। न्याय के सामने राजकुमार और कृषक में कोई अन्तर नहीं। अन्यथा लोग कहेंगे कि अपने पुत्र के कारण राजा ने प्रजा को हानि पहुँचाई जिसकी रक्षा उसका धर्म था। वादी ने प्रसन्न होकर अपना अभियोग लौटा लिया और कहने लगा कि मैं न्याय पा गया। मैं संतुष्ट हूँ। मेरा चरित्रलांछन दूर हो गया। और, उसने प्रार्थना की कि अब यह बात यहीं समाप्त कर दी जाय।

अतः न्याय की दृष्टि में सभी बराबर थे। वह अपराधी को दण्ड देने में कभी विलम्ब नहीं करता था और न उदारता ही दिखाता था—चाहे वे प्रमुख सरदार या अफगान भले ही हों। उसने सर्वत्र न्यायालय स्थापित किया।

आधुनिक प्रशंसक

शेरशाह ने सैनिक और लोक-व्यवस्था के संचालन में अपूर्व योग्यता दिखाई। अथक परिश्रम और राज्य के शासन के लघिष्ठ विवरण पर भी वैयक्तिक अवधानता से अपने पाँच वर्ष के भीतर ही सारे भारत में अमन-चैन स्थापित कर दिया।

—हावेल

उसने केवल अपने बुद्धिबल से राज्य-पद पाया और अपने को महान् पद के इस योग्य सिद्ध भी किया। बुद्धि की कुशाग्रता गाढ़ चिन्ता और अनुभूति तथा सैनिक निपुणता में वह भारत के सभी अफगान शासकों से बढ़ कर था। अकबर के पहले किसी ने भी इसके समान शासन-व्यवस्था और प्रजापालन नहीं किया।

—असंकीन

यद्यपि इसने थोड़े ही दिनों तक राज्य किया और सर्वदा युद्ध-भूमि में व्यस्त रहा तथापि इसने राज्य को उच्चकोटि तक पहुँचा दिया और लोकव्यवस्था में भी अनेक सुधार किये।

—एलफिंसटन

उसने अपने अल्पकाल में एकता स्थापित करने का यत्न किया जिसे वह राष्ट्र की घोर आवश्यकता समझता था। यद्यपि वह कट्टर मुसलमान था। किन्तु कभी किसी हिन्दू प्रजा को न सताया। उसकी उन्नति से प्रजा को भी लाभ हुआ न कि संदोहन, जैसा कि प्रायः भारत में होता था। शरशाह की स्तुति उसके शत्रुओं ने भी उसके और उसके वंशजों के विनाश होने के बाद तक मुक्त कं से की है। **—कीने**

शेरशाह को स्थापत्यकला से भी पूर्ण अभिरुचि थी जैसा सासाराम में उसके मकबरे से ज्ञात होता है। लोक-व्यवस्था और शासन-सुधार में भी वह रुचि रखता था। जो कई अंशों में अलाउद्दीन खिलजी की लोकव्यवस्था पर निर्भर थे और जिन्हें अकबर ने उन्नत

---

१. राजाओं का अपना कोई भी धर्म नहीं होता। प्रजापालन और रक्षण ही राजा का प्रधान धर्म है। सभी मुगल राजाओं और शेरशाह के विषय में यह ठीक जँचता है। राष्ट्रधर्म ही उनका धर्म है। राष्ट्र के लिए वे संधिभंग कर देते हैं तथा अपना वैयक्तिक धर्म भी बदलते हैं।

किया। उसने मुद्रापद्धति को भी सुधारा और अगणित चाँदी के सिक्के चलवाये जो सुन्दर और लने में भी विशिष्ट थे। यदि शेरशाह कुछ और जी जाता तो वंश को स्थिर कर देता और मुगल भारतीय इतिहास के मंचपर पाँव भी न रख पाते।

—स्मिथ

यद्यपि भारत के षोडशशती के पादशाह को अनेक बाधाएँ थीं तथापि उसने हरि-वर्ष के अष्टादशशती के प्रथित्य निरंकुश शासकों की योग्यता, श्रद्धा, और चातुर्य को अपने कार्य में परिणत करके दिखा दिया।

—ईश्वरी प्रसाद

शेरशाह के राज्यकाल से उस उदार-इस्लाम शासन का आरंभ होता है जो औरंगजेब के राज्यकाल तक चलता रहा। भारत में जो कर या मुद्रा-पद्धति चलती रही वह शेरशाह न कि अकबर की देन थी।

—कानूनगो

विधि की विडम्बना

हमारे उपराष्ट्रपति सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, आज से ५० वर्ष पूर्व, यह स्वप्न देखा करते थे कि जीवन में प्रवेश करके वे या तो टिकट-कलक्टर होंगे या पुलिस के दारोगा होकर सफेद घोड़े पर अपने हल्के में गश्त लगायेंगे। पर, इस मनोरम स्वप्न से ऊपर उठकर जब वे कर्म की वास्तविक सतह पर उतरे, तो संसार ही नहीं, वे स्वयं विस्मित हो गये होंगे कि टिकट-कलक्टर या पुलिस-दारोगा के बजाय एक दार्शनिक वहाँ खड़ा है। रेलवे की नौकरी की मधुर कल्पना अकेले सर सर्वपल्ली के जिम्मे ही नहीं पड़ी थी। सर सर्वपल्ली के अतिरिक्त विश्व के कितने ही विशिष्ट पुरुषों ने उस ओर अपनी कल्पना दौड़ाई। रूस के भाग्यविधाता लेनिन, वर्त्तमान चीन के डिक्टेटर, माओ-त्से-तुंग और च्यांग-काई शेक ये तीनों ही रेलवे में गार्ड होना चाहते थे। माओ ने तो गार्ड के पद के लिए प्रार्थना-पत्र भी दिया था। पर, वे न लिए गए। और, ये तीन ही क्यों! भारत के वर्त्तमान रेलवे-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री भी रेलवे में गार्ड होना चाहते थे। हाँ, समय ने उन्हें अन्ततः रेलव-मंत्री बना दिया है। पर, रेलवे के गार्ड होने की उनकी कल्पना ज्यों की त्यों दफ़न रह गई।

'नवनीत', बम्बई, (दिसम्बर १९५२ ई०)।



स्व० सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा



सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी

हिन्दी पत्रकार-कला का पिछला सवा सौ वर्ष का इतिहास अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है। यद्यपि शुष्क विवरणात्मक ढंग पर लेख तथा निबन्ध लिखे गये हैं, तथापि वह अब भी अपेक्षा कर रहा है ऐसे सजीव लेखकों की जो उसकी सूखी हड्डियों में जान डाल सकें, जो उस नाटक को हमारी आँखों के सामने चित्रित कर सकें। हमारे बीसियों पूर्वजों के आत्मत्याग तथा बलिदान की स्फूर्तिप्रद कथाएँ लिखने को पड़ी हुई हैं, जिनमें कई जीवन-चरित्रों तथा पचासों रेखा-चित्रों का मसाला विद्यमान है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी हैं जो भारतीय पत्रकार-कला के इतिहास में स्थान पा सकती हैं। बाबू बालमकुन्द गुप्त को इस आधार पर नौकरी से अलग किया जाना कि वे हिन्दोस्तान में 'गवर्नमेंट के विरुद्ध' कड़े लेख लिखते हैं, बालकृष्ण भट्ट का अपने गरम विचारों के कारण नौकरी से छुटकारा, महावीर प्रसाद द्विवेदी का डेढ़ सौ रुपये की सर्विस छोड़कर बीस रुपये महीने पर 'सरस्वती' का सम्पादन और गणेश शंकर विद्यार्थी का बलिदान इत्यादि घटनाएँ हिन्दी पत्रकार-कला के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जायेंगी। हमारे पथ-प्रदर्शक पूर्वजों ने जिन-जिन कठिनाइयों के बीच कार्य किया उनका वर्णन हमारे लिए उत्साहप्रद तो होगा, साथ ही हम में कृतज्ञता के भाव भी जागरित करेगा। श्राद्ध भारतीय संस्कृति का एक विशेष गुण है और उसकी भावना को जीवित तथा जागरित बनाये रखने की आवश्यकता है।

वैसे हिन्दी पत्रकारों का जीवन प्रायः कष्टमय ही रहा है और अब भी उनकी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो पाया, फिर भी जैसे कष्ट सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त जी को अपने अन्तिम दिनों में भोगने पड़े वैसे शायद ही किसी अन्य हिन्दी पत्रकार को भोगने पड़े हों। वे सचमुच भूखों मर गये! और, उनकी इस दुर्दशामय मृत्यु के लिए आर्यसमाज तथा हिन्दी जगत् समान रूप से दोषी है।

चालीस-पैंतालीस वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा हिन्दी-पत्रों का सम्पादन करने के बाद औषध, पथ्य तथा भोजन के लिए तरस-तरस कर प्राण गँवाना यह अकथनीय दुर्भाग्य था संस्कृत के उस महान् विद्वान्, आर्यसमाज के महोपदेशक तथा शास्त्रार्थकर्त्ता और हिन्दी के उच्चकोटि के लेखक तथा पत्रकार का, जिसका सम्पूर्ण जीवन ही जनता को शिक्षित करने में बीता था! उनका एक रेखाचित्र जीवन के कुछ विवरणों के साथ यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

× × ×

"चौबेजी, मेरी एक अर्जी का आप अँगरेजी में अनुवाद कर दीजिए।" एक दिन सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजी ने घर पर आकर मुझे आज्ञा दी।

बात सन् १९१७ की है। मैं तब इन्दौर के डेली कालेज में हिन्दी अध्यापक था और सम्पादकाचार्यजी भी उन दिनों इन्दौर में ही विराजमान थे। जो प्रार्थनापत्र वे अनुवाद के लिए लाये थे उसे हम ज्यों-का-त्यों उद्धृत करते हैं—

"सेवा में श्रीमन्महोदय प्रधान मंत्री, इन्दौर राज्य।

श्रीमन्मान्यवर महोदय,

बहुमान पुरस्सर निवेदन है कि मैं प्राय: ४० या ४५ वर्ष से हिन्दी-साहित्य की सेवा कर रहा हूँ और इतने अवसर में मैंने ऐसा अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जिससे मैं ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों का सम्पादन भी उत्तमता के साथ कर सकता हूँ, क्योंकि मैं अँगरेजी, बँगला, गुजराती, और संस्कृत-लेखकों का अनुवाद हिन्दी भाषा में कर सकता हूँ।

इससे पूर्व मैं श्री महाराज देवास (छोटी पाँती) की सेवा में था और वहाँ ग्रन्थ-रचना का काम करता था, परन्तु उस Post के Reduction में आ जाने से मुझे देवसा त्यागना पड़ा, यद्यपि उक्त श्रीमन्त देवास नरेश्वर ने मुझे अनुग्रहपूर्वक 'मालवा समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र की सम्पादकता प्रदान की थी, परन्तु उसका वेतन (Pay) इतना थोड़ा था कि मैं उतने में अपने परिवार का पालन नहीं कर सकता था।

देवासदेशाधिपति महाराज की सेवा में आने के पूर्व मैं वृन्दावन के 'प्रेम' नाम के साप्ताहिक पत्र का सम्पादक था।

मैंने अपने जीवन में नीचे लिखे समाचारपत्रों का सफलता से सम्पादन किया है:

इन्द्रप्रस्थ प्रकाश, दिल्ली	१ वर्ष
भारत मित्र, कलकत्ता, साप्ताहिक और दैनिक	१० ,,
आर्य्यावर्त्त, कलकत्ता	१० ,,
हिन्दी बंगवासी	२ ,,
भारतरत्न, पटना	२ ,,
श्री वेंकटेश्वर समाचार, बम्वई	१ ,,
आर्य्यमित्र, आगरा	६ ,,
सत्यवादी, हरद्वार	१ ,,
हितवार्त्ता, कलकत्ता	२ ,,
प्रेम, वृन्दावन	२ ,,
मारवाड़ी, नागपुर	२ ,,

पत्र-सम्पादन के अतिरिक्त मेरे बनाये बहुत-से ग्रन्थ भी प्रचलित हैं, जैसे सांख्य-शास्त्र का हिन्दी अनुवाद।

योगशास्त्र और व्यासभाष्य का हिन्दी अनुवाद

नरसिंह दारोगा (उपन्यास)

मनोरंजनी (नाटक)

स्वर्ग में सवजैक्ट कमेटी (प्रहसन)

स्वर्ग में महासभा (प्रहसन)
ध्यान विधि योग
शिक्षा विज्ञान इत्यादि ।

आजकल में जर्मन जासूस नामक उपन्यास लिख रहा हूँ जिसका नमूना इस प्रार्थना पत्र के साथ लगा हुआ है ।

यदि मेरी साहित्य-सेवा और दशा पर विचार करके श्रीमान् कोई सेवा प्रदान करेंगे तो मैं श्रीमानों का आजन्म कृतज्ञ बना रहूँगा

श्रीमानों का आज्ञानुवर्त्ती सेवक
रुद्रदत्त

सम्पादकाचार्यजी के आदेशानुसार मैंने अँगरेजी में उनकी अर्जी लिखदी। यद्यपि मैं सन् १९१० में उनके दर्शन कर चुका था, जब कि वे आर्य-समाज फीरोजाबाद के उत्सव पर पधारे थे। उनकी सेवा में आर्यमित्र-कार्यालय (आगरा) में भी उपस्थित हुआ था और इसके सिवा अनेक वर्षों से उनकी भाषा-शैली का प्रशंसक भी रहा था। (स्वर्ग में सबजैक्ट कमेटी', 'स्वर्ग में महासभा' और 'कंठी जनेऊ का ब्याह' का पारायण न जाने कितनी बार मैंने किया था!) तथापि उस समय तक मुझे इस बात का पता नहीं था कि हिन्दी पत्रकार-कला के लिए उन्होंने कितनी दीर्घ साधना की है।

आज श्रद्धेय पंडितजी को दयनीय स्थिति में देखकर हृदय को बड़ा धक्का लगा। वन्धुवर द्वारकाप्रसाद जी सेवक से इतना तो मुझे पता लग चुका था कि पाँच रुपये महीने की टयूशन के लिए पंडितजी को तीन मील तुकोगंज आना-जाना पड़ता है।

एक दिन शाम के वक्त में उनके स्थान पर भी पहुँचा। नीचे किसी सुनार की दुकान थी और उनके ऊपर एक छोटी-सी कोठरी में, जिसका किराया डेढ़ रुपये मासिक था, पंडित जी विद्यमान थे और दो पैसे की एक टीन की लेम्प के धुँधले प्रकाश में कुछ लिख रहे थे! उन दिनों पंडितजी को भोजन का भी कष्ट था। चालीस वर्ष की हिन्दी-साहित्य-सेवा के बाद किसी विद्वान् की यह दुर्गति हो सकती है, इसकी कल्पना मैंने स्वप्न में भी नहीं की थी।

पंडितजी की सेवा में मैंने निवेदन किया, "आप हिन्दी पत्रकार कला-सम्बन्धी अपने अनुभव लिख दें। शायद उनसे कुछ मिल जाय।"

पंडितजी ने अनुभव लिखने आरम्भ किये। मुझे आशा थी कि एक हिन्दी-संस्था द्वारा उन्हें कुछ भेंट दिला सकूँगा, पर दुर्भाग्य से उस संस्था के संचालकों ने उसे अस्वीकृत कर दिया! अतएव जो कुछ यत्किंचित् सेवा मुझ से बन पड़ी कर दी। पंडित जी को इन्दौर में कोई काम न मिल सका और वे आगरे लौट आये।

१७ नवम्बर १९१६ को उनका स्वर्गवास हो गया। मुसाफिर (आगरा) ने अपने १७ नवम्बर के अंक में लिखा था—

"हमें पंडित रुद्रदत्तजी को उनकी अन्तिम बीमारी के कयाम में पैसे-पैसे को मोहताज देखकर बड़ा दुख हुआ...पंडितजी मरने के पहले तकरीबन दो-तीन माह बुखार और पेचिश के मर्ज में मुबतला रहे और इस लाजमी बेकारी के अयाम में उनकी आर्थिक दशा यह रही कि हकीम, डाक्टरों की फीस तो दर किनार दवा खरीदने तक के लिये उन्हें पैसा मुअस्सर न था।"

सन् १८७५ से १९१८ तक ४४-४५ वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा सम्पादन-कार्य करने का यह पुरस्कार था। इस दुःखान्त नाटक में सबसे अधिक उल्लेख योग्य पार्ट है एक गरीब कम्पोजीटर का जो अपने पास से आटा खरीद कर उनके घर पर दे आया करता था।

संक्षिप्त विवरण और कुछ अनुभव

पं० रुद्रदत्त जी का जन्म धामपुर जिला बिजनौर में मार्गशीर्ष त्रयोदशी सम्वत् १९११ (सन् १८५४) को हुआ था। उनके पूज्य पिता पं० शशिनाथ जी संस्कृत के महान् विद्वान् और ज्योतिष् के पूर्ण पंडित थे। रुद्रदत्त जी की प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा घर पर ही हुई थी। तत्पश्चात् अपने चाचाजी के साथ वे वृन्दावन मथुरा, और काशी इत्यादि स्थानों में विद्योपार्जन करने चले गए। २१ वर्ष की अवस्था में आप घर लौटे और कुछ दिन अँगरेजी पढ़ी। तत्पश्चात् मुरादाबाद और सहारनपुर में आर्य्य समाज के उपदेशक के पद पर काम किया। फिर उनका पत्र-सम्पादन का कार्य्य प्रारम्भ हुआ, जो आजीवन चलता रहा।

तत्कालीन परिस्थिति

उस युग में सम्पादकों को किन कठोर परिस्थितियों में काम करना पड़ता था, आज हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रीलक्ष्मीकान्तजी भट्ट (स्वर्गीय बालकृष्ण जी भट्ट के सुपुत्र) ने हमें बतलाया था, "जब एक रुपये पाँच आने (हिन्दी प्रदीप का वार्षिक मूल्य) कहीं से आ जाते तो हमारे घर में घी आता था।" पत्र-संचालक प्रायः सेठ-महाजन होते और उनका जो व्यवहार सम्पादक के प्रति होता वह नितान्त असन्तोषजनक और कल्पनाविहीन था और सरकार भी देशी भाषा के पत्रों को शंका की दृष्टि से देखती थी। आर्य्यविनय (सहारनपुर) के अपने सम्पादकीय अनुभवों के विषय में पं० रुद्रदत्तजी ने लिखा था—

"एक समय मुरादाबाद के टाउन हॉल में आर्य्यसमाज की ओर से एक ऐसी सभा हुई कि जिसमें मुरादाबाद के रईसों के अतिरिक्त कलक्टर आदि सम्मिलित हुए थे। इस सभा में आर्य्य समाज की ओर से कोई वेदमंत्र नहीं पढ़ा गया था। इस पर सम्पादक की ओर से समाज पर आक्षेप 'आर्य्यविनय' में प्रकाशित हुआ था। इससे समाज के बहुत-से सभ्य सम्पादक से रुष्ट हो गए, यद्यपि सम्पादक ने 'आर्य्यविनय' के इस मोटो (सिद्धान्त) वचन के अनुसार उक्त आक्षेप किया था 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' अर्थात् शत्रु के भी गुण और अपने गुरु के भी दोष प्रकाशित कर देने चाहिए। 'इस पत्र

का प्रत्येक अंक मुझे डिप्टी कलक्टर साहब को सुनाने जाना पड़ता था। इस प्रकार से कई वर्ष तक मैंने इस मासिक पत्र को चलाया था।"

एक बार पं० रुद्रदत्त जी पर सरकार की ओर से मुकदमा चलने की आशंका हो गई थी, लेकिन हिन्दी के सुप्रसिद्ध सेवक ग्रियर्सन साहब ने, जो उन दिनों पटना के कमिश्नर थे, उनकी रक्षा की थी।

"भारत गवर्मेण्ट जब आफिशियल सीक्रेट ऐक्ट पास करके चला चुकी थी तब मुझे भारतमित्र, बंगवासी और हितवार्त्ता के सम्पादन-कार्य्य से अवकाश मिल गया था और आर्य्यवर्त साप्ताहिक पत्र अपनी समस्त सामग्री के सहित दानापुर चला आया था। एक बार मैं दानापुर से मुजफ्फरपुर और वहाँ से जनकपुर गया था। जनकपुर नैपाल राज्य की सीमा के अन्तर्गत है।

"जनकपुर से दस-बारह कोस आगे तक चला गया। वहाँ एक बाउण्ड्री आउट-पोष्ट के आस-पास कई एक अद्‌भुत बातें देखीं। एक चौकी में लगभग सौ गौरे सोलजर और प्रायः २०० बिहारी चौकीदार और कुली देख पड़े। मैं रात को जागा और मार्ग से थका हुआ था, अतएव विश्राम करना चाहता था; परन्तु थोड़ी ही देर के पश्चात् एक नैपाली सिपाही आया और मुझसे कहने लगा कि आपको सूबेदार साहब बुलाते हैं। मैं उठा, सिपाही के साथ नैपाली सरहद की चौकी में पहुँचा... वहाँ जाकर देखा, एक गौर वर्ण का मोटा-ताजा और तेजस्वी मनुष्य पलंग पर बैठा हुआ है। उस तेजस्वी मनुष्य ने मुझसे नाम, धाम और आने का कारण आदि पूछा... फिर उस मनुष्य ने मुझे पण्डित मान कर ५ रुपये दक्षिणा देकर सरहद तक पहुँचा दिया... खैर इन तमाशों को देखकर मैं दानापुर लौट आया और कल्पित नवन्यास की रीतिपर आर्य्यावर्त्त में एक लेख प्रकाशित किया; इस लेख के प्रकाशित होते ही बड़ा कोलाहल मचा। कलकत्ते के हाईकोर्ट से उस लेख का अँगरेजी अनुवाद हो कर पटने की पुलिस में आया और पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब दानापुर आकर आर्य्यावर्त प्रेस से फायल आदि ले गये। जब सब प्रकार से अभियोग चलने का ठीक-ठाक हो गया तब स्वर्गवासी बाबू रामदीनसिंह जी मुझे साथ लेकर कमिश्नर साहब के पास गये और उनको समझा कर कहा कि यह लेख कुछ नहीं वरन् देवी भागवत में जो प्रह्लाद और नर-नारायण के युद्ध की कथा है उनके आधार पर यह नवन्यास लिखा गया है।... कमिश्नर साहब ने पूर्वोक्त लेख को और उसके अँगरेजी अनुवाद को आद्योपान्त पढ़ कर कहा कि निस्सन्देह यह एक ऐसा नवन्यास है कि जो आजकल की अनेक घटनाओं से मिलता है, परन्तु आप जाइये। सरकार से इस पर अभियोग नहीं चल सकता। क्योंकि आपने मार्कण्डेय पुराण के श्लोकों से अपने लेख को मिला दिया है। इन कमिश्नर साहब का नाम ग्रियर्सन साहब था।"

स्वभाव

पण्डितजी के स्वभाव में विचित्र मनमौजीपन था। श्रीबाबूराम शर्मा रसवैद्य ने अपने एक लेख में लिखा था "दीर्घसूत्रता के साथ पंडितजी का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

पत्र के लिए प्रति सप्ताह ठीक समय पर कापी देना उनके लिए प्रायः असम्भव बात थी इसलिए प्रेस मैनेजर (प्रवन्ध लेखक) से उनकी यदा-कदा कहा-सुनी हो जाया करती थी, परन्तु यह पारस्परिक वाग्युद्ध क्षणस्थायी ही होता था।...

...पंडितजी ने अर्थ-संग्रह को कभी भी अपने जीवन का उद्देश्य नहीं बनाया; जहाँ वे स्वेच्छाओं को पूर्ण करने में निस्संकोच भाव से द्रव्य का व्यय कर डालते थे वहाँ दूसरों को खिलाने-पिलाने में वड़ी उदारता से काम लेते थे और ऐसा करने पर आनन्द का अनुभव करते थे। अपने हाथ से अँगीठी पर विविध प्रकार की खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करके अपने इष्ट मित्रों को खिलाने में अतीव प्रसन्नता हुआ करती थी और इसके साथ या तो शेरख़ानी जारी रहती थी अथवा संस्कृत के कूट श्लोकों का पाठ अथवा कोई धार्मिक, सामाजिक या ऐतिहासिक प्रसंग छिड़ जाता था।...

उनके चित्त में वड़ी दया थी। किसी भूखे-प्यासे को देख कर उसे खिला-पिला देना उनके लिए एक साधारण-सी बात थी। साधारण से साधारण स्थिति के व्यक्तियों के दुःख-दर्द में सम्मिलित होकर उसके प्रतिकार की चेष्टा करना उनका स्वभाव था। ऐसे कोमल हृदय, करुणशील और परोपकारी सज्जन को अपने अन्तिम दिन बड़े ही कष्ट और यातनाओं में व्यतीत करने पड़े इससे अधिक खेद की बात और क्या हो सकती है!

एक प्रस्ताव

आर्य्यसमाज के नेताओं से तथा हिन्दी जगत् के धनीधोरियों से हमारी प्रार्थना है कि यदि वे और कुछ न कर सकें तो स्वर्गीय पं० रुद्रदत्तजी के कुछ निबन्धों को उनके संस्मरणों के साथ पुस्तकाकार में छपा दें। इसमें हजार-बारह सौ का खर्च है।

जिस व्यक्ति ने ४४-४५ वर्ष तक अपनी वाणी तथा लेखनी से हिन्दी संसार और आर्य्यजगत् का इतना हित किया और जिसे अन्त में भूखों मरना पड़ा क्या उसकी स्मृति-रक्षा के लिए हम इतना भी न कर सकेंगे?

नवीन....और....उल्लेख्य

आधुनिक अर्थशास्त्र	ले०–प्रो० श्री केदारनाथ प्रसाद,	आलोचक
सार्वजनिक अर्थ	एम्० ए०	श्री शिवपूजन सहाय
आर्थिक अध्ययन	प्रकाशक–पुस्तक-भंडार	'साहित्य'–संपादक
व्यावसायिक संगठन	पटना : लहेरियासराय	
मु ाशास्त्र और बैंकशास्त्र	मूल्य–क्रमशः दस, पाँच, साढ़े तीन,	
नागरिक और राज्य	छै, छै और आठ रुपये।	

पटना विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र-विभाग के विद्वान् अध्यापक श्री केदारनाथ प्रसाद ने अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र और वाणिज्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाली छै पुस्तकें लिखी हैं, जो आकार, प्रकार और विषय-विवेचन की दृष्टि से काफी आकर्षक प्रतीत होती हैं।

जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा और राजभाषा हुई है तब से उन विशेषज्ञ विद्वानों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ है, जो अपने अधिकृत शास्त्र के पारंगत पण्डित तो हैं ही, अपने भावों और विचारों को हिन्दी की सुबोध शैली में व्यक्त करने में भी समर्थ हैं।

विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में अब हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देना अनिवार्य हो गया है—यद्यपि अहिन्दीभाषा-भाषी अध्यापकों में से बहुतों ने अभी तक हिन्दी की अनिवार्यता स्वीकृत नहीं की है, तथापि हिन्दी जाननेवाले अध्यापक अब यह अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दी के माध्यम से शास्त्रीय विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में उच्च वर्ग के परीक्षार्थियों की सहायता करने के लिए प्रामाणिक पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता है और सम्प्रति उनकी काफी माँग भी है, जो दिन-दिन बढ़ रही है।

इधर बिहार में कई प्रोफेसरों ने मनोविज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, मुद्राशास्त्र आदि विषयों के कुछ ऐसे सुन्दर ग्रन्थ रचे हैं, जिनके प्रकाशन से हिन्दी-माध्यम द्वारा पारिभाषिक विषयों का अध्ययन-अनुशीलन करने में उच्च शिक्षा पानेवालों की कठिनाइयाँ बहुत-कुछ हल होती नजर आती हैं। प्रो० केदारनाथजी उन्हीं ग्रन्थकारों में से एक हैं।

आपकी ये सभी पुस्तकें बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाशित हुई हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र (सैद्धान्तिक पक्ष), सार्वजनिक अर्थ (पब्लिक फिनान्स), आर्थिक अध्ययन (इकनामिक स्टडीज)—ये तीनों पुस्तकें अर्थशास्त्र-सम्बन्धी हैं। इनमें पहली दो सजिल्द हैं, तथा तीसरी अजिल्द। ऐसी भारी-भरकम और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें तैयार करने और प्रकाशित करने में लेखक और प्रकाशक ने जो साहस एवं उत्साह प्रदर्शित किया है वह हिन्दी की आरम्भिक प्रगति का निरीक्षण करते रहनेवालों की दृष्टि से निस्सन्देह अभिनन्दनीय है।

चौथी पुस्तक 'व्यावसायिक संगठन' (बिजिनेस् आर्गनिजेशन) और पाँचवीं पुस्तक 'मुद्रा शास्त्र और बैंक शास्त्र' (मनी एण्ड बैंकिङ्ग)--दोनों ही नेत्ररंजक आवरणों से मंडित हैं। कॉमर्स-कालेजों के अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए ही इनकी विशेष उपयोगिता है ; पर बहुत-सी बातें इनमें जनसाधारण के जानने योग्य भी हैं, जिनसे देश के आर्थिक विकास में सहायता पहुँच सकती है। पारिभाषिक विषय को सुबोध बनाने का प्रयास बहुलांश में सफल हुआ है ; किन्तु जिनके लिए यह विवेच्य विषय अनभ्यस्त है उनको सर्वत्र सुगमता नहीं होगी।

छठी पुस्तक 'नागरिक और राज्य' (द सिटिजन ऐण्ड द स्टेट) है। इस पर भी उपर्युक्त सजिल्द पुस्तकों की भाँति मजबूत जिल्द चढ़ी हुई है। यह 'भारत के गणतांत्रिक संविधान की विशद पृष्ठभूमि में' तैयार की गई है। इसके सत्ताईस अध्यायों में नागरिक शास्त्र के विविध पक्षों एवं सिद्धांतों का विवेचन विस्तार से किया गया है। आधुनिक युग में नागरिकता का ज्ञान प्रत्येक भारतीय के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हो गया है। ऐसी दशा में इस पुस्तक की सर्वोपयोगिता स्वयंसिद्ध है। यद्यपि नागरिक शास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर हिन्दी में कुछ अच्छी पुस्तकें पहले भी प्रकाशित हो चुकी हैं तथापि इस एक ही पुस्तक में उसके मुख्य-मुख्य आधारभूत विषयों का एकत्र ही प्रतिपादन हो जाने से पाठकों के लिए विशेष सुविधा हो गई है।

किन्तु, हिन्दी में शास्त्रीय विषयों की जो भी पुस्तकें प्रकाशित हों उनका सविधि संशोधन-सम्पादन होना आवश्यक है। विषयों के विशेषज्ञ विद्वान् प्रायः भाषा और शैली के मर्मज्ञ नहीं हुआ करते। उनकी तो इतनी ही बड़ाई है कि वे अँगरेजी के अनेक ग्रंथों का मनन-मन्थन करके हिन्दी में अपने भावों और विचारों को व्यक्त कर देते हैं। उसके बाद यह काम प्रकाशक का है कि भाषा की दृष्टि से भी ग्रंथ को प्रामाणिक रूप देने का यथेष्ट प्रयत्न करे। इन पुस्तकों में सहायक ग्रंथों की जो सूची दी गई है उससे स्वाध्यायी लेखक का अनवरत परिश्रम तो लक्षित होता है ; पर यत्र-तत्र अभिव्यक्तियों की शिथिलता और छपाई की भ्रमात्मक भूलों के दिग्दर्शन से प्रकट होता है कि इनकी बाहरी सुन्दरता पर जितना ध्यान दिया गया है उतना भीतरी सफाई पर नहीं। आशा है कि अगले संस्करणों में आन्तरिक स्वच्छता पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जायगा।

हास्य के सिद्धांत और मानस में हास्य
ले०—प्रो० जगदीश पाण्डेय
प्रकाशक—मोतीलाल बनारसी दास; बाँकीपुर, पटना
मूल्य—पौने चार रुपये।

आलोचक
प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा
'साहित्य'—संपादक

पुस्तक के प्रारंभिक अंश में हास्य के मनोविज्ञान पर लेखक ने मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक तरफ आज तक इस विषय पर पूर्वीय और पाश्चात्य विद्वानों ने जो

भी मंतव्य प्रकट किये हैं उनका आलोचनात्मक निरूपण है तो दूसरी तरफ स्वयं लेखक के जो एतद्विषयक सर्वथा मौलिक और नवीन विचार हैं उनका विशद प्रतिपादन है। पुस्तक की भूमिका में विस्तार से उसकी विशेषताओं का विवेचन किया गया है।

रस के रूप में भारतीय आचार्यों ने हास्य का विशद निरूपण और विस्तृत वर्गीकरण किया है। इनके आधार पर हम उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनुमान तो कर सकते हैं; किन्तु यह एक तथ्य है कि हमारे आचार्यों ने हास्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया नहीं है। इस दृष्टि से, प्लेटो से लेकर स्पाइनोजा तक, पाश्चात्य दार्शनिकों ने, सूक्ष्मता के साथ विचार करने का प्रयास किया है, और 'हास्य को गंभीर' बनाया है--जिसका श्रेय आलोच्य पुस्तक के लेखक प्रो० पांडेय को भी उनके कुछ विनोदी मित्रों ने दिया है।

'हास्य के सिद्धान्त और मानस में हास्य' के विद्वान् और चिंतनशील लेखक ने अपने विषय को वहाँ से आगे बढ़ाया है जहाँ तक भारतीय तथा पाश्चात्य विचारक उसे पहुँचा कर छोड़ चुके थे। गंभीर चिंतन से मौलिक परिणामों से समृद्ध पुस्तक में पूर्ववर्त्ती विवेचनों का नूतन मूल्यांकन तो है ही, साथ ही साथ अभिनव सिद्धान्तों की उद्भावना और उनका व्यावहारिक निर्देशन भी है।

पुस्तक विवरण-प्रधान नहीं है, वह सूक्ष्म और गहन मीमांसा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई है। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि लेखक को एक प्रकार की सूत्रवार्त्तिक-शैली अपनानी पड़ी है। इस शैली की नवीनता, जो हिंदी के पाठकों के लिए और विद्वानों के लिए भी---अपरिचित अवश्य सिद्ध होगी, इस बात में है कि इसमें शास्त्रीय अर्थ-गौरव के साथ ही साथ विषयोचित सूक्ष्म विदग्धता भी है। पाण्डेयजी ने विषय का सर्वथा मौलिक निरूपण किया है, इसलिए उन्हें नवीन शब्दों का भी निर्माण करना पड़ा है, जिनसे हिंदी के साहित्यिक शब्द-कोष का परिवर्द्धन हुआ है।

लेखक के शब्दों में ही, पुस्तक के पूर्वार्ध में उसने "हास्य के स्मित;-(Snave) हसित (Ludicony) विहसित—(Humorous), अवहसित (Boistrous) अपहसित (Rough and Tumble) तथा अतिहसित (Antithatical या Metaludicrous) भेदों को विषयधर्म के दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की है।

पुस्तक के उत्तरार्ध 'व्यावहारिक अध्ययन' में तुलसी के मानस में आए हुए 'दुष्ट-वंदना', 'पार्वती-परीक्षा', 'शिव-विवाह', 'नारद–मोह', 'कपटी मुनि', 'धनुष-यज्ञ', 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद', 'कैकेयी-मंथरा', 'केवट' आदि प्रसंगों और पात्रों, तथा भारतेंदु के 'अंधेर-नगरी चौपट राजा' की हास्य की दृष्टि से व्यावहारिक आलोचना है। इन विषयों की आलोचना सर्वथा अभिनव और नितांत मौलिक है। संक्षेप में, मेरा विश्वास है—

'हास्य के सिद्धान्त' अपने विषय में हिंदी के लिए ही नहीं, न केवल अन्य भारतीय भाषाओं के लिए ही, प्रत्युत पाश्चात्य भाषाओं के लिए भी—अतिशय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सिद्ध होगा।

पूर्वार्ध के द्वितीय परिच्छेद का विषय है—'हास्य के शास्त्रीय भेदों का विश्लेषण।' इस संबंध में प्रो० पांडेय का विवेचन उन्हीं के शब्दों में देखिये—

"हास्य के ये छः वर्गीकरण हास के स्वरूप की दृष्टि से किये हैं।

स्मित हास—होठों पर मुस्कान मात्र का परिस्फुटित होना। हास्य के मुकुल का यह पुष्प-प्रभात है।

इसके लिए आश्रय के शील में औदार्य और संयम अपेक्षित हैं। आलम्बन से सम्बन्ध-शिष्टता या मर्यादा की अपेक्षा करता है। वह सबसे अधिक संस्कृत हास्य है। इसलिए व्यंग्य या व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा की प्रधानता रहती है। यह कूटनीतिज्ञों का हास है।

हसित—दृश्य तथा साधारणतः श्रव्य भी। पूरा मुँह नहीं खुलता। हसित में घटना उक्ति या शील के औचित्य का आधार कुछ छूटा तथा कुछ लगा रहता है।

विहसित—में ठठा कर भी हँस सकते हैं तथा मन में भी विहँस सकते हैं। विरोधाभास, ध्रुव्यर्थसाधना, विपरीत भाग्य का व्यंग्य, मूर्खबंधुत्व, सापेक्षाद्वैत, द्विविधा आदि पर हम हँसते नहीं, विहँसते हैं। स्मित यदि संस्कृत है, हसित यदि प्राकृत है तो यह कभी-कभी कर्मा-भावसिक्त करुणा या सजल हास होकर सबसे अधिक मार्मिक हास होता है।

ऐसी परिस्थिति में शील या उक्ति में वैयक्तिक सजीवता आ जाने से नवीनता और मौलिकता का चमत्कार भी रहता है। जब ऐसा विरोधाभास अनायास होता है तो एक सजल मोह पैदा करता है। हास के क्षेत्र की यह सबसे उत्कृष्ट अनुभूति है। इसमें व्यंग्य नहीं, मात्र प्राकृतिक जड़ता नहीं, भावनाओं या विचारों की असंगति या हल्के द्वंद्व से अनुभूति अधिक काव्यात्मक हो जाती है। यह मुक्तक हास है। यह कभी-कभी स्नेहन हास भी हो जाता है।

विरोधाभास—जैसे किसी अध्यापक का विद्यार्थी उनका 'काका' हो तो 'yes Sir' और 'प्रणाम काका' का या प्रणामाशीः सम्बन्ध, प्राकृतिक चाचा और सांस्कृतिक भतीजा का वह भेदाभेद, विहसित हास का उदाहरण होगा।

ध्रुवव्यर्थसाधना—नेत्र-विहीन दर्पण देखता पकड़ा जाए। मजा तो और आ जाए जब अंधा धूपछाँह का चश्मा लगाकर चले,—और सिनेमा देखने वाला कोई छोकड़ा गा दे—

"धूपछाँही रंग है, नाचश्म की तस्वीर का।"

···कोई फोटो खिंचवाने के पहले चुपके से इत्र लगा ले जिसमें मित्रों को याद न पड़े नहीं तो शायद उनकी तस्वीर भी सुगंधित हो जाए तो ऐसा बुद्धिमान् विहँसायेगा।

विपरीत भाग्य का व्यंग्य—बारहसिंगा को जिन सींगों पर नाज था उन्हीं के कारण उसे झाड़ी में फँस जाना पड़ा तथा वधिक के वाण का शिकार होना पड़ा। 'तेलि बोरी पट बाँधि-पुनि, पावक देहु लगाय' का एक ही द्रष्टा विहँस उठेगा।

मूर्खबंधुत्व—जो मूर्ख हमारे सखा, संतान या अनुज-सा दीख पड़े। केवट अर्थ के कीट, पेट की भूख, की बात करता है और खिवाई नहीं लेता। लक्ष्मण के वाण के प्रति उपेक्षा भी दिखाता है।... राम के बड़ी चीज उनके चरणों की धूलि को मानता है— 'अंशों से अंश को ही महान।'... विचित्र अटपटी बातें हैं—प्रेम भी, हठ भी, ज्ञान भी,

अज्ञान भी---घर की भी चिंता, वैकुंठ की भी---ऐसी वाणी पर करुणा-अयन विहँस ही सकते थे।

हास के स्वरूप की दृष्टि से हास्य के षड्विध वर्गीकरण का प्रारंभिक अंश आपने देखा। अब उत्तरार्ध के राम-लक्ष्मण संवाद का व्यावहारिक आलोचनाविषयक यह अंश भी देखें---"कायरों के कोलाहल से लोग अभी घबराये ही हैं और औरतें गाली दे रही हैं कि रौद्र तथा वीर के अवतार परशुराम आ धमकते हैं। कुटिल भृकुटि, रौद्ररक्त नेत्र, हाथ में धनुष, कंधे पर कुठार और संत का वेष।" जब बुद्धि इस असंगति पर हँसती है। (लक्ष्मण आगे चल कर हँसते हैं) तो हृदय, विशेषतः कायरों का हृदय, भय से काँप उठता है।

भाव की इस गत्यात्मक सूक्ष्मता की सहानुभूति गोस्वामी जी की निराली चीज है। परशुराम बाज की तरह आते हैं, कायर 'लवा' की तरह लुका जाते हैं। रामायण की कुछ चौपाइयाँ ऐसी हैं जो शील के किसी स्वरूप की अंतिम अभिव्यक्ति-सी दीखती हैं। परशुराम को देख---

पितु समेत कहि-कहि निज नामा ;
करन लगे सब दण्ड प्रणामा।"
यह है कायरों की हालत।

अब परशुराम हास्य के तथा भाग्य के व्यंग्य के पंजे में पड़ते हैं। कायरों ने डींग हाँकी, शेर से गीदड़ बने। अब इस सिंह की भाग्य-दशा देखिये---

बहुरि बिलोकि विदेहसन, कहहु काह अतिभीर।
पूछत जान अजान जिमि, व्यापेउ कोप शरीर।"

परशुराम सभा पर जताना चाहते हैं कि यदि पहले ही मैं जानता तो न मालूम कितना रक्तपात होता। दर्शकों को आशंका से पूरी तरह भर कर उनके विरोध की रही-सही शक्ति का भी क्षय कर देना चाहते हैं। जान कर अनजान बनना कूट-परिहास का लक्ष्य बनना है। हम द्वेष भर कर विष की हँसी मन ही मन हँसते हैं। तिरस्कार की उँगलियाँ और भी गुदगुदाती हैं क्योंकि पाठक हँसकर मन ही मन, परशुराम को चिढ़ाता है।

रूपान्तर
ले०---श्री राधाकृष्ण
प्रकाशक---किताबघर, पटना: राँची
मूल्य---पाँच रुपये।

आलोचक
प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा
'साहित्य'---संपादक

लेखक को अवश्य यह विश्वास है कि यह अपने उपन्यास के माध्यम से कोई सर्वथा अभिनव जीवन-दर्शन उद्भावित कर रहा है। वह स्व-लिखित आमुख में दार्शनिकों के लहजे में शुरू करता है।

"जीवन में क्या श्रेय है और क्या प्रेय, अथवा दृष्टि-भेद के अनुसार श्रेयस्कर ही प्रेयस्कर है अथवा प्रेयस्कर ही श्रेयस्कर—यह समस्या हमें निरंतर उलझाती रहती है। इसे सुलझाने में हम सोच-सोच कर हारते रहे हैं और हार-हार कर भी सोचते रहे हैं और अन्त में ऐसा लगता है कि जीवन को अविच्छिन्न प्रवाह में न देखने के कारण ही हार-जीत का यह द्वंद्व हमें घेरे हुए है।"

लेखक ने समस्या को, इस प्रकार, प्रस्तुत ही नहीं किया है, बल्कि उसके समाधान का इंगित भी कर दिया है। उपन्यास में समस्या और समस्या के समाधान को कैसे रुपायित किया गया है? यह भी लेखक के शब्दों में ही देखें—

"सौभरि ऋषि ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर भी मंदाकिनी की तरह उपत्यका में उतर आये; 'नान्यत्पश्यति' वाली भूषा—दृष्टि, उन्हें प्राप्त थी, 'नान्यच्छृणोति' वाली भूमा श्रुति उन्हें उपलब्ध थी। और 'नान्यद्विजानाति' वाली भूषा मति पर उनका अधिकार था, किन्तु फिर भी वे भूमि की अल्पता यें स्वेच्छया उतर आये। किन्तु क्या यह उनका पतन है? यह परिवर्त्तन उनका पतन नहीं, प्रेम की उनकी आसक्ति भी नहीं, उनका आत्यंतिक उत्थान है, श्रेय का विलक्षण सुखानुभव है, क्योंकि उनकी दृष्टि में भूषा और भूमि में केवल नाम का अन्तर है, श्रेय और प्रेय में केवल रूप का पार्थक्य है। अतः ध्यानयोगी संन्यासी सौभरि का कर्मयोगी गृहस्थ सौभरि के रूप में यह परिवर्त्तन योगभ्रष्टता का निदर्शन नहीं, 'योगः कर्मसु कौशलम्' का प्रतीक है। अव्यक्त की उपासना क्या व्यक्त की आराधना में निहित नहीं है?"

तो, जैसा कि आमुख में प्रस्तुत किये गए उपन्यास के सारांश से स्पष्ट है, उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं सौभरि ऋषि और उनका परिवर्त्तन या रूपांतर ही है उपन्यास की अधिकारिक 'वस्तु'। लेकिन उपन्यास में राजा मांधाता की दिग्वजय के और उनकी मानसिक, पारिवारिक समस्याओं के वर्णन और विवरण में उपन्यास का प्रायः आधा हिस्सा लग गया है। उपन्यास के प्रकृत विषय से इस भाग का सार्थक सम्बन्ध नहीं है, यह तो आमुख के कथा-संक्षेप से ही सिद्ध हो जाता है।

ऐसी स्थिति में उपन्यास के स्थापत्य की शिथिलता और असंतुलन अनिवार्य हो जाते हैं और पाठक महसूस करता है कि कहानी-लेखक का उपन्यास लेखक के रूप में परिवर्त्तन बहुत सफल नहीं हो पाया है। छोटे पर तस्वीरें बनाने वाले चित्रकार के बहुत बड़े पट को खूबी के साथ सँभालना असुविधाजनक सिद्ध हो तो यह आश्चर्य की बात है भी नहीं। सौभरि ऋषि की रूपान्तर-कथा विस्तृत है। रूपान्तर चाहे जितना भी वांछनीय हो, किन्तु उसकी प्रेरणा और प्रक्रिया छिछली और द्वन्द्वरहित है। यह नहीं कि लेखक ने उदात्तता या द्वन्द्व-योजना का प्रयास नहीं किया हो। दिक्कत यह है कि उदात्तता तत्सम शब्दों की अप्रचलन-जनित गंभीरता पर अवलंबित है और द्वन्द्व आंतरिक न होकर बाह्य चेष्टाओं पर निर्भर है।

'रूपान्तर' के रचयिता ने छद्म पौराणिक वातावरण तथा नामों के प्रयोगों से कौन से उद्देश्य की सिद्धि चाही है, यह समझ सकना कठिन है। इतिहास या पुराण की स्वल्प-

परिचित पृष्ठभूमि को लेकर उपन्यास की रचना करने का जो एकमात्र वस्तुतः महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हो सकता है वह यही है कि अति परिचित वातावरण के कारण उपन्यास में जो अवांतर तत्व प्रमुखता पा जाते हैं उनसे बचे रहना आसान होता है। यदि किसी ऐतिहासिक या पौराणिक उपन्यास में मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता तो केवल उपन्यास की ऐतिहासिकता या पौराणिकता का अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं होता।

प्रस्तुत उपन्यास में प्रवृत्ति और निवृत्ति के सापेक्ष मूल्यांकन के लिए जिन पौराणिक से लगने वाले पात्रों की कल्पना की गई है उनकी पौराणिकता से उपन्यासकार की अभीष्ट सिद्धि में कोई सुविधा नहीं होती। हाँ, यह कठिनाई एक स्थान पर अवश्य होती है कि सिद्धियों को वशीकृत करने वाले सौभरि ऋषि को विवाह के लिए जब सुन्दर और स्वस्थ शरीर की जरूरत पड़ती है तो लेखक यह दिखाने का मोह संवरण नहीं कर सकता कि सिद्धियों के प्रताप से 'कायाकल्प' क्षणमात्र में संपन्न हो जाता है और जरा-जर्जर सौभरि को राजकन्या प्रसन्नतापूर्वक पति के रूप में स्वीकृत कर लेती है। यह एक अच्छी बात है कि लेखक ने कथा की पौराणिकता का लाभ एक बार ही उठाया है और बार-बार अलौकिक तथा चमत्कार पूर्ण घटनाओं की योजना नहीं की है।

साक्षात्कार करना के बदले साक्षात् करना, निषध देश के स्थान पर नैषध देश जैसे प्रयोग तथा 'योगिजनों की सिद्धियाँ क्या केवल इसीलिए हैं कि इन्हें भोगी और लोभी मनुष्यों में बाँटी जायँ' जैसे वाक्य अन्यथा पठनीय उपन्यास के लिए अशोभनीय है।

हाँ, अपरिणत होने पर भी उपन्यास पठनीय इसलिए बन गया है कि वर्णनों में रोचकता है और उत्कंठा जगाये रखने की सामर्थ्य है। रूपांतर, संक्षिप्त में, वैसे उपन्यासों में है जो महान् तो नहीं होते, किन्तु महान् हो सकते थे।

अलका
रच०—सुश्री शांति सिंहल
भारती साहित्य-सदन, दिल्ली
मूल्य—पौने तीन रुपये।

आलोचक
प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा
'साहित्य'—संपादक

'अलका' इस नाम ने और इसके अनुरूप पुस्तक के बहिरंग ने मुझे तत्काल आकृष्ट किया था। कविताएँ भी, जिस शैली की हैं, सभी तो नहीं, पर कुछ, पसंद आई हैं, यों, सामान्य रूप से छायावादियों ने और विशेष रूप से महादेवी जी ने इस शैली की कविता की संभावनाओं को नितांत निःशेष करके छोड़ दिया है, और हिंदी की कवयित्रियों के दुःख के प्रति सहानुभूति रखने के बावजूद, मैं नहीं समझ पाता कि उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की कोई सार्थकता है।

जो भी हो, शांति सिंहल ने दुःख और निराशा की अभिव्यंजना सच्चाई और ईमानदारी के साथ की है और हिंदी के एक प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि की तरह 'दुःख' का व्यावसायिक शोषण अवश्य नहीं किया है।

कवयित्री, शांति सिहल, संग्रह की आरंभिक कविता में ही निवेदन कर देती हैं।

मेरी भूलें अपना लो।
कुछ निधियाँ मुझे मिली थीं,
प्रिय, तुमसे जो अनजाने।
संकोच भरा उर लेकर
आई उनको लौटाने।
अनुरोध यही है मेरा,
फिर अपना इन्हें वना लो।
मेरी भूलें अपना लो।

कवयित्री ने 'आकुल अंतर' से प्रेरित होकर कहा है और अनेक कविताओं में दुहराया है, क्या वतलाऊँ इन नयनों में नीर अधिक या प्यास अधिक है,

नीर भरे ज्यों नभ आँगन में,
उमड़े पावस मेघ सजीले।
और तृषित ज्यों शत-शत युग के
चातक के नव वाल हठीले।
नहीं जानती इन नयनों में नीर अधिक या प्यास अधिक है।
क्या वतलाऊँ इन नयनों में नीर अधिक या प्यास अधिक है।

जिस प्रकार इस छंद में प्रयुक्त दो विशेष 'सजीले' और 'हठीले' महादेवी जी की भाषा का स्मरण दिलाते हैं, उसी प्रकार कवयित्री की निराशा व्यथा और व्याकुलता म व्याप्त मानवीयता की अंतर्धार महादेवी जी के उस जीवन-दर्शन को प्रतिध्वनित करती है, जिसकी पलायन-सी लगने वाली भावना के पीछे न डिग सकने वाला मानव प्रेम है। जैसे,

सैकड़ों पाषाण में से एक तू पाषाण होता।
मैं न होती भावना फिर तू कहाँ भगवान होता?
मोह के लघु दीप में मैं,
वर्त्तिका बन कर जली हूँ,
नव किरण की कोर छूने,
अर्घ्य जल बन कर ढुली हूँ,
मैं न यदि निज को मिटाती दूर क्या व्यवधान होता?
मैं न होती भावना फिर तू कहाँ भगवान होता?

इस प्रकार यदि कवयित्री में निराशा है तो आस्था भी है,

निज दृगों के नीड़ में,
लेते रहे सपना बसेरा,
अब वहाँ पर है विहँसती,
सजगता विश्वास बनकर।

तभी तो कवयित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि,

यदि सत्य नहीं जीवन में कुछ,
तो सपना भी कैसे कह दूँ।
पल में होती है जीत यहाँ,
पल में होती है हार यहाँ।
असफलता और सफलता का
मिलता रहता उपहार यहाँ।
जीवन की मनुहारों को अब
विधि की छलना कैसे कह दूँ।
यदि सत्य नहीं जीवन में कुछ,
तो सपना भी कैसे कह दूँ।

यह ठीक है कि हिन्दी कविता का जो अभ्युदय चाहता है और यह आशा लिये बैठा है कि हिंदी में आये कवयित्री एडिथ सिट्वेल की समानधर्मा महान् कवयित्री उपस्थित हो, उसे अभी और भी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, फिर भी यह संतोष का विषय है कि हिंदी में ऐसी कवयित्रियाँ तो अवश्य हैं जिनसे अधिकाधिक उत्कर्ष की उम्मीद रखी जा सके।

इस काव्य-संग्रह के प्रारंभ में भी एक प्रतिष्ठित कवि का तनिक विस्तृत 'आमुख' है। आमुख के बदले यदि कुछ परिश्रम से कविताएँ संपादित कर दी गई होतीं तो छंद सम्बन्धी ऐसे स्खलन नहीं रह जाते,

पर में बरबस खो बैठी,
उसका लघुकण भी न पाती।
हम में तुममें क्यों अंतर है,
क्या बता सकोगी तुम बाले।

इस कविता की छंद-योजना है; प्रथम चरण, १६ मात्राएँ, द्वितीय, १४ मा ाएँ। किन्तु द्वितीय और चतुर्थ चरणों में क्रमशः १५ और १६ मात्राएँ हैं और दीक्षित श्रवण के लिए यह त्रुटि सहज अधिगम्य है।

मैं समझता हूँ, भूमिका-लेखकों को तारीफ के पुल बाँ ने के पहले चीज को ता ीफ के काबिल बनाने की कोशिश कर लेनी चाहिए।

जहाँ तक कवयित्री का, अपनी कविता के सम्बन्ध में स्वयं अपनी धारणा का प्रश्न है, वह अवांछनीय संतुष्टि से ग्रस्त नहीं है। कवयित्री अपनी अंतिम कविता में अपनी कविता के सम्बन्ध में कहती है,

मैंने गीत कहाँ गाया है?
अपने ही नीरस जीवन में,
मैंने नव उल्लास भरा है:
अपने सूने प्राण-विपिन में,
प्रिय, मैंने मधुमास भरा है।
अपने ही वीणा के उलझे—
तारों को बस सुलझाया है।
मैं` गीत कहाँ गाया है?

'कल्याण', (बालक अंक) आलोचक
सं०—श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार : श्रीरञ्जन सूरिदेव
श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर
मूल्य—साढ़े सात रुपये।

प्रति वर्षारम्भ में 'कल्याण' का एक विशेषांक प्रकाशित हुआ करता है। यों तो 'कल्याण' के पिछले सब विशेषांक उपयोगिता की दृष्टि से पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। फिर भी, इस वर्ष का विशेषांक 'बालक-अंक' अत्यधिक उपयोगी है, यह निःसन्देह है; इसलिए कि इस विशेषांक से बाल-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। इसमें ज्ञानी-भक्त, धर्म पर बलिदान होने वाले, परोपकारी और दयालु बालक-बालिकाओं के चरित्र के अतिरिक्त अवतारों और नेताओं के बाल-चरित्र अतीव सजीव, आकर्षक और मनोरंजक शैली में चित्रित हैं। बच्चों के उद्भव से लेकर अभ्युदय तक की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बातों से यह विशेषांक ज्ञानवर्द्धक और विवेकोत्प्रेरक तो है ही साथ ही बाल-जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी उपस्थित करता है।

'बालक-अंक' का संपादन सुन्दर हुआ है। इसलिए कि विद्वान् संपादकद्वय ने बाल-जीवन के विशेषज्ञ और विषयाधिकारी शताधिक लेखकों का सहयोग प्राप्त करने में अपने को सर्वथा समर्थ प्रमाणित किया है। प्रत्येक लेख उच्चकोटि के हैं। हालाँकि, कविताएँ साधारण कोटि की कही जायँगी। दर्जनों तिरंगे और सैकड़ों एकरंगे ऐतिहासिक, पौराणिक और आधुनिक बहुमूल्य चित्रों से इस विशेषांक की आभ्यन्तर-सज्जा सुललित और नयनाभिराम हो गई है। गीता-प्रेस के मुद्रण के बारे में कुछ कहना शेष ही नहीं रहता। कहना न होगा कि यह आठ सौ पृष्ठों का विशेषांक बाल-साहित्य जगत् के लिए एक नई देन है।

जमीन आलोचक
ले०—श्री शंभुनाथ बलियासे 'मुकुल' श्रीरञ्जन सूरिदेव
प्रकाशक—मुकुलोत्पल प्रकाशन
द्वारा, स्पार्क प्रेस, पटना—३,
मूल्य—डेढ़ रुपये।

एक सौ बत्तीस पृष्ठों के इस नाटक से बिहार के विकासमान साहित्यसेवी 'मुकुल' जी की पूर्व प्रकाशित अन्य कृति की संख्या बहुवचनान्तता को प्राप्त करती है। 'जमीन' में यद्यपि नाटकतत्व की सर्वांगपूर्णता की परिणति का अभाव है, तथापि इसमें जिस समाजगत वैषम्य और कौटिल्य को सरल भाषा में उपस्थित किया गया है वह लेखक के, रह-रह कर वितृष्णा उत्पन्न कर देनेवाली समाज के गलितांग की तिक्त पीड़ा से पूर्ण परिचित होने की ओर संकेत करता है।

कथावस्तु में चित्रित समाज की ध्वस्त होती हुई एक इकाई की गलदश्रु-पंकिल नींव पर इमारत-सी आसमान में सर उठाती हुई दूसरी इकाई का मार्मिक द्वन्द्व सभ्यों को सचमुच करुणा के वातावरण में ले जाकर रमा देता है। ग्रामोद्धार, समाज-सुधार, जातीयता का मूलोच्छेद आदि इस नाटक का साध्य है। पात्रों का परस्परालाप प्रवाहपूर्ण है। नाटक गाँवों में देहातियों के लिए अभिनेय है। मुद्रण निर्दोष है और बहिरावरण रंगीन। कहना न होगा कि पुस्तक युग-युग की न सही, युग की चीज निःसंदेह है।

संकलन

बँगला-साहित्य में आलोचना

प्राचीन और मध्ययुग का बँगला-साहित्य प्राचीनतर संस्कृत-साहित्य के ढाँचे को अपनाकर ही चलता था। संस्कृत-साहित्य केवल बँगला-साहित्य का ही नहीं, दूसरे भारतीय साहित्यों का भी पितृस्थानीय है। संस्कृत-साहित्य के सुविस्तृत भाण्डार में समालोचना की श्रेणी की रचनाओं का अभाव था, ऐसी बात नहीं। भारत के नाट्यशास्त्र से लेकर बहुत से अलंकार-शास्त्र और रस-शास्त्र, वैष्णव कवियों का रस-विश्लेषण आदि को हम समालोचना-साहित्य की प्राचीनतम अभिव्यक्ति मान सकते हैं। यही धारा बहुत कुछ अपनी परम्परा की रक्षा करती हुई वँगला-साहित्य के वैष्णव धर्म-शास्त्रों में बहुत-कुछ अपना ली गई। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में बंगाल के नव जागरण-युग के ऐन पहले नये ढंग के साहित्य और उसके साथ ही नये ढंग की आलोचना का उद्भव हुआ। अव्वल तो साहित्यिक पत्र, जैसे 'संवाद-प्रभाकर' ''विविधार्थ-संग्रह' 'वंग-दर्शन', 'नव-जीवन', 'बालक', 'भारती' आदि पत्रिकाएँ साहित्य-समालोचना के सम्बन्ध में निबन्ध प्रकाशित करने लगीं। कहना होगा कि आधुनिकतम बँगला-समालोचना-साहित्य के प्रधान वाहन मासिक पत्र हैं। जो कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में दूसरी श्रेणी में वह साहित्य आता है जो गवेषणामूलक था, जैसे रामगति न्यायरत्न के बँगला-साहित्य विषयक प्रस्ताव, दीनेशचन्द्र सेन का 'बंगभाषा ओ साहित्य' उस युग के विभिन्न काव्य-संकलनकारी लेखकों की टिप्पणियाँ आदि। शेषोक्त लोगों में राजेन्द्र लाल मित्र, जगबन्धु भद्र आदि के नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। इस धारा के समालोचक अब भी पाये जाते हैं।

बँगला में सामालोचना-साहित्य का प्रथम स्फुरण शायद 'प्रभाकर' सम्पादक ईश्वर गुप्त की आलोचना से हुआ। उन्हीं के सम्पादकत्व में 'प्रभाकर' एक साहित्यिक पत्र के रूप में निर्मित हुआ। बंकिम, दीनबन्धु आदि तरुण लेखक इसी 'प्रभाकर' में ही लिखने का अभ्यास करते रहे। माइकेल मधुसूदन की रचनाओं की उन दिनों काफी आलोचना हुई थी। राजेन्द्र लाल मित्र अपनी पुस्तक 'विविधार्थ-संग्रह' में प्राचीन और समसामयिक साहित्य की आलोचना किया करते थे। पर यथार्थ रूप से समालोचना का सूत्रपात बंकिम के 'वंगदर्शन' से हुआ। बंकिम अँगरेजी साहित्य के परम विद्वान् थे। उन्होंने बँगला में आलोचना के बहुत से प्रयोग किये। एक तरफ तो बंकिम की रचना में नई समालोचना का दिग्दर्शन होता रहा और दूसरी तरफ बंकिम ने नये समालोचकों को उत्पन्न किया। बंकिम में रुचि उच्च कोटि की थी; उनका रस-बोध बहुत गहरा था। सदाचार-संबंधी उनकी धारणा पुष्ट थी। साथ-ही-साथ उनमें कूट-कूट कर देशभक्ति भरी

हुई थी। इसलिए उनकी आलोचना में साहित्य के कूड़ा-करकट पर बड़े जोर से हमला कर दिया गया। उनके सामने सुनीति और कल्याण के आदर्श थे।

इसी युग में समालोचना का दूसरा केन्द्र था 'नवजीवन' और उसके सम्पादक अक्षय सरकार। 'नवजीवन' में तरह-तरह की आलोचनाएँ प्रकाशित होती थीं। चन्द्रनाथ वसु लिखित 'शकुन्तला तत्त्व' में कट्टर हिन्दू दृष्टिकोण से आलोचना करने की धारा का पता मिलता है। इसमें गतानुगतिक तरीके से हिन्दू परम्पराओं का समर्थन दिखाई पड़ता है। अन्त में इसी युग में हमें रवीन्द्रनाथ से साबका पड़ता है। यदि वंकिम की आलोचना-पद्धति को हम गहराई से देखें, तो हम उसे आलोचना-साहित्य का आदर्शवादी युग, बल्कि नीतिवादी आदर्श का युग कह सकते हैं। इसके वाद रसवादी आदर्शवाद का युग आता है। यदि कहा जाय कि रवीन्द्रनाथ इस नये युग के प्रवर्त्तक और नींव डालने वाले थे तो गलती न होगी। रवीन्द्रनाथ का अवलम्बन करके यह धारा एक तरफ प्रियनाथ सेन, मोहित सेन से शुरू होकर प्रमथ चौधरी, अतुल गुप्त आदि लेखकों में अटूट रूप से कायम रही। इनमें से प्रथमोक्त तीन व्यक्ति विशेषकर रवीन्द्रनाथ से पहले युग के ढर्रे के रस-विश्लेषक हैं। दूसरी तरफ 'सबुजपत्र' के युग की समालोचना में प्रमथ चौधरी और अतुल गुप्त की नई शैली के जौहर दिखलाई देते हैं। प्रमथ चौधरी 'सबुजपत्र' के संपादक और कर्णधार थे। उन्होंने बँगला-समालोचना को तीखी रचना-पद्धति, विद्वत्तापूर्ण आलोचना तथा वौद्धिक विश्लेषण प्रदान किया। इस युग के प्रधान आलोचकों में विपिन चन्द्र पाल, हर प्रसाद शास्त्री और पाँचकौड़ी बन्द्योपाध्याय उल्लेखनीय हैं। ये लोग मुख्यतः प्राचीन हिन्दू संस्कृति की दृष्टि को अपनाकर चलते थे। और, रवीन्द्रनाथ के प्रति नाराज थे। इस युग के 'साहित्य' और 'नारायण' पत्रों में इन लोगों की लिखी आलोचनाएँ छपा करती थीं। 'साहित्य' के सम्पादक सुरेश समाजपति और द्विजेन्द्रलाल राय इस युग के साहित्य महारथी थे। ये लोग रवीन्द्रनाथ के कटु-आलोचक थे।

सन् १९२४ में 'कल्लोल' नामक पत्रिका का उदय हुआ और साथ ही साथ मोहित-लाल मजुमदार और सुशील दे जैसे आलोचकों का उदय हुआ। 'शनिवारेर चीठी' में 'साहित्य' की आलोचना-पद्धति किसी न किसी रूप में कायम रखी गई। डॉ० नरेश सेन, रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र आदि पर आलोचनाओं के जरिये से हम देखते हैं कि धीरे-धीरे वस्तुवादी युग की सूचना हो रही है और आदर्शवादी लेखक वस्तुवादी लेखकों पर हमले कर रहे हैं। दूसरे लोग अर्द्ध अन्धकार में रास्ता खोज रहे हैं। हम इससे आगे के तृतीय युग को समालोचना का आधुनिक युग कह सकते हैं? यही आधुनिक युग आलो-चना का समसामयिक युग है। 'काली कलम' और 'कल्लोल' पत्रिकाओं के लेखकगण पीछे की ओर हटकर रसवादी होकर बैठ गए। 'परिचय' गोष्ठी के लेखकों ने उसी रसवादी परम्परा का अनुसरण करके पहले की धारा के साथ सिलसिला कायम रखना चाहा। पर उनकी आलोचना-पद्धति इस पर टिक नहीं सकी और वह वस्तुवाद की ओर बढ़ने लगी। दूसरी तरफ महायुद्ध शुरू हुआ और प्रगतिवादी साहित्य का सूत्रपात हुआ।

'परिचय' को केन्द्र बनाकर एक समधर्मी लेखक-गोष्ठी का आविर्भाव हुआ। विष्णु दे, महेन्द्र राय हीरेन सान्याल, नीरेन्द्रराय आदि लेखक इस नई धारा के नेता बने। इससे यह न समझा जाय की पहले की आलोचना-पद्धतियाँ समाप्त हो गईं; साथ ही साथ वंकिम युग की आलोचना-पद्धति रवीन्द्रनाथ की रसवादी पद्धति, ट्राट्स्कीवादी आलोचना-पद्धति और गाँधीवाद की पुटयुक्त आलोचना जारी है। 'प्रवासी', 'भारतवर्ष' आदि पत्रों में पुरानी लीक किसी न किसी रूप में पीटी जा रही है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि क्रमशः लोग वस्तुवादी पद्धति को ही पसन्द करते हैं।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आलोचना का ऊँट वस्तुवादी करवट बैठ चुका है, पर अभी उसका रास्ता साफ नहीं हुआ है। यद्यपि बँगला का आलोचना-साहित्य बहुत उच्चस्तर का है, फिर भी पाश्चात्य आलोचना-साहित्य की तरह उसे समृद्ध होने में बहुत दिन लगेंगे। यहाँ पर इस बात का भी उल्लेख कर देना चाहिए कि जिस प्रकार वर्त्तमान समय में दुनिया राजनीतिक रूप से दो शिविरों में बँट चुकी है, उसी प्रकार बँगला के आलोचक भी दो शिविरों में बँटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ आलोचक जो अमरीका और इंगलैंड के आलोचकों से अनुप्रेरणा लेते हैं और कुछ आलोचक सोवियत रूस तथा चीनी-साहित्य से अपनी खुराक लिया करते हैं। अवश्य यह कहा जा सकता है कि एक तीसरा गुट भी है जो इलियट को गुरु मानता है और दोनों शिविरों से अलग रहने का दावा करता है। कुछ लोग हैं, जिनको इनमें से किसी श्रेणी में रखना संभव नहीं है, क्योंकि वे विश्वविद्यालय के छात्रों और परीक्षार्थियों के लिए आलोचनाएँ लिखा करते हैं। ये लोग मतवाद की दृष्टि से प्राचीन-पन्थी हैं; इनकी शैली भी इसी प्रकार के अनुरूप पण्डिताऊ है। यदि अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो इनकी आलोचना में कोई विशेषता नहीं है और वह स्कूलों के पाठों की तरह रंगहीन है।

मोटे तौर पर बँगला-साहित्य के जिन आलोचकों के नाम गिनाये गए हैं उनको केवल प्रतिनिधिमात्र समझा जाय। खोजने पर प्रत्येक धारा में कुछ और प्रमुख नाम मिल सकते हैं।

'बँगला-साहित्य में आलोचना'
ले०—श्री गोपाल हाल्दार
'आलोचना,' दिल्ली, (जुलाई १९५२ ई०)

अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख पतंजलि के भाष्य में मिलता है। पतंजलि के अनुसार शब्द थोड़े हैं। अपशब्द बहुत से हैं। भरतमुनि के उल्लेख से भी अपभ्रंश का भाषा रूप में होना पाया जाता है। छठी शताब्दी में तो अपभ्रंश में साहित्य-रचना भी होने लगी थी। इसका परिचय हमें बल्लभी के राजा धरसेन के शिला-लेख से मिलता

है। भामह ने भी काव्य का भाषा और शैली के आधार पर इस प्रकार विभाजन किया है—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥"

इसी शती में होने वाले महाकवि दण्डी ने भी अपभ्रंश का अपने काव्यादर्श में उल्लेख किया है। महाकवि ने लिखा है कि काव्य में अभीरों की भाषा अपभ्रंश कहलाती है और शास्त्र अर्थात् व्याकरण से भी भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रंश कहलाती हैं। इन सबके आधार पर यह कहा जा सकता है कि छठी शती में अपभ्रंश भाषा ने काव्य का रूप ही नहीं धारण किया था वरन् महाकवियों का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। अपभ्रंश उस समय बोलचाल की भाषा थी और भारत के सभी प्रांतों में कुछ परिवर्त्तन के साथ बोली जाती थी।

अपभ्रंश भाषा में रचना निबद्ध करने का अधिकांश श्रेय जैन आचार्यों को दिया जाना चाहिए। यद्यपि महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशी' में अपभ्रंश की कुछ गाथाएँ लिखी हैं। किन्तु, कितने ही विद्वानों के मतानसार अपभ्रंश का यह उद्धरण क्षेपक जान पड़ता है और उसका मिश्रण १०–११ वीं शताब्दी में हुआ बताते हैं। विक्रमोर्वशी के अतिरिक्त सरस्वतीकण्ठाभरण, पिंगलसूत्र, ध्वन्यालोक, वैतालपंचविंशति, शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, प्रबन्धचिन्तामणि आदि रचनाओं में भी अपभ्रंश के कुछ-कुछ अंश मिलते हैं।

अपभ्रंश के प्रथम महाकवि 'स्वयंभू' हुए हैं। यद्यपि इनके भी पूर्व 'चतुर्मुख' आदि कितने ही जैन आचार्य हो चुके हैं, जिन्होंने काफी साहित्य लिखा था, लेकिन अभीतक उपलब्ध साहित्य में स्वयंभू ही प्रथम महाकवि माने जाते हैं। विद्वानों ने इनका समय ८–९ वीं शती निर्धारित किया है।

९वीं शती के प्रारंभ में ही आचार्य देवसेन हुए। इन्होंने अपभ्रंश में 'सावयधम्म-दोहा' लिखा। इसमें बहुत ही सुन्दर एवं भाव पूर्ण दोहे हैं। १० वीं शती में महेश्वर सूरि ने 'संयम मंजरी' एवं पद्मकीर्त्ति ने 'पासणाहपुराण' लिखा।

११वीं शती को अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण का स्वर्ण युग कहा जा सकता है; इस शती में अपभ्रंश के उल्लेखनीय महाकवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं के आधार पर अपभ्रंश-साहित्य में एक नया जीवन उत्पन्न किया।

१२ वीं शती में भी अपभ्रंश के कितने ही कवि हुए। १३वीं शती भी अपभ्रंश साहित्य के निर्माण के लिए उल्लेखनीय युग रहा है। इस शती में आचार्य हेमचन्द्र हुए।

इस प्रकार १४ वीं, १५ वीं, और १६ वीं शती तक इस भाषा में रचनाएँ होती रहीं। और उनका पठन-पाठन भी जारी रहा।

'अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'
लें०—श्री कस्तूरचंद कासलीवाल, एम्०, ए०, शास्त्री
('ज्ञानोदय', काशी, सितम्बर १९५२)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से शीघ्र प्रकाशित होनेवाले चार अमूल्य ग्रन्थ

सार्थवाह

भारतीय संस्कृति के तत्त्ववेत्ता डॉ० मोतीचन्द्र

इस सचित्र पुस्तक में, विद्याव्यसनी लेखक ने प्राचीन काल में विदेशों से व्यापार करने की कौन-सी भारतीय पथ-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसका बहुत रोचक और अध्ययनपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। भारतीय भाषा में यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'साहित्य' के आकार के तीन सौ से अधिक पृष्ठ; इसके अतिरिक्त अनुक्रमणिका और लगभग सौ अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र।

रामावतार शर्मा-निबंधावली

स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

यह पुस्तक विद्वान् लेखक के विभिन्नविषयक अलभ्य और बहुमूल्य निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबंध में ज्ञान की एक नई दिशा का संकेत है, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। ग्रन्थ बड़ा पाण्डित्यपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है। लगभग चार सौ पृष्ठ; लेखक का सचित्र परिचय।

दरियासाहब-ग्रन्थावली

संत-साहित्य-मर्मज्ञ डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

यह 'बिहार के कबीर' सन्त दरियासाहब के धर्म, दर्शन, सिद्धान्त और साहित्य का विवेचनापूर्ण वृहत् ग्रन्थ है। अधीती लेखक ने इसके लिखने के लिए रहस्यवादी कवि कबीर से लेकर अनेक कबीरपंथी सन्तों के धर्म-दर्शन का अनुशीलन किया है। ग्रन्थ शोध, समीक्षा और गवेषणापूर्ण है। अनुमानतः चार सौ पृष्ठ।

भोजपुरी भाषा और साहित्य

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० उदयनारायण तिवारी

इस पुस्तक में भोजपुरी भाषा और उसके साहित्य का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इसके लेखक भाषा-विज्ञान के विद्वानों में से हैं। जनपदीय भाषाओं का हिन्दी के विकास में जो सहयोग है इसका गंभीर अध्ययन इसमें है। हिन्दी भाषा में, अपने विषय पर यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। रायल साइज के चार सौ से अधिक पृष्ठ; साथ में भाषा की ध्वनियों के रेखा-चित्र।

मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन भवन, पटना—३

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

ले०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने हिन्दी के आदि युग का प्रमाणिक इतिहास लिखा है। भाषा और साहित्य के आरम्भिक रूप का अध्ययन करने में यह पुस्तक अपूर्व सहायता देगी। डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) रुपया और अजिल्द का २।।) रुपया है।

यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

स्व० शर्मा जी की यह अलभ्य पुस्तक बड़ी सजधज से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक १६०५ ई० में प्रकाशित होने के बाद बड़ी दुर्लभ हो गई थी। परिषद् ने एक दार्शनिक विद्वान् से पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखवा कर पुस्तक को आधुनिक पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक बनवा दिया है। १६०५ ई० के बाद से आजतक के पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास इसकी भूमिका में दे दिया गया है। दर्शन शास्त्र के स्थायी विद्वानों के लिए यह एक अमूल्य पुस्तक है। डेढ़ सौ पृष्ठों की सुमुद्रित सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) और अजिल्द का का २।।) है।

विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलियाबिहारी लाल वर्मा, एडवोकेट

इस पुस्तक में संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस एक ही पुस्तक को पढ़कर हिन्दी जाननेवाले पाठक भूमण्डल के प्रमुख धर्मों का परिचय पा सकते हैं। इसे लिखने के लिए स्वाध्यायी लेखक ने असंख्य प्रामाणिक पुस्तकों का मनन किया है और उनकी सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी है। सर्व-धर्म-समन्वय और धार्मिक एकता पर लेखक ने विशेष जोर दिया है। और, सप्रमाण दिखलाया है कि सभी धर्मों के तत्त्व एक ही हैं। सौ पृष्ठों की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का दाम १३।।) रुपया और अजिल्द का १२) रुपया है।

हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने बड़ी ही सरस शैली में बिहार के महाकवि बाणभट्ट के समय की संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक वातावरण, मानव समाज की स्थिति आदि का सजीव चित्रण किया है। 'साहित्य' के आकार के लगभग तीन सौ पृष्ठ; अन्त में अनुक्रमणिका; दो तिरंगे और लगभग एक सौ एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र, असली आर्ट पेपर पर छपे हुए; भव्य आवरण; मूल्य—सजिल्द का ६।।) और अजिल्द का ८।।) है।

मन्त्री

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलन-भवन, पटना—३

मुद्रक—मोहन प्रेस, पटना—३ : प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना—३

